UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182902

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80·5 / H66 - Accession No.

Author हिन्दी अनुशीलन, Vol-8

Title Jan. — Dec. 1955

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-अनुशीलन

सम्पादक—हजारीप्रसाद द्विवेदी
सहकारी सम्पादक—ब्रजेश्वर वर्मा

वर्ष ८
अंक १-२
जनवरी-मार्च, अप्रेल-जून १९५५ ई०
प्रकाशन तिथि—२० दिसंबर, १९५५ ई०

भारतीय हिन्दी परिषद्
प्रयाग

वार्षिक ३) विद्यार्थियों से २) एक अंक का १)

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. 'प्रसंग-पारिजात' की प्रामाणिकता	प्रो० बदरीनारायण श्रीवास्तव	१
२. अभिवादन-आशीर्वाद अभिधान	डॉ० विद्याभूषण 'विभु'	६
३. अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास	श्री प्रभुदयाल मीतल	१६
४. मछेरों और मछलियों से संबंधित शब्दावली	श्री अम्बा प्रसाद 'सुमन'	२४
५. हनुमान बाहुक	श्री तारकनाथ अग्रवाल	३१
६. आचार्य हरिसेवक और उनका ग्रन्थ कामरूप चरित्र	श्री गंगाप्रसाद कमठान	३६
७. पाणिनि के संज्ञा-शब्द-निष्पादन सूत्र	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	४०
८. ग्रंथानुसंधान—नागजी नागवंती वार्त्ता	श्री मँवरलाल नाहटा	४६
९. मराठी जन कवि सगनभाऊ की हिंदी लावनियाँ	श्री प्रभाकर माधवे	५८
१०. हिंदी शोध के पच्चीस वर्ष	डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा	६१
११. संपादकीय		७२
१२. 'हिंदी-अनुशीलन', विषय-सूची, वर्ष १ अंक १—वर्ष ७ अंक ४		क—छ

मुद्रक—आजाद प्रेस, प्रयाग

प्रकाशक—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्,
विश्वविद्यालय, प्रयाग

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष ८] जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून १९५५ ई० [अंक १-२

'प्रसंग-पारिजात' की प्रामाणिकता

प्रो० बदरी नारायण श्रीवास्तव, फैजाबाद

'प्रसंग-पारिजात' स्वामी रामानन्द के जीवन-वृत्त पर विस्तृत प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है। इसकी सूचना हिन्दी-संसार को अक्टूबर १९३२ की 'हिन्दुस्तानी' में श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव ने दी थी। श्रीवास्तव जी के अनुसार गोरखपुर के मौनी बाबा ने अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक को इस ग्रन्थ का ज्ञान कराया था और साथ ही उसका अर्थ भी लिखा दिया था। इस समय अयोध्या में इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियाँ उपलब्ध हैं। किन्तु खेद है उनमें से कोई भी प्रति सं० १९९० से अधिक प्राचीन नहीं है। मुझे इस ग्रन्थ की दो प्रकाशित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। एक के टीकाकार हैं पं० भगवद्दास मिश्र जिन्होंने ग्रन्थ के मूल को भी साथ-साथ प्रकाशित किया है और दूसरी के संपादक हैं पं० रामरक्षा त्रिपाठी 'निर्भीक' जिन्होंने मौनी बाबा के आदेश का अनुसरण करते हुए केवल टीका मात्र दी है। टीका की भाषा दोनों ही ग्रन्थों में समान है। इस ग्रन्थ की रचना देशवाड़ी प्राकृत में गण-भाषा के सांकेतिक शब्दों के योग से 'अदणा' छन्द में की गई है। लेखक स्वामी रामानन्द के एक शिष्य चेतनदास कहे जाते हैं। कहा गया है स्वामी जी की वर्षी (ग्रन्थकार के अनुसार सं० १५१६ वि०) के अवसर पर काशी में उपस्थित रामानन्दीयों ने लेखक से स्वामी जी के जीवन के प्रमुख अंशों को चमत्कारपूर्ण शैली में लिखने का अनुरोध किया था। चेतन-दास ने इस वृत्तान्त को सामान्य लोगों से बचाने के लिए जनभाषा का प्रयोग न कर 'गण-भाषा' में ही इसकी रचना की। विस्तृत छान-बीन करने के पूर्व इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार किसी समय यवनों के अत्याचार से त्रस्त हृषीकेश में एक सारस्वत दंपति की तपस्या से प्रसन्न हो कर भगवान् ने १२ वर्ष तक के लिए उनका पुत्र होना स्वीकार किया था। कालान्तर में वे ही दंपति प्रयाग में कान्यकुब्ज दंपति के रूप में अवतरित

हुए और रामानन्द के रूप में स्वयं भगवान् ने उन्हें कृतार्थ किया। ग्रन्थ के अनुसार रामानन्द के पिता का नाम वाजपेयी जी तथा माता का मुखी देवी था। उनकी जन्म-तिथि माघकृष्ण भृगुवार थी। चार वर्ष की अवस्था में उनका अन्नप्राशन तथा कर्णवेध और ८ वीं वर्षगांठ के सत्तरहवें दिन माघ शुक्ल को उपनयन संस्कार संपन्न हुआ। बाल्यावस्था में ही रामायण, मनुस्मृति, भागवतादि को कठस्थ कर लेने के उपरान्त रामानन्द काशी ओंकारेश्वर के पास चले गए। बारह वर्ष की अवस्था में वहाँ रामानन्द का देहावसान हो गया, किन्तु दाक्षिणात्य राघवानन्द ने राम यज्ञ का अनुष्ठान करके उन्हें पुनः प्रकट कर दिया। फिर उन्हीं राघवानन्द से वैष्णवी दीक्षा पाकर रामानन्द पंच गंगा घाट पर रहने लगे।

'प्रसंग पारिजात' के अनुसार रैदास, कबीर, अनन्तानन्द, पद्मतेश्वर, सेना, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, पीपा, भावानन्द और पद्मावती आदि रामानन्द जी के प्रमुख शिष्य थे। इन शिष्यों के सम्बन्ध में अनेक आश्चर्यजनक कथाओं का समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है।

स्वामी जी की दिग्विजय-यात्रा के सम्बन्ध में भी लेखक ने अनेक मनोरंजक कथाओं का समावेश किया है। इस प्रसंग में लेखक ने गांगसैन गढ़, रामेश्वर, विजयनगर, कांची श्रीरंगम, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, चित्रकूट तथा प्रयाग की यात्राओं का पर्याप्त विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। कबीरादि शिष्य इन सभी यात्राओं में स्वामी जी के साथ ही रहे।

चेतनदास के अनुसार स्वामी जी ने माधवाचार्य, पाचरमुनि, विद्यारण्यस्वामी, कृपाशंकर योगी, इब्बनूर, तक्की, गोहिणनाथ, मीमांसक चिपलूणकर तथा विनयमुनि चौरासीवाले को विभिन्न अवसरों पर तत्त्व-ज्ञान दिया था। उनके समकालीन व्यक्तियों में गंगू तथा उसका सेवक ज़फर, क्षीरेश्वर भट्ट, विश्वनाथ पंडित, अयोध्या के राजा हरिसिंह देव का भतीजा गजसिंह, खुसरू, बुक्काराय, निजामुद्दीन औलिया आदि का नाम लेखक ने विशेष रूप से गिनाया है।

स्वामी रामानन्द जी के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं का संकलन किया गया है। उनकी शंख-ध्वनि सुनकर मुर्दों का जी उठना, कलियुग का उनसे दीक्षा-मंत्र प्राप्त करना, राजयक्ष्मा से पीड़ित किसी राजकुमार का उनकी आज्ञा से गंगा जी में कूद पड़ना और पुनः सात दिन बाद स्वस्थ हो कर बाहर आ जाना, हिन्दुओं को सताने वाले मुल्लाओं का अजान देते समय गला बन्द हो जाना आदि जैसी अनेक आश्चर्य कथाएँ स्वामी जी के नाम के साथ जोड़ दी गई हैं।

इस ग्रन्थ के अनुसार हंस और कबूतर के रूप में आए ब्रह्मा और यम से मृत्यु-संकेत पाकर स्वामी जी ने सं० १५१५ वि० मधुमास, शुक्ला, प्रतिपदा को शनिवार के दिन साकेत-धाम की यात्रा के लिए यज्ञकुंड स्थापित कर तारक मंत्रराज का अनुष्ठान कराया और नवमी सोमवार को वे दिव्य-धाम को चले गए। जल का स्पर्श पाकर उनकी चरणपादुका पत्थर ही हो गई। श्रीमठ में उसी की स्थापना की गई।

संक्षेप में इस ग्रन्थ का यही प्रतिपाद्य है।

'प्रसंग-पारिजात' के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उस काल की रचना नहीं है जिस काल की कृति उसे हिन्दी के कुछ विद्वान् मानते आए हैं। ग्रन्थ के तथा-कथित लेखक

चेतनदास के अनुसार इस ग्रन्थ की समाप्ति सं० १५१७ वि० में हुई थी, किन्तु इस ग्रन्थ में अनेक ऐसी घटनाओं का समावेश है जो निश्चित् रूप से इस काल के पश्चात् की ही हैं। साथ ही समकालीन व्यक्तियों के सम्बन्ध में दी गई सूचनाएँ भी प्रायः तर्क-संगत नहीं हैं।

(क) गांधीजी का उल्लेख—इस ग्रन्थ की ६१ वीं अष्टपदी के अनुसार सती सीता (पीपा की पत्नी) ने जब विष्णुकांची के आचारियों द्वारा अपमानित होकर उन्हें शाप दिया कि जुलाहे भक्त कबीर का अपमान करने के कारण यहाँ के वस्त्र उत्पन्न करने के सभी उपकरण नष्ट हो जाएंगे और देश बहुत दरिद्र हो जाएगा, तब विद्यारण्य स्वामी के अनुरोध से स्वामीजी ने इस शाप का समाधान यह कह कर किया कि शाप के प्रभाव से समुद्र के इसी तट पर गोरा वणिक समाज आकर यहाँ के चरखे-करघे के व्यवसाय को नष्ट कर देगा, फिर कबीर की ज्योति वणिक कुल में 'मोहनदास' के नाम से उत्पन्न होकर चरखे का प्रचार करेगी और 'राम नाम' के महत्व को प्रकट करेगी।

(ख) नानक, चैतन्य, तुलसीदास और समर्थ रामदास का उल्लेख—६२ वीं अष्टपदी में विद्यारण्य स्वामी के यह पूछने पर कि भारतवर्ष में जो संकट काल आ रहा है उससे उत्पन्न धर्म-ग्लानि कैसे मिटेगी, रामानन्द जी ने कहा कि पंजाब में जनक, बंगाल में राधा-भक्त गीताचार्य, वाल्मीकि और हनुमान अवतरित होकर भारत की रक्षा करेंगे। टीकाकार के मत से यहाँ क्रमशः नानक, चैतन्य, तुलसीदास और समर्थ रामदास का ही उल्लेख किया गया है। परम्परा से भी टीकाकार का यह मत मान्य है। अतः स्पष्ट है कि सं० १५१७ वि० में लिखित किसी ग्रन्थ का लेखक समर्थ रामदास (सं० १६६५ वि०—१७३८ वि०)[1] चैतन्य (सं० १५४२ वि० जन्म)[2] तुलसीदास (सं० १५८९ वि० जन्म) तथा नानक (जन्म सं० १५२६ वि०)[3] आदि का उल्लेख नहीं ही कर सकता था। ये अंश प्रक्षिप्त भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जिस भाषा तथा छंद में इस ग्रन्थ की रचना हुई है वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। इस भाषा में इस ग्रन्थ को लिखने का तात्पर्य ही यह था कि इसको तब तक छिपाया जाय जब तक इसमें उल्लिखित सभी घटनाएँ सहीन हो जायँ।

(ग) स्वामी रामानन्द तथा कबीर आदि का जीवन-काल—इस ग्रन्थ के अनुसार कबीर का जन्म-काल सं० १३५५ वि० है और अनतानन्द का १३४३ वि०। कबीर के उत्पन्न होने पर स्वामी जी ने अनंतानन्द द्वारा ही 'सुधामुची' बूटी भेजी थी। अतः यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक ही है कि स्वामीजी उस समय तक सिद्ध भक्त हो चुके होंगे। अतः यदि उस समय उनकी आयु ३१ वर्ष (टीकाकार के अनुसार स्वामीजी की जन्म तिथि स० १३२४ वि० थी) को स्वीकार करली जाय तो उनका जीवन-काल पूरे १६१ वर्ष (सं० १३२४ वि०—सं०१५१५ वि०) का ठहरता है, कबीर का जीवन-काल कम-से-कम १६० वर्ष (सं० १५१५ वि० में स्वामीजी के मृत्यु के समय कबीर जीवित थे) और अनन्तानन्द का कम-से-कम १७२ वर्ष तक का ठहरता है। एक तो उपर्युक्त भक्तों का इतना लम्बा जीवन-काल भी मान लेना तर्क-संगत एवं सामान्य अनुभव-सिद्ध नहीं, दूसरे रामानन्द का जन्म-काल सं० १३२४ वि०

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रा० कु० वर्मा, पृ० ७०३
२. वही, पृ० ३०१
३. वही, पृ० ३८५

और कबीर का सं० १३५५ वि० मान लेना किसी भी प्रमाण से पुष्ट नहीं होता। 'अगस्त्य-संहिता' एवं रामानन्द-सम्प्रदाय की मान्यताओं के आधार पर रामानन्द का समय सं० १३५६ वि० से १४६७ वि० तक माना जाता है और कबीर की जन्म तिथि अधिक से अधिक पहले ले जाने पर सं० १४२५ वि०[४] और उनकी मृत्यु तिथि सं० १५०५ वि०[५] में विद्वानों द्वारा विभिन्न-प्रमाणों से सिद्ध की गई है। अतः 'प्रसंग-पारिजात' के लेखक के ये उल्लेख भी तर्क-संगत नहीं प्रतीत होते।

(घ) इस ग्रन्थ में रामानन्द के समकालीन जिन व्यक्तियों अथवा स्थानों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक ऐसे हैं जिनके नाम असाधारण अतः गढ़े हुए से प्रतीत होते हैं। निश्चय ही लेखक ने ये नाम ग्रन्थ को प्राचीन-कृति बनाने के प्रयास में ही गढ़े होंगे। यहाँ कुछ नामों का ही उल्लेख पर्याप्त होगा; मुर्वी, सालवी, कालीखोह की विदुषी, तातियाँ शास्त्री, पैखम, भामूण, कर्मठजी, धर्मणजी, टिघौड़ा (स्थान), पाचर मुनि, झीटा पंडित, चुपन्ना, लिट्ठा, बीनी, विनयमुनि भाऊजो शास्त्री, प० भरूकी, सर्पराज चाकणूर और व्याघ्रराज हाड़ा आदि।

(ङ) प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों में विद्यारण्य स्वामी, वीर बुक्क, भारती तीर्थ और उनके भाई (?), माधवाचार्य, तकी, निजामुद्दीन औलिया, खुसरू, अयोध्या के हरिसिंह राजा का भतीजा गजसिंह, गंगू, जफ़र, गोहिणनाथ, आदि का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है। इनमें से विद्यारण्य स्वामी का जन्म सं० १३२४ वि०[६] माना जाता है। उन्होंने महाराज वीर बुक्क को विजय नगर के सिंहासन पर सं० १३९२ या १३९३ वि० में बैठाया और स्वयं उसके प्रधान मंत्री बने। इस दृष्टि से विद्यारण्य स्वामी रामानन्द के समकालीन तो ठहरते हैं, किन्तु लेखक ने उनके सम्बन्ध में भी कुछ भूलें की हैं। विद्यारण्य स्वामी और माधवाचार्य को दो व्यक्ति समझ लिया गया है जब कि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[७] फिर लेखक ने माधवाचार्य को भारती तीर्थ का अनुज लिखा है। कुछ विद्वानों के अनुसार भारती तीर्थ विद्यारण्य स्वामी का ही नाम था, किन्तु स्वयं विद्यारण्य स्वामी ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीय न्यायमाला' की टीका 'विवरण' में भारती तीर्थ को अपना गुरू लिखा है।[८] गोहिणनाथ गोरखनाथ के शिष्य कहे जाते हैं।[९] गोरखनाथ का समय 'ईसा की दसवीं शताब्दी अथवा अधिक से अधिक ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में अर्थात् विक्रम की ११ वीं शताब्दी में ही कोई समय'[१०] माना जा सकता है। अतः गोहिणनाथ का समय ११ वीं-१२ वीं शताब्दी या अधिक से अधिक १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे स्वामी रामानन्द के समकालीन ही थे—कदाचित् नहीं थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक महापुरुष या महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी का स्वामी रामानन्द के सामने नत मस्तक हो जाना लेखक की कोरी कल्पना प्रतीत होती है। यह अवश्य है कि लेखक ने यथा संभव स्वामी रामानन्द के समकालीन व्यक्तियों का ही उल्लेख किया है। कुछ थोड़े-हेर-फेर के साथ रामानन्द के जीवन की व्यापक

४. उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ७३३
५. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ० बर्थ्वाल पृ० ५७.
६. कल्याण, भाग ११ सं० २ 'अद्वैत संप्रदाय के प्रधान-प्रधान आचार्यों का परिचय' पृ० ६५२-५३
७. वही पृ० ६५३ .८. वही पृ० ६५२. ९-हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ६१
१०. उत्तरी भारत की संत परंपरा पृ० ६०

रूप-रेखा भी प्रायः वही है जो रामानन्द-सम्प्रदाय में मान्य है। कबीर-रैदास के सम्बन्ध में तो लगभग प्रियादास कृत 'भक्त माल की टीका' के समान ही उल्लेख किए गए हैं।

(च) इस ग्रन्थ में स्वामी रामानन्द के सम्बन्ध में अनेक असभव घटनाओं का भी संकलन किया गया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कार्य-कारण सम्बन्ध का बिना कोई विचार किए ही लेखक ने इन घटनाओं की कल्पना कर ली है। समकालीन लेखक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं की सृष्टि करते तो हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं होती। आज भी अवध के संतों की जीवन-गाथाएँ चमत्कारपूर्ण शैली में लिखी जाती हैं।

(६) इस ग्रन्थ की रचना जिस भाषा में हुई है, इतिहास में उसकी कोई परम्परा नहीं मिलती। एक ही उदाहरण इस सम्बन्ध में पर्याप्त होगा :—

नगजी मुजी भासठ पवच, भिगवीछु तैणा वस लवच।
उंसार जे पारहि थवच, किहलेप घाभिण पासवच ॥ १ ॥
पभुवन ववन मचुली सवन, फौसार लिसुनारी लवन।
लमहोत थपुहा चन तवन, दिपरा कुवल सारन फवन ॥ २ ॥

अर्थात् इस पृथ्वी पर न जाने कितने महापुरुष आए और अपना-अपना कर्तव्य दिखा कर चले गए, कोई रहा नहीं। उनकी कीर्ति अवश्य अचल रही। रचना का रहस्य इसी में है। सिद्ध पुरुष तो अपनी महिमा में ही विराजते हैं ॥ १ ॥ गुफा का द्वार खुला हुआ था। मुख्य-मुख्य शिष्यों ने उसमें प्रवेश करके देखा। दैनिक कृत्यों की सब चीजें ज्यों-की-त्यों धरी थीं—चरणपीठ भी थे। केवल शंख और उसके फूँकने वाले भगवान् नहीं थे ॥ २ ॥

जान पड़ता है प्राकृतों का ज्ञान रखने वाले किसी आधुनिक लेखक ने काल्पनिक शब्दों के योग से इसकी रचना की है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक अनुमान है कि यह रचना स्वयं विनायक जी की कृति है। इस अनुमान का सत्य भी इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि महात्मा बालकराम विनायक जी समय-समय पर ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करा दिया करते थे जो किसी-न-किसी प्राचीन लेखक की कृति कहे जाते थे। 'भगवान् रामानन्दाचार्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने किसी 'रसूलेवहदानियत' नामक ग्रन्थ के आधार पर रामानन्द स्वामी के २२ उपदेशों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया था। जो हो, रामानन्द-सम्प्रदाय इस ग्रन्थ को अपने सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानता। व्यक्तिगत अनुभव पर यह कहा जा सकता है कि स्वय प्रकाशक महोदय को भी इस ग्रन्थ की भाषा का कोई विशेष ज्ञान नहीं है और न वे इसके व्याकरण के विषय में ही कुछ संकेत करते हैं। 'एक दिन उनके सामने चेतनदास ने स्वयं प्रकट हो कर यह आदेश दिया कि अब इस ग्रन्थ के प्रकाशन का समय आ गया है' और इस ग्रन्थ का मिश्र जी ने प्रकाशन करा दिया।

'भक्तमाल', 'अगस्त्यसंहिता' तथा वैरागी-संप्रदाय में प्रचलित अन्य ग्रन्थों के आधार पर स्वयं चेतनदास के स्वामी रामानन्द के शिष्य होने में संदेह किया जा सकता है। गांधी जी की ओर किया गया संकेत भी कम सांकेतिक नहीं है। चेतनदास को भविष्य-वाणियों के करने का कुछ 'शौक' सा है। यह असंभव नहीं कि 'प्रसंग-पारिजात' के लेखक चेतनदास रामानन्द सम्प्रदाय के कोई आधुनिक हितैषी ही न हों। खेद यही है कि रामानन्द के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाले हिन्दी के नवीनतम शोध ग्रन्थों में 'प्रसंग-पारिजात' की प्रामाणिकता की विस्तृत समीक्षा किए बिना ही उसकी बहुत सी सूचनाएँ स्वीकार करली गई हैं।

अभिवादन-आशीर्वाद अभिधान

डा० विद्याभूषण 'विभु' एम० ए०, डी० फिल०

भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार सामाजिक जीवन का एक मुख्य अंग माना गया है। शिष्ट प्रयोगों से व्यक्तियों के कुल-शील की भी व्यंजना होती है। अतीत का गौरव, वर्तमान का विकास एवं उत्कर्ष तथा भविष्य के महत्त्वाकुंर देश के शिष्टाचार से ही झलकने लगते हैं। वशीकरण मंत्र के सदृश यह दूसरों के हृदय पर अपना चिरस्थायी प्रभाव डालता है। मन, वचन तथा कर्म इन तीनों साधनों के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का प्रस्फुटन करता है। मन से चिरंतन मनन कर वह साहित्य, दर्शनादि के अमूल्य ग्रन्थों के सृजन में तन्मय रहता है। ललित कलाओं द्वारा वह अपना कर्म-कौशल दिखलाता है तथा अपनी मिष्ट वाणी के शिष्ट प्रयोगों से अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है। संस्कृति, साहित्य एवं शिष्टाचार राष्ट्र की ये तीन विभूतियाँ हैं। शिष्टाचार शील, सौजन्य तथा सदाचार का क्रियात्मक रूप है।

अभिवादन के साथ-साथ प्राचीन प्रथा के अनुसार अभिवादक अपने नाम का उच्चारण भी प्रायः करता था।[1] इस नामोच्चारण से अपरिचित व्यक्ति को उसका कुछ परिचय मिल जाता था। अभिवाद्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए भी नामोच्चारण आवश्यक समझा जाता था। एक अन्य लाभ यह भी था कि यदि अभिवाद्य नेत्रहीन अथवा चक्षुरोगी हुआ तो नाम अभिवादक के पहचानने में सहायक होता था। अभिवादन के साथ नामोच्चारण करने के दो-एक उदाहरण देना असंगत न होगा। **युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवी सुत** (१६ महाभारत अनुशासन पर्व अ० ११८)। यह युधिष्ठिर का अभिवादन भीष्म पितामह के प्रति है। संजय धृतराष्ट्र से इस प्रकार अभिवादन करता है—**संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते** (महाभारत उद्योग पर्व)। अपना नाम ले कर गुह वशिष्ट को प्रणाम करता है—**देखि दूरते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू'॥** (राम चरित मानस अयोध्याकांड) अभिवादन में जैसी विभिन्नता, विचित्रता एतदर्थ रोचकता पाई जाती है, वैसी ही मनोमोहकता, मनोरंजकता बहुरूपता आशीर्वाद में भी परिलक्षित होती है। शिष्टाचार के इन दो रूपों से अभिधान की दो अभिनव धाराएँ निःसृत हुईं—एक अभिवादनात्मक तथा दूसरी आशीर्वादात्मक। अभिवादन, आशीर्वाद तथा अभिधान इन तीनों का समन्वय, स्वरूप एवं सार्थकता प्रदर्शन करना ही इस लेख का लक्ष्य है।

प्रत्येक देश और सम्प्रदाय में अपना-अपना अभिवादन प्रचलित है। अभिवादन-कर्त्ता के अनुकूल ही आशीर्वाद दिया जाता है। छोटा बड़े को अभिवादन करता है और बड़ा छोटे

१. अभिवादात् परम् विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। मनु २-१२२

को आशीर्वाद देता है। आशीर्वाद वस्तुतः अभिवादन का ही फल बतलाया जाता है। मनु ने लिखा है कि अभिवादन से आयु, विद्या, यश तथा बल बढ़ते हैं।[२] इस प्रकार इन दोनों में नित्य सम्बन्ध सा रहता है। किन्तु सभवयस्क अथवा अधिकारी वर्ग को अभिवादन करने में आशीर्वाद के स्थान में अभिवादात्मक शब्द को ही प्रायः पुनरावृत्ति की जाती है। देश भक्ति सम्बन्धी तथा कुछ अन्य अभिवादनों में भी नित्य-सम्बन्धी नियम का पालन नहीं किया जाता। अभिवादन में श्रद्धा-भक्ति है, तो आशीर्वाद में मंगल-कामना।

अभिवादन—अभिवादन का अर्थ है प्रणाम, नमस्कारादि जो किसी व्यक्ति के प्रति आदर-सत्कार, मान्यता, श्रद्धा-भक्ति आदि भाव प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ व्यक्ति ही वंदनीय माने गए हैं। ज्येष्ठता में वय, पद तथा बधुत्व का विचार रहता है और सम्पत्ति, लोकसग्रही कार्य तथा विद्यादि गुणों से श्रेष्ठत्व प्रकट होता है। धन, सम्बन्ध, आयु, कर्म तथा विद्या उत्तरोत्तर क्रमशः एक दूसरे से विशेष महत्त्व के समझे जाते है। आचार शास्त्रियों के निर्देशानुसार अभिवादन के मुख्य चार अंग प्रतीत होते हैं (क) हाथ जोड़ना, सिर झुकाना, चरण छूना आदि उपचार (ख) अभिवादन (ग) अभिवाद्य का नाम, पद या पदवी (घ) अभिवादक का नाम। इन चारों के प्रयोग बिना अभिवादन पूर्ण, समुचित एवं श्रेष्ठ नहीं समझा जाता। भिन्न-भिन्न देशो में भिन्न-भिन्न अभिवादन पद्धतियाँ प्रचलित हैं। जंगली जातियों के ढंग बड़े अनूठे तथा विनोदपूर्ण होते हैं। अपनी-अपनी पूरी जीभ मुँह से निकाले हुए दो जंगली मनुष्यों को अभिवादन करते देख कर सहसा किसकी बत्तीसी न फूट निकलेगी? फिरंगियों में अभिवादन करते समय पाणि-ग्रहण-हस्त-मिलाप होता है। मुसलमानों में कटि के भिन्न-भिन्न कोण बनाकर तथा हाथों की द्रुत-विलंबित गति से ललाट तक ले जाकर प्रत्यावर्तन करते हैं।

हिन्दुओं में भी अभिवादन की अनेक रीतियाँ पाई जाती हैं—(१) प्रत्युत्थान-प्रद्धति में आसन से खड़े होकर अभिवादन किया जाता है, (२) पादोपसंग्रह में चरण स्पर्श करते हैं, (३) दंड के सदृश भूमि पर सीधे लेट कर दंडवत किया जाता है, (४) पृथ्वी को अपने शरीर के अष्ट गों से स्पर्श करते हुए साष्टाग प्रणाम करते हैं। साधारणतः एक हाथ से अथवा दोनों हाथों को जोड़ कर ईषन्नत मस्तक को स्पर्श करते हुए अभिवन्दना करते हैं। बालचरों तथा सैनिकों के अभिवादन का अपना अपना निराला ढंग होता है। अभिवादन में विलक्षण प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। शिव के भक्त जय शंकर, जय शिवादि का प्रयोग करते हैं; वैष्णव जय नारायण, जय भगवान और राम कृष्ण के उपासक जयराम, जय कृष्णादि। ब्रज की गलियों में कृष्ण के अनेक पर्याय अभिवादन रूप में श्रुति-गोचर होते हैं।

सामान्यतः अभिवादन को निम्नलिखित कोटियों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) **दिव्याभिवादन**—ये बहुधा राम, कृष्ण, विष्णु, शिवादि इष्ट देवों के नामों में जय, हरे, नमः आदि शब्द पहले संयुक्त कर बना लिए जाते हैं, यथा, *जयराम, हरे कृष्ण, नमो नारायण, जय शंकर* आदि। राम के नाम की आवृत्ति से भी अभिवादन लिया

२. अभिवादन शीलस्य नित्यंवृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥ मनु २।१२१।

जाता है। देवी-देवों के युग्म नाम भी अभिवादन में प्रयुक्त होते हैं, यथा *सीताराम, राधाकृष्णादि* *'जय गणेश'* तथा' *जय सूर्य*, सम्भवतः गणपति तथा भास्कर देव की आरती के प्रतीक स्वरूप हैं। जैनियों में *'जय जिनेंद्र'* और सिक्खों में *'सत सरी अकाल'* **तथा** *'सत नाम'* अभिवादन के रूप में व्यवहृत होते हैं। नदियों के तट पर *जय गंगे, जय नर्वदे, जय जमुना मैया* आदि जयकार ध्वनियाँ श्रवणों को पवित्र करती हैं। भक्त अपने इष्ट देव का नाम अभिवादन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इससे अभिवादन के साथ साथ अपने उपास्य देव का नाम भी स्मरण होता रहता है। बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमानों में दिव्याभिवादन का प्रयोग नहीं देखा जाता। कोई अनन्य भक्त अपने इष्ट देव का नाम बार बार सुनाने के लिए बड़ी अनोखी चाल चलता है। वह अपने इष्ट देव के नाम से चिढ़ना प्रारम्भ कर देता है जिससे मनुष्य उसे चिढ़ाने के लिए उस नाम को बारंबार दुहराते हैं। रवींद्र बाबू का शोभाराम दरबान इसी श्रेणी का व्यक्ति है जो राधाकृष्ण के नाम से चिढ़ता है। बच्चे उसके पास जाकर कान में जल्दी जल्दी 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण' चिल्ला कर झट भाग जाते हैं।

(२) दूसरा मांगलिक अभिवादन वह है जिसमें अभिवाद्य के निमित्त कल्याण-कामना सन्निविष्ट रहती है। मुसलिम अभिवादनों में प्रायः यही भावना सर्वोपरि पाई जाती है। *सलाम* **अलेकुम** (तुमको शांति हो) **और** उसका उत्तर *वलेकुम सलाम* (तुमको भी वही शांति या रक्षा मिले) दोनों आशीर्वादात्मक हैं। साधारणतः इन दोनों के स्थान में अरबी का सलाम अधिक प्रचलित है। ईसाइयों के सब अभिवादन आशीर्मूलक ही होते हैं। *गुड मार्निंग* (सुप्रभात), *गुड इवनिंग* (शुभ संध्या), *गुड डे* (मंगल-दिवस), *गुड नाइट* (सुखदा शर्वरी) तथा *गुड-बाई* (शिवास्ते पंथानः), इन अँग्रेजी अभिवादनों में अभिवादक और अभिवाद्य दोनों एक दूसरे के कुशल क्षेम के इच्छुक होते हैं। इनमें वस्तुतः अभिवादन तथा आशीर्वाद दोनों ही सम्पृक्त रहते हैं। अंतिम दो अभिवादन एक दूसरे से विदा होते समय ही बोले जाते हैं। सिक्खों के *वाह गुरु की फतह, वाह गुरु का खालसा* में भी विजय की मंगल घोषणा ही कार्य कर रही है। राजा महाराजाओं के लिये *जय देव, जय महाराज, जय जीवादि* का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द वस्तुतः आशीर्वादात्मक ही हैं। *जय जीव* से तात्पर्य है जयी हो और जीवित रहो।

(३) **वैनायिकी अभिवादन**—यह केवल अभिवादक के विनयावनत नम्र स्वभाव का द्योतक होता है। *नमस्कार, प्रणाम, नमस्ते, पालागन, अभिवादन, साष्टांग प्रणाम,* **दंडवत** आदि शिष्टाचार के अनेक शब्द इसके अन्तर्गत आते हैं। दंडवत तथा साष्टांग प्रणाम जैसे महिमा सूचक अभिवादनों का प्रचलन प्रायः उठ सा गया है। ब्राह्मणों में पारस्परिक अभिवादन नमस्कार है तथा अन्य लोग उनसे प्रायः पालागन करते हैं। वृद्ध स्त्रियों की बहुएँ पायलागन ही करती हैं। नमस्ते से रुचि न रखने वाले कुछ शिक्षित व्यक्तियों में भी नमस्कार ही व्यवहृत होता है। चिट्ठी-पत्रियों में प्रणाम, नमस्ते, नमस्कार आदि का प्रयोग पाया जाता है।

नमस्कार, नमोनमः नमस्ते आदि अभिवादनों में नमः शब्द विशेष महत्त्व का है। साम्प्रदायिक गुरु-मंत्रों तथा स्तोत्रों में भी नमः का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। अतः इसके अर्थों पर भी कुछ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। अमर कोष में 'नमौ न तौ' से

नमस् अव्यय की व्युत्पत्ति मानी गई है जिसका प्रयोग किसी के आगे नमन होने के अर्थ में किया जाता है। यास्काचार्य ने निघंटु में नमस्यति का अर्थ परिचरित अर्थात् सेवा या सत्कार करना किया है। सिद्धांतकौमुदी के निर्वचनानुसार 'णम्' धातु सत्कार के अर्थ में आता है। तत्त्व बोधनी की टिप्पणी में पं० शिवदत्त ने नमस् की विवेचना इस प्रकार की है : *अपकृष्टत्व ज्ञानबोधनानुकूलो व्यापारो नमः पदार्थः*। इसका भाव यह है कि अभिवादक अपने को छोटा मानकर किसी व्यक्ति के सम्मुख सत्कार-व्यापार करने को नत मस्तक होता है वही नमः है। आप्टे के संस्कृत कोष में नमः के अर्थ प्रणाम, उपहार, भेंट, त्याग, यज्ञादि हैं। इस प्रकार नमः सेवा, सत्कार, प्रणाम, पूजा, उपहार, त्याग, स्तुति, अन्न, यज्ञादि अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। परन्तु अभिवादन में यह अभिवाद्य के प्रति आदर-सत्कार तथा अभिवादक के लिये आशीर्वाद ही व्यंजित करता है। नमः के योग से बनने के कारण नमस्ते की महत्ता भी अत्यधिक हो जाती है। यह भावपूर्ण तथा सार्थक अभिवादन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, गीतादि समस्त संस्कृत वाङ्मय में व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है। छोटे-बड़े, राजा-रंक, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष सब कोई इसका प्रयोग निःसकोच भाव से करते आए हैं।[३] गुरु ग्रंथ साहब में *हरए नमस्ते, हरए नमः* में स्पष्ट रूप से नमस्ते का उल्लेख मिलता है। गुरु गोविंद सिंह के इन शब्दों—*नमस्तं अजाते, नमस्त अपाते। नमस्तं अजनवे : नमस्तं अमृजवे* में नमस्तं का आशय स्पष्ट है। आर्य समाज के प्रचार से न केवल सभा-समितियों, दफ्तरों, कार्यालयों, सिनेमा गृहों आदि में ही अपितु घर घर नमस्ते ही नमस्ते सुनाई देता है। कभी-कभी परिहास में शत्रु से अभिवादन करते समय नमस्ते का अर्थ "तेरे लिए वज्र है" समझा जाता है क्योंकि नमः का एक अर्थ वज्र भी होता है। विशेष महत्त्व के कारण ही नेपाल राज्य में इसे राष्ट्र-अभिवादन के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। प्राचीन, भावपूर्ण, सार्थक एवं सुगम होने के कारण भारतवर्ष में इसकी लोक-प्रियता-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। मुसलमानी अभिवादन *बंदगी, अदाब अर्ज* (आदर, मान्यता, प्रतिष्ठा निवेदन है) तथा *तसलीमात अर्ज* (मान्यतादि स्वीकृत हैं) में भी यही भावना पाई जाती है।

बौद्ध भिक्षुओं में प्रणाम के उत्तर में *सुखी होतु* (सुखी रहो) आशीर्वाद दिया जाता है। विदा होते समय अभिवादक भिक्षु प्रणाम के अंत में *द्वारत्तयेन कतं सब्बं अपराध खमथ मे भंते* अर्थात् 'भद्र यदि मन, वचन और शरीर—इन तीनों द्वारा से मुझसे कोई

---

३. नमस्ते राजन्। (अथर्व० २।१०।२)
नमस्ते अग्न ओजस। (साम०)
साहोवाच-नमस्ते याज्ञवल्क्याय। (शत० १४।८।५)
जनकोह वैदेहः कुर्याद्पापमर्पन्नवाच नमस्ते ऽस्तु। (बृह. उप० अ० ४।२।१)
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेयेणाम्ब वत्सुषा। १७ (रामा० बाल० स० ५२)
भगवति नमस्ते (उत्तर रामचरित)
नमस्ते सकलात्मने २८ (शिव पु० विद्येश्व० अ० १०)
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु। (कठ० व०क० ९)

अपराध हुआ तो क्षमा करें' भी कहता है। इसके उत्तर में अभिवाद्य आशीर्वाद देता है *खमामि आवुसो* (आयुष्मान क्षमा करता हूँ)।

(४) **आंदोलन-सम्बंधी-अभिवादन** समय-समय पर देश में नाना प्रकार के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलन होते रहे हैं। इनके वातावरण में भाँति-भाँति के जय घोषों का जन्म होता रहा है। इनमें से कुछ जय घोष कालांतर में अभिवादन-पद पर असीन हो जाते हैं। देश-भक्ति सम्बंधी अधिकांश अभिवादन प्रायः इसी प्रकार उद्भूत होते हैं। सुभाष चंद्र बोस द्वारा संगठित 'आज़ाद हिन्द फ़ौज' का जय घोष 'जय हिन्द' था जो आगे चलकर अभिवादन में परिणत हो गया। 'बंदेमातरम्' अभिवादन का मूल बंकिम बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनंद मठ' का लोक प्रिय गान 'बंदे मातरम्' है जो स्वतंत्रता आन्दोलन के शैशव काल में लिखा गया था। बंगालियों के *जय मा दुग्गे* (दुर्गे) तथा *जय मा काली*, सिक्खों का *सत सिरी अकाल* आदि अनेक प्रकार के जय घोषात्मक अभिवादन प्रचलित हैं। जय युक्त अभिवादन वस्तुतः जय नाद ही रहे होंगे जिन्हें आन्दोलकों का दल प्रारंभ में सामूहिक रूप में उद्घोषित करता रहा होगा।

(५) **अर्थ मूलक या साभिप्राय अभिवादन**—इसके मूल में अभिवादक का अपना कोई प्रयोजन या स्वार्थ सन्निहित रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रारंभ किसी संकट काल में हुआ होगा, क्योंकि इसमें अभिवाद्य से सहायतार्थ याचना या अभ्यर्थना की जाती है। प्रथम चार प्रकार के अभिवादनों में अभिवादक की अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती जिसकी पूर्ति के लिए वह अभिवाद्य से आशा करे। परंतु अर्थ मूलक अभिवादन सोद्देश्य होता है। *जुहार* इसी प्रकार का अभिवादन है जो क्षत्रियों में अधिक प्रचलित है। इसका मूलोद्गम अब ! हार है जो 'आप से सहायता चाहता हूँ, आप से सहाय के लिए गुहार (पुकार) करता हूँ अथवा आपकी दुहाई है, मुझ शरणापन्न की सहाय कीजिए' आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी प्रांतों के गांवों में कुछ निम्न स्तर की जातियाँ ठाकुरों के लिए जुहार का प्रयोग करती हैं। जैनियों में भी विशेषतः बुंदेल खंड में जुहार का प्रचुर प्रचार पाया जाता है। एक जैनी मित्र ने मुझे इसका महात्म्य इस प्रकार बतलाया :—

जुगादि वृषभो देवो। हारकः सर्व संकटान्।
रक्षकः सर्व जीवानाम्। तस्मांज्जुहारमुच्यते॥

इस छंद की प्रथम तीन पंक्तियों के आदि अक्षरों के मिलाने से जुहार शब्द तो बन जाता है परंतु संस्कृत का दिवाला हो जाता है। यदि जुग शब्द का तत्सम युग रखा जाय तो जुहार का अंग-भंग हो जाता है। यह एक प्राकृत पद्य का रूपांतर प्रतीत होता है। कुछ भी हो जैन धर्म के अनुयायी इसकी प्राचीनता में विश्वास करते हैं। वे जुहार को आदि मानव ब्रह्मा के पुत्र ऋषभ देव का समकालीन मानते हैं। तुलसीदास ने निषादों से आपस में जुहार ही कहलाया है।[४] अपना पूरा परिचय देते हुए गुह भरत को जुहार करता है :—

---

४. चले निषाद जुहारि जुहारी।
गुहरावतहिं जुहारहिं जाई। (राम चरित मानस अयोध्या कांड)

गाँव जाति गुह नाम सुनाई। कीन्ह जुहार माथ महि लाई॥

रत्नाकर कवि ने ज्योति-पुष्कर की कल्पना करते हुए जुहार के जन्म स्थान की ओर कुछ केत किया है :—

करत जुहार चारु चहकि उचाह ग्रीव, चाय भरे चपल बिहङ्ग फिरैं फरके।
आयौ देत दिवस बधायौ बर हेम हंस, मोती मंजु चुनत सुजोती पुसकर के॥
—रत्नाकर

कदाचित् प्राकृत काल के समरांगण राजस्थान की उत्पीड़ित, संत्रस्त एवं रण प्रिय जातियों में परस्पर सहाय तथा रक्षार्थ यह निमंत्रण का निर्देशक हो। यह भी सम्भव है कि जुहार जौहर व्रत तथा रक्षा सूत्र का सहजात सहोदर हो।

अभिवादन के सम्बध में कुछ रोचक प्रथाएँ भी यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ जातियों में बरात बिदा होने से पूर्व दूल्हा बधू के सम्बंधियों को अभिवादन करता है जिसके उपलक्ष्य में वह उन लोगों से रुपये आदि भेंट में पाता है। इस विचित्र प्रथा को सलाम कराई या प्रनामी (प्रणामी) कहते हैं। इसी प्रकार की प्रणामी उपनयनादि संस्कारों में भी प्रचलित देखी जाती है। संसार में उपस्थित व्यक्तियों से प्राप्त रुपये फल-मेवे आदि वस्तुओं को बालक अपने दीक्षा-गुरु के चरणों में अर्पित करता है।

स्वयंवर का अभिवादन भी एक विचित्र प्रकार का होता था। राज कन्या वर माला लेकर चारण के साथ साथ प्रत्येक आमन्त्रित महिपाल के सम्मुख जाती थी और चारण प्रत्येक की विरुदावली कीर्तन करता चलता था। यदि राजकुमारी उसके कंठ में जयमाल नहीं डालती तो उसे अभिवादन कर आगे बढ़ जाती थी। यह औपचारिक अभिवादन अभिवादक की ओर से निहित अस्वीकृति का द्योतक होता था तथा निराश अभिवाद्यों में अमर्ष, द्वेष, पीड़ादि अनेक भावों की उद्भावना करता था। जिसके गले में जय माल पड़ती थी वह अपना अहोभाग्य समझता है। एक अभिवादन के अनेक संचारी भाव एवं अनुभाव क्षण-क्षण उदय-विलय होते दिखाई देते थे।

मुसलिम शासन काल में बादशाहों को *मुजरा* करने की परिपाटी प्रचलित थी राज्य के बड़े बड़े अमीर, दरबारी, सरदार, सेठ साहुकार आदि गण्य मान्य व्यक्ति किसी नियत समय पर राज महल के पास बाहर खड़े होकर प्रासाद के गवाक्ष में बैठे हुए शाहंशाह को अपना परिचय देते हुए अभिवादन करते थे। उनके प्रभाव से कुछ हिन्दू राजाओं में भी इसके विकृत रूप मुजरौ का प्रवेश हो गया। किसी धनी मानी व्यक्ति विशेष के सामने जा कर जो अभिवादन किया जाता है उसे मुजरा कहते हैं। यह अरबी शब्द सलाम के अर्थ में आता है। प्रातः कालीन भक्तों के मुँख से यह दोहा बहुधा सुनाई पड़ता है: 'राम झरोखा बैठ के सब का मुजरा लेइ। जैसी जाकी चाकरी तैसौ ताको देइ'॥ झरोखे में बैठकर जो शाही मुजरा होता था उसी की ओर उपर्युक्त पंक्तियाँ संकेत कर रही हैं।

आशीर्वाद—अभिवादन के सदृश आशीर्वाद भी शिष्टता का एक विशेष चिह्न समझा जाता है। भरत मतानुसार मान्य के द्वारा कनिष्ठ के प्रति वात्सल्य भाव से प्रयुक्त इष्टावधारक

वाक्य आशीर्वाद है।[४] किसी के प्रति कामना दो प्रकार से व्यक्त की जाती है। कल्याण की कामना आशीर्वाद द्वारा तथा अनिष्ट की कामना अभिशाप द्वारा। प्रथम में शुभ मनोवृत्तियाँ अनुकूल वातावरण सृजन कर व्यक्ति को वरेण्य एवं वंदनीय बनाने में अग्रसर होती हैं। वह ज्येष्ठत्व तथा श्रेष्ठत्व को प्राप्त करने लगता है। वरदान भी देवों तथा सिद्ध महात्माओं का आशीर्वाद ही है, अन्तर केवल यही है कि वरदान की सिद्धि निर्विकल्प मानी गई है, किन्तु आशीर्वाद के संकल्प में विकल्प की भी सम्भावना रहती है; आशिष आशा है तो वर सिद्धि। जिन विशेषताओं के कारण अभिवादन किया जाता है उनको अभिवादक स्वयं भी ग्रहण करना चाहता है। ज्येष्ठत्व तथा श्रेष्ठत्व का वह भी अधिकारी बनना चाहता है। ऐहिक उन्नति के लिये ही आशीर्वाद दिया जाता है। निर्वाण का आनन्द मानव जीवन का अंतिम ध्येय बतलाया गया है। दूसरे शब्दों में सुख, सम्पत्ति, सौभाग्य, सतति, स्वास्थ्यादि की प्राप्ति ही इसके मूल में होती है। इस विचार से आशीर्वाद का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है। चतुर्वर्ग के आधार पर इसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। एषणा की दृष्टि से इसके पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषण, ये तीन विभाजन होते हैं। ये दोनों प्रकार के वर्गीकरण फल-योग के अंतर्गत रखे गए हैं। एक अन्य सरल विभाजन प्रेय तथा श्रेय भी हो सकता है। प्रेय मूलक आशीर्वाद के अन्तर्गत निम्न विषय सम्मिलित हो सकते हैं— (क) कुशल-क्षेम सम्बन्धी, *चिरंजीवी हो* आदि—(ख) सुख समृद्धि सम्बन्धी, *सुखी रहो*, *धनवान हो* आदि—(ग) सौभाग्य सम्बन्धी, *राजा हो* आदि— सीता के अभिवादन करने पर अत्रि पत्नी अनसूया ने यह आशीर्वाद दिया था—'अचल होइ अहि बात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा।' (घ) संतान सम्बन्धी-*पुत्रवती हो*, *तेरा बेटा जिए*—(ङ) गुण सम्बन्धी, *विद्वान् हो*। श्रेय में मुक्ति अर्थात् ब्रह्मानंद की भावना रहती है जैसे, *परमानंद के अधिकारी बनो*। कभी कभी आशीर्वादक अभिवादक के लिये युगपत् कई मंगल-कामनाएँ प्रकट करता है। इन्हें बहुभाव मिश्रित आशीर्वाद कह सकते हैं— *जुग-जुग जियो-दूध बतासा पियो*, इसमें दीर्घायु तथा सुख समृद्धि की सद्भावनाएँ मिश्रित हैं। *दूधन नहाओ पूतन फलो* में समृद्धि तथा संतति के लिये शुभेच्छा है। *फूलो फलो* में भी यही भाव है।

अभिधान—प्रस्तुत निबंध के शीर्षक का अंतिम शब्द अभिधान है। इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। नाम किसी व्यक्ति की ओर संकेत करता है। मनुष्यों को पुकारने, पहचानने, समुदाय में से छाँटने आदि अनेक विधानों में इसकी आवश्यकता होती है। राशि, स्थान, काल, घटना, परिस्थिति, भावनादि से इसका सम्बन्ध रहता है प्रवृत्तियों के आधारभूत अभिधान अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ केवल अभिवादन तथा आशीर्वाद मूलक नामों पर ही विचार किया गया है। दोनों प्रकार के ये अल्प संख्यक नाम संस्कृति के विशेष अंग पर प्रकाश डालने के कारण बड़े महत्त्व के हैं। *जय सिया राम*, *जय गोपाल*, *भजामि शंकर*, *मिलो नारायण*, *जय भगवान*, *भजु राम राम*, *हरि ओम्*, आदि नाम अभिवादन के अभिव्यंजक है, तो *चिरंजीलाल*, *आनंद मंगल*, *सजीवन सिंह*, *आशीर्वादी लाल*, *आयुष्मान्*, *जिया लाल*

---

४. वात्सल्याद्यत्र मान्येन कनिष्ठस्याभिधीयते।
इष्टावधारकं वाक्यमाशाः सा परिकीर्तिता। (भरत)

आदि अनेक नाम आशीर्वाद से सम्बन्ध रखते हैं। कहते हैं कि गुरु नानक का *मरदाना* नामक चेला उनके आशीर्वाद का ही फल है। किसी मुसलमान स्त्री के कई बच्चे जब मर गए तो इस बच्चे को ले कर वह गुरु के पास आई और उन्हें अपने दुःख की सब कहानी सुनाई। दयालु गुरु नानक ने उस बच्चे को आशीर्वाद दिया मरदा (मरता) ना अर्थात् यह नहीं मरेगा। इससे मरदाना नाम पड़ा। मरदाना उनका पक्का शिष्य हो गया और दीर्घायु तक उनके साथ रहा। ए० डी० आशीर्वादम् नाम में आशीर्वादम् वंश-परम्परा आशीर्वाद के चमत्कार का ही खेल है।

इस विवेचन के फल-स्वरूप निम्नांकित महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं—(१) अभिवादन आशीर्वाद तथा अभिधान में घनिष्ट सम्बन्ध है। (२) तीनों का स्वरूप अत्यंत सुन्दर एवं विशद है। अभिवादन में विनय-शीलता, आशीर्वाद में मंगल-निष्ठा तथा अभिधान में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना रहती है। (३) तीनों में सार्थकता पाई जाती है जिसके अभाव में वे परिहास के पात्र बन जाते है, (४) हिन्दुओं के अभिवादनों में विभिन्नता होने से अतिशय व्यापकता दिखलाई देती है। धार्मिकता तथा नैतिकता दोनों का मिश्रण रहता है। धर्म का पुट रहने से गम्भीरता, पवित्रता एवं श्रेष्ठता तथा नीति का छींटा रहने से आर्द्रता, उज्ज्वलता एवं गुरुता आती है। अभिवादक अभिवाद्य को गुरु-गरिमा देता है, तो आशीर्वादक अभिवादक को वात्सल्य रस से परिप्लावित कर देता है। देवाराधना, मंगल कामना, भक्ति भावना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का इसमें समावेश पाया जाता है। इसके विपरीत मुसलिम अभिधानों का क्षेत्र भाव तथा संख्या की दृष्टि से अत्यन्त संकुचित एवं सीमित दिखलाई देता है। मुसलिम अभिवादनों में मान्यता तथा मंगल का योग है तो अँगरेजी अभिवादनों में कोरी कामना। जो अभिवादक ने कहा उसी को आशीर्वादक ने दुहरा दिया। इसके अतिरिक्त आंग्ल अभिवादन काल-सापेक्ष होने से सदोष एवं भ्रांतिपूर्ण भी हैं। (५) मुसलिम तथा ईसाई अभिवादनों का हिन्दी नामों पर कोई प्रभाव दिखलाई नहीं देता। यह सत्य है कि मुसलिम युग में अरबी-फारसी के अभिवादनों का तथा कथित सभ्य समाज में व्यवहार होता रहा है और अँग्रेजी शासन में अँगरेजी के अभिवादन साहबों के संसर्ग में शिक्षित वर्ग कुछ न कुछ प्रयुक्त करता रहा है। आशीर्वाद से सम्बन्धित नामों पर भी अरबी-फारसी भाषा के दो चार नामों को छोड़ कर अन्य कई प्रभाव नहीं दिखलाई देता। (६) अभिवादन से आशीर्वाद सम्बंधी नामों की संख्या अधिक है। प्रथम कोटि के नामों की संख्या ६७ है और द्वितीय की १०७। (७) इन अभिधानों में वैष्णव अभिवादन ही प्रचुरता से पाए जाते हैं। (८) देवियों के नाम पर दिव्याभिवादन नाम मात्र ही प्रतीत होता है। दोनों प्रकार के इन नामों में उनको कोई स्थान नहीं मिला। (९) जयान्वित अभिवादन आशीर्वाद का भी काम देते हैं और रण-घोष का भी। कदाचित् प्रारम्भ में वे जयनाद के रूप में रहे होंगे। हरे कीर्तन की ओर संकेत करता है। *नमः* तथा नमस्ते ही विशुद्ध अभिवादन हैं। (१०) स्त्रियों के लिये कोई पृथक् अभिवादन नहीं पाया जाता।

नीचे अभिवादन तथा आशीर्वाद सम्बन्धी नामों की दो सूचियाँ दी जाती हैं। ये अभिधान मानव शिष्टाचार के प्रतीक एवं भारतीय संस्कृत के द्योतक हैं।

अभिवादन मूलक नाम :—

जय किशोर
जय कृष्ण
जय कृष्ण दास
जय कृष्ण नारायण
जय कृष्ण नारायण बहादुर
जय कृष्ण लाल
जय गणेश प्रसाद
जय गोपाल
जय गोविंद
जय गोविंद सहाय
जय जगदीश
जय दयाल
जय नंद
जय नंदन प्रकाश
जय नंदन प्रसाद
जय नंदन लाल
जय नारायण
जय नारायण देव
जय नारायण सिंह
जय प्रकाश नारायण
जय प्रभु नंदन
जय भगवान
जय भगवान स्वरूप
जय मुरारी लाल
जय राज कृष्ण
जय राज विहारी लाल
जय राम
जय राम दत्त
जय राम दास
जय राम प्रसाद
जय विहारी
जय विहारी लाल
जय वीर
जय शंकर
जय शंकर प्रसाद
जय शिव
जय श्री किशन भगवान
जय श्री देव
जय श्री नाथ
जय श्री प्रसाद
जय श्री राम
जय श्री लाल
जय श्री सिंह
जय सियाराम
जय हिन्द
जुहार दत्त
जुहार मल
जै जै राम
जै जै राम किशोर
जै जै राम राय
जै जै लाल
जै जै सिंह
जै जोति
जै विशुन लाल
जै वेनी
जै राधे राय
नमो नारायण
नमो नारायण राय
भजामि शंकर
भजु राम राम
मिलो नारायण
राधा कृष्ण
राम राम
सीता राम
हरे कृष्ण
हरे राज
हरे राम

आशीर्वाद मूलक नाम :—

अजरैल दास
अमरतू
अमृत बहादुर
अमृत लाल
आनंद मंगल
आयुष्मान्
आशीर्वाद
आशीर्वादी
आशीर्वादी लाल
आशीर्वादी सिंह
उद्धरन सिंह
उमर चंद
उमर सिंह
उमराखी
कलियान
कलियान राम
कलियान सिंह
कल्याण
कल्याण कुमार
कल्याण चंद्र
कल्याण दत्त
कल्याण दास
कल्याण प्रसाद
कल्याण बक्स
कल्याण मल
कल्याण लाल
कल्याण सहाय
कुशल
कुशल कुमार
कुशल चंद्र
कुशल पाल
कुशल पाल सिंह
कुशल मणि
कुशलानंद

खुमान
खुमान शंकर
खुमान सिंह
खुमानी
खुमानी लाल
खुमानी सिंह
खुशी लाल
चिरंजी लाल
चिरंजीव नारायण
चिरंजीव प्रसाद
चिरंजीव लाल
चिरंजीवी
चिरंजीवी लाल
चैन सुख
चैन सुख दास
जई
जय दत्त
जय मंगल
जय मंगल प्रसाद
जय लक्ष्म बहादुर
जय लाल
जय लाल सिंह
जय विभव
जय वीर
जय वीर कुमार
जय वीर बहादुर
जय शील
जय सुख
जयानंद
ज़िंदा लाल
जिआनंद
जिआ लाल
जीआ
जी सुख
जी सुख राम
तालेवर
तालेवर सिंह
तेजस्वी प्रसाद
धन्य कुमार
बरकत राम
बरकत सिंह
मुबारिक सिंह
राज मंगल
राज मंगल नाथ
राज मंगल प्रसाद
राज मंगल राय
राज मंगल सिंह
रोशन मल
रोशन लाल
रोशन सिंह
रोहन प्रसाद सिंह
विजय
विजय प्रताप सिंह
वृद्धि चंद्र
वृद्धि नारायण
वृद्धि शंकर
शुभ धन सिंह
शुभ लाल
सजीवन राम
सजीवन लाल
सजीवन सहाय
सजीवन प्रसाद
सत मंगल सिंह
सदा जीवन लाल
सर जीवन लाल
सलामत सिंह
सुखई
सुखानंद
सुफल दास
सुफल राम
सुभाग
सुभाग चंद्र
सुभाग मल

———

अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास
और
उनके पुत्र सूरदास

श्री प्रभुदयाल मीतल, मथुरा

अबुलफजल कृत 'आइन-ए-अकबरी' में अकबरी दरबार के संगीतज्ञों एवं गायकों की एक सूची दी गई है। इस सूची में ३६ कलाकारों के नाम हैं, जिनमें पहला नाम तानसेन का, दूसरा बाबा रामदास का और उन्नीसवां सूरदास का है। उक्त सूरदास को इस सूची में ही बाबा रामदास का पुत्र बतलाया गया है और उन दोनों पिता-पुत्र को ग्वालियर निवासी लिखा गया है। मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी कृत 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' में भी एक रामदास गवैया का उल्लेख हुआ है। मुल्ला बदायूनी ने लिखा है कि रामदास लखनऊ के रहने वाले थे। पहले वे इस्लामशाह सूरी के दरबार में थे। सूरियों को सत्ता समाप्त होने पर वे बैरमखां के पास रहे। बदायूनी ने रामदास की गायन कला की बड़ी प्रशंसा की है। उनका कहना है कि रामदास अपने समय के विख्यात गायक थे। अपनी कला में वे संगीत-सम्राट तानसेन के बाद ही समझे जाते थे। बैरमखां सदैव उन्हें अपने साथ रखता था और उनका गाना सुन कर आनंदित होता था। अपने अंतिम समय में जब उसके पास अधिक द्रव्य नहीं था, तब भी उसने रामदास को एक लाख टके का पुरस्कार दिया था। बदायूनी के लेखानुसार रामदास बैरमखां के पास उस समय तक रहे, जब उसने अकबर से विद्रोह किया और अंत में हज जाने के लिए तैयार हुआ। यह घटना सं० १६१८ की है। मुंशी देवी प्रसाद ने अपने 'सूरदास के जीवन चरित्र' में लिखा है कि 'आइन-ए-अकबरी' और 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' का रामदास एक ही व्यक्ति है। जब बैरमखां की मृत्यु हो गई, तब उसके आश्रित रामदास को अकबर ने अपनी सेवा में ले लिया। इस प्रकार रामदास और उनका पुत्र सूरदास सं० १६१६ में सर्व प्रथम अकबरी दरबार में आए, जहाँ बाद में उनको दरबारी गवैयों में सम्मिलित किया गया। 'आइन-ए- अकबरी' और 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' के रामदास संबन्धी उल्लेखों में एक अंतर यह है कि प्रथम ग्रंथ में रामदास को ग्वालियर निवासी और द्वितीय में लखनऊ निवासी लिखा गया है। मुंशी देवी प्रसाद और बाद में उनके समर्थन में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का मत है कि सूरियों से पहले रामदास लोदी पठानों के दरबार में थे। सं० १५८३ में बाबर द्वारा लोदियों की पराजय होने के उपरांत संभवतः रामदास लोदी पठानों के साथ पूर्व की ओर भाग गए और लखनऊ में जाकर रहने लगे। बाद में जब सूरियों ने दिल्ली पर अधिकार किया, तब पूर्वी पठानों के साथ वे भी दिल्ली आकर इस्लामशाह के दरबार

में रहने लगे। डा० पीताबंरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि बदायूनी का रामदास को लखनवी लिखना उनके ग्वालियर निवासी होने के विरुद्ध नहीं जाता है। उक्त कथन से केवल इतना ही सूचित होता है कि सूरियों के यहाँ आने से पूर्व रामदास लखनऊ में रहते थे।

इन दोनों मुसलमान इतिहास ग्रंथों की संगति से रामदास के जीवन-वृतांत की रूपरेखा इस प्रकार निश्चित होती है—रामदास का जन्म ग्वालियर में हुआ था। ग्वालियर उन दिनों संगीत-कला का प्रमुख केन्द्र था, अतः रामदास को वहाँ पर उक्त कला की यथोचित् शिक्षा प्राप्त हुई। उनके शिक्षा-गुरू कौन थे यह ज्ञात नहीं होता। ग्वालियर में शिक्षा प्राप्त कर कालांतर में वे लोदियों के दरबारी गायक हुए। जब बाबर द्वारा इब्राहीम लोदी की पराजय सं० १५८३ में हुई, तब वे लोदी पठानों के साथ पूर्व की ओर गए और लखनऊ में रहने लगे। जब सूरी पठानों ने हुमायूं को पराजित किया, तब रामदास सं० १६०२ के लगभग पुनः दिल्ली जा कर इस्लामशाह के दरबारी गवैया नियुक्त हुए। सं० १६१२ में मुगलों द्वारा सूरियों की पराजय होने पर रामदास बैरमखां की सेवा में आए, तत्पश्चात् अकबरी दरबार में गायक नियुक्त हुए। ऐसा ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध ग्वालियर से बराबर बना रहा, बल्कि बैरमखां से प्रचुर धन प्राप्त कर उन्होंने ग्वालियर में ही अधिकतर रहना आरंभ कर दिया था; इसीलिए जब वे अकबरी दरबार में थे, तब उन्हें ग्वालियर निवासी समझा जाता था।

रामदास किस जाति के थे और किस धार्मिक संप्रदाय के थे, इसका उल्लेख दोनों मुसलमान लेखकों ने नहीं किया है। 'आइन-ए-अकबरी' में उनके नाम के साथ 'बाबा' लिखा होने से ऐसा ज्ञात होता है कि वे वयोवृद्ध तो निश्चय ही थे। बाबर द्वारा इब्राहीम लोदी के पराजय काल सं० १५८३ में उनकी अवस्था ३०-३५ वर्ष की तो होगी ही, क्योंकि इतना समय उन्हें गायकन कला में प्रसिद्ध प्राप्त कर शाही दरबार के योग्य होने में अवश्य लगा होगा। इस हिसाब से उनका जन्म सं० १५५० के लगभग हुआ होगा और सं० १६१६ में जब वे अकबरी दरबार में गए तब उनकी अवस्था ७० वर्ष से कम नहीं होगी। रामदास अकबरी दरबार में कब तक रहे और उनका देहावसान कब हुआ, यह जानने का कोई साधन नहीं है। 'आइन-ए-अकबरी' में सूरदास के संबन्ध में केवल इतना ही लिखा मिलता है कि वे बाबा रामदास के पुत्र और अकबरी दरबार के गायक थे। अकबरी दरबार से उनका संबन्ध अपने पिता के ही कारण नहीं था, बल्कि स्वयं उनका नाम भी गवैयों की सूची में पृथक् रूप से दिया हुआ है। अबुलफजल के कथन से ज्ञात होता है कि अकबर ने देश-विदेश के विख्यात कलाकारों को अपने दरबार में नियुक्त किया था। उन कलाकारों में हिंद और काश्मीर के अतिरिक्त ईरान और तूरान तक के संगीतज्ञ थे। उन संगीतज्ञों की सात श्रेणियाँ बनाई गई थीं और एक-एक श्रेणी प्रति सप्ताह बादशाह को गाना सुनाती थी। अकबरी दरबार के उन ३६ जग-विख्यात संगीतज्ञों में स्वयं सूरदास का १६वीं सख्या पर नामोल्लेख होना यह सूचित करता है कि वे भी अपने पिता के समान विख्यात गायक थे। ऐसी दशा में अकबरी दरबार में आने के समय सूरदास की अवस्था भी ३०-४० वर्ष से कम नहीं हो सकती।

'आइन-ए-अकबरी' और 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' के अतिरिक्त एक और फारसी

ग्रंथ है, जिसमें सूरदास का उल्लेख हुआ है। इस ग्रंथ में अबुलफजल के समय-समय पर लिखे हुए पत्र हैं, जिनको उनके भांजे अब्दुल समद ने 'मुंशियात अबुलफजल' के नाम से सं० १६६३ में संकलित किया था। इस संग्रह में एक ऐसा भी पत्र है, जिसे अबुलफजल ने अकबर की आज्ञा से बनारस में रहने वाले किसी सूरदास को लिखा था। इस पत्र का अनुवाद मुंशी देवी प्रसाद ने अपने 'सूरदास के जीवन चरित्र' में दिया है। उक्त पत्र में अकबर बादशाह के इलाहाबाद जाने की सूचना दी गई है और सूरदास की भक्ति और उनके महात्मापन की अत्यंत प्रशंसा करते हुए उनको बादशाह से मिलने के लिए इलाहाबाद आने का निमंत्रण दिया गया है। इस पत्र में किसी तिथि-संवत् का उल्लेख नहीं है, किंतु 'अकबर-नामा' के अनुसार सं० १६४२ में अकबर का इलाहाबाद जाना सिद्ध है, अतः यही संवत् उक्त पत्र का भी हो सकता है। इससे ज्ञात होता है कि सं० १६४२ में उक्त पत्र का भी हो सकता है। इससे ज्ञात होता है कि सं० १६४२ में उक्त सूरदास बनारस में रहते थे।

उक्त तीनों फारसी ग्रंथों में जिन रामदास और सूरदास का उल्लेख हुआ है, वे मुंशी देवी प्रसाद से ले कर डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल और डा० दीनदयाल गुप्त तक सभी विद्वानों के मतानुसार ग्वालियर निवासी पिता-पुत्र थे, जो कुछ समय तक लखनऊ में रह कर इस्लाम-शाह और बैरमखां के पास आए और बाद में अकबरी दरबार में नियुक्त हुए। मुसलमानी लेखकों के रामदास और सूरदास संबन्धी विवरण की संगति अब हम भक्तमाल और वार्ता-साहित्य के तत्संबन्धी उल्लेख से मिलाकर यह देखना चाहते हैं कि इनमें कहाँ तक साम्य और विरोध है, तथा हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों और सूरदास के आलोचकों ने उनको किस रूप में समझा है।

हिंदी साहित्याकाश के सूर्य और अष्टछाप के मुकुटमणि महात्मा सूरदास की रचनाएँ काव्य-गायन-प्रेमियों और भक्त-जनों में सदा से प्रसिद्ध रही हैं, किन्तु उनके जीवन-बृत्तांत की विशेष खोज पिछले ५०-६० वर्षों से ही आरंभ हुई है। सूरदास की प्रमुख रचना 'सूरसागर' में उनके सम्बन्ध की कोई स्पष्ट सूचना अब तक उपलब्ध नहीं हुई, किन्तु 'सारावली' और 'साहित्य लहरी' के उल्लेख आरंभ से ही सूर-जीवनी के अन्वेषकों को आकर्षित करते रहे हैं। 'साहित्य लहरी' का ११८ वां पद जिसमें सूरदास की पूर्ण वंशावली दी हुई है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक के विद्वानों को आकर्षित करता रहा है। उसके पक्ष और विपक्ष में भी अब तक बहुत कुछ लिखा गया है।

जिस समय सूर-जीवनी का अन्वेषण आरंभ हुआ, उस समय सारावली, साहित्य लहरी, भक्तमाल, वार्ता-साहित्य, फारसी ग्रंथ और अनेक भक्त-कवियों के उल्लेखों के अतिरिक्त सूरदास सम्बन्धी परंपरागत जनश्रुतियाँ और किंवदंतियाँ भी उपलब्ध थीं। इन समस्त साधनों से जो सामग्री प्राप्त हुई उसे हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक इतिहास लेखकों और सूरदास के आलोचकों ने अष्टछापी सूरदास से ही संबन्धित मान लिया। उन्होंने इस बात का बहुत कम विचार किया कि वह सामग्री किसी अन्य सूरदास से भी सम्बन्धित हो सकती है। इस प्रकार का गड़बड़ घोटाला भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मुंशी देवीप्रसाद, बाबू राधाकृष्णदास, गार्सां द तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु प्रभृति आरंभिक सूरदास के आलोचकों और हिन्दी साहित्य के लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० पीतांबरदत्त

बड़थ्वाल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री वियोगी हरि और डा० मुंशीराम शर्मा आदि विद्वानों के सूरदास-सम्बंधी उल्लेखों में भी है। इस प्रकार बिल्वमंगल सूरदास, सूरदास मदनमोहन तथा कई अन्य सूरदासों से संबंधित सामग्री का घोलमेल अष्टछापी सूरदास के जीवन-वृतांत में हो गया है।

पिछले २०-२५ वर्षों में सूरदास का वैज्ञानिक अन्वेषण हुआ। इस काल में अनेक विद्वानों द्वारा छान-बीन होने के अनंतर विभिन्न सूरदासों से सम्बंधित सामग्री किसी हद तक छाँट ली गई है। अब अष्टछापी सूरदास के जीवन-वृत्तान्त की एक सर्वमान्य रूप-रेखा भी किसी हद तक निश्चित हो गई है। इस निश्चय में वल्लभ-संप्रदाय के वार्ता-साहित्य को प्रमुखता दी गई है। यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के प्रायः समस्त भक्त कवियों की रचनाएँ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत हुई हैं, अतः वे उक्त सम्प्रदायों की मर्यादा एवं सीमाओं से आबद्ध हैं। उक्त कवियों का जीवन-वृत्तांत भी प्रचुर रूप से उक्त सम्प्रदायों में ही उपलब्ध होता है। यह दूसरी बात है कि उन सम्प्रदायों की रचनाओं में उक्त कवियों की महत्त्व-वृद्धि के लिये कुछ अतिशयोक्ति एवं चमत्कारपूर्ण बातें भी उनके जीवन-वृत्तान्त के साथ मिलादी गई हों; फिर भी जैसी पते की बातें उक्त सम्प्रदायों में प्राप्त होती हैं, वैसी अन्य साधनों से कदापि नहीं होतीं। विचारशील आलोचक का काम है कि वह सीधी-सादी बातों को ग्रहण करे और अतिशयोक्ति एवं चमत्कारपूर्ण बातों को छोड़ दे। अष्टछापी सूरदास की रचनाएँ भी वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत हुई हैं, अतः उनके जीवन-वृत्तान्त के लिये वल्लभ सम्प्रदाय के वार्ता-साहित्य का महत्त्व स्वाभाविक ही है। जो विद्वान् वार्ता साहित्य को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, उनको भी सूरदास की जीवनी के लिये उसका सहारा लेना अनिवार्य है।

वार्ताओं के प्रकाश में अष्टछापी सूरदास के जीवन-वृत्तान्त की जो रूपरेखा बनी है, उसके कारण बहुत सी सामग्री का सम्बन्ध उनकी अपेक्षा किसी अन्य सूरदास से मान लिया गया है। अब यह विचारणीय है कि किस सामग्री को किस सूरदास से सम्बंधित किया जाय। अष्टछापी सूरदास के पश्चात् विल्वमंगल सूरदास और सूरदास मदनमोहन ही अधिक प्रसिद्ध हैं। नाभाजी कृत भक्तमाल में भी इन्हीं दोनों का विशेष वृत्तान्त उपलब्ध है, यद्यपि अन्य सूरदासों की सूचनाएँ भी इससे प्राप्त होती हैं।

भक्तमाल के प्रमाणानुसार अब यह मान लिया गया है कि चिंतामणि वेश्या से प्रेम करने वाले और किसी सुन्दरी पर आसक्त होने के पश्चात्ताप में अपनी आँखें फोड़ लेने वाले, फिर स्वयं भगवान के कर-स्पर्श से अपने जीवन को सार्थक करने वाले सूरदास अष्टछापी सूरदास नहीं थे, बल्कि वे दक्षिण की कृष्णवेना नदी के तट पर निवास करने वाले 'श्री कृष्णकर्णामृत' जैसे विख्यात ग्रंथ के रचयिता बिल्वमंगल सूरदास थे। अब यह भी मान लिया गया है कि 'साहित्यलहरी' और नानूराम भट्ट की वंशावली भी अष्टछापी सूरदास की नहीं है तथा जिन रामचन्द और रामदास को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ले कर डा० मुंशीराम शर्मा तक ने अथक प्रयत्न किया है, वे अष्टछापी सूरदास के पिता नहीं थे। 'आइन-ए-अकबरी' 'मुन्तखिब-उत-तवारीख' और 'मुंशियात अबुलफजल' के रामदास और सूरदास की संगति 'साहित्य-लहरी', 'भक्तमाल' और 'वार्ताओं' के सूरदास से मिलाने में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का परिश्रम प्रशंसनीय है, किन्तु दुर्भाग्य से उनका ग्रंथ तब प्रकाशित

हुआ, जब यह मत पूर्णतया अप्रामाणिक सिद्ध हो गया। इसीलिए इस ग्रंथ के सम्पादक डा० भगीरथ मिश्र को स्वयं लिखना पड़ा है कि बड़थ्वाल जी ने अपने निष्कर्ष में जिस सूरदास को रामदास का पुत्र बतलाया है, वे अष्टछापी सूरदास नहीं थे, वरन् सूरदास मदनमोहन थे।[१] डा० दीनदयाल गुप्त इससे पहले ही घोषित कर चुके हैं कि 'आइन-ए-अकबरी' 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' और 'मुंशियात अबुल फज़ल' में अष्टछाप के सूरदास का कोई वृत्तान्त नहीं है। उनके अनुमान से वह सूरदास मदनमोहन से सम्बन्ध रखता है।[२]

सूरदास नाम-धारी समस्त हिंदी भक्त-कवियों में अष्टछापी सूरदास के पश्चात् सूरदास मदनमोहन ही अधिक प्रसिद्ध हैं, अतः जिस सामग्री का संबन्ध अष्टछापी सूरदास से नहीं रहा, उसे अब सूरदास मदनमोहन के खाते में डाला जा रहा है। हमको यहाँ पर यह विचार करना है कि यह सामग्री सूरदास मदनमोहन से संबन्धित है, अथवा किसी अन्य सूरदास से।

जहाँ तक 'साहित्य-लहरी' के पद का प्रश्न है, उसे सूरदास मदनमोहन से कदापि संबन्धित नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक तो सूरदास मदनमोहन ब्रह्मभट्ट नहीं थे, दूसरे साहित्य-लहरी को उनकी रचना मानने का अब तक कोई संकेत किसी साधन से प्राप्त नहीं हुआ है, तीसरे उनकी रचना शैली दृष्टकूट शैली से सर्वथा-भिन्न है, चौथी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'साहित्य-लहरी' का रचयिता, 'थपि गोसाई' करी मेरी आठ मध्ये छाप' की विज्ञप्ति के अनुसार अपने को अष्टछापी सूरदास से मिलना चाहता है, न कि सूरदास मदन-मोहन से।

अब 'आइन-ए-अकबरी', 'मुन्तखिब्-उत्-तवारीख' और 'मुंशियात अबुलफजल' के वृतांतों पर विचार कीजिए। यदि उनमें उल्लिखित सूरदास को सूरदास मदनमोहन माना जाए, तब रामदास के संबन्ध के कारण उनके जीवन की ऐसी रूपरेखा बनती है, जिसका समर्थन 'भक्तमाल' अथवा किसी अन्य विश्वसनीय सूत्र से नहीं होता है।

नाभाजी ने 'भक्तमाल' में सूरदास मदनमोहन पर जो छप्पय लिखा है, उसमें उन्होंने उनके गायन और काव्य की प्रशंसा करते उनको नवरसों में मुख्य शृंगार रस का विविध भाँति से गायन करने वाला, राधाकृष्णोपासक और रहस्य-मुख का अधिकारी बतलाया है। इसके साथ ही उनके नाम के साथ 'जमल भ्राता' के समान मदनमोहन का लगाव भी भगवान् द्वारा उन्हें अंगीकार किए जाने की स्वीकृति स्वरूप माना है। नाभाजी के इस कथन में उनके जीवन-वृतांत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, किंतु उन्होंने अकबर शाह के अधीन उनका सडीले का अमीन होना, वहाँ से ठाकुर मदनमोहनजी के भोग के लिये गुड़ भेजना, सरकारी कोष का रुपया साधु-सेवा में लगाकर रातोरात वृंदाबन चले जाना, वहाँ से टोडरमल द्वारा उन्हें पकड़वा कर मँगवाना और कष्ट देना, फिर अकबर द्वारा मुक्त होकर उनका वृंदावन वापिस जाना और वहाँ पर अपने इष्टदेव मदनमोहन और चैतन्य महाप्रभु के ध्यान में मग्न होने का उल्लेख किया है। बाबा रामदास से उनके संबन्ध की किसी घटना का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया, जैसा कि उक्त फ़ारसी लेखकों के ग्रंथों में उपलब्ध है।

---

१. डा० बड़थ्वाल कृत 'सूरदास' पृ० १६ की टिप्पणी

२. अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय भाग १, पृ० १५२

सूरदास मदनमोहन चैतन्य सम्प्रदायी भक्त थे। वे चैतन्य महाप्रभु के सेवक सनातन गोस्वामी के शिष्य थे। सनातन गोस्वामी के उपास्य ठाकुर मदनमोहन उनके इष्टदेव थे। मदनमोहनजी के प्रति उनकी इस प्रकार आस्था थी कि अपनी समस्त रचनाओं में अपने नाम के साथ उन्होंने मदनमोहन की भी छाप रखी है। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास जी भी चैतन्य सम्प्रदायी भक्त थे और वे वृंदाबन निवासी थे। अतः यह मानना चाहिए कि सूरदास मदनमोहन के जीवन-वृतांत के संबन्ध में जो अनुश्रुति परंपरा से सम्प्रदाय में प्रचलित थी, उससे वे पूर्णतया परिचित थे। वैसे भी सम्प्रदाय के कारण उनके प्रति उनकी सहज आत्मीयता थी। यदि सूरदास मदनमोहन महान् गायक बाबा रामदास के पुत्र होते और स्वयं भी अकबर के जग-विख्यात दरबारी गायकों में से होते, तो प्रियादास उसका अवश्य उल्लेख करते। किंतु उन्होंने उन्हें सडीले का अमीन बतलाने के अतिरिक्त उनके दरबार के गायक होने के संबन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखा है।

सनातन गोस्वामी का वृंदावन आगमन सं० १५७३ में और उनका देहावसान सं० १६२१ में हुआ था।[३] अतः सूरदास मदनमोहन इसी अवधि में उनके शिष्य हुए होंगे। इधर सूरदास का अकबरी दरबार का गायक होना भी सं० १६२१ से पूर्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि अबुलफजल ने जिन दरबारी गायकों की सूची में सूरदास का उल्लेख किया है, उनकी मंडली का पूरा संगठन सं० १६२१ के बाद ही हुआ था। इस मंडली का नेता तानसेन स्वयं सं० १६२१ में अकबर के दरबार में आया था। तब क्या सूरदास अकबरी दरबार में आने के पूर्व ही सनातन गोस्वामी के शिष्य हो गए थे? उस समय तो वे राजनैतिक उथल-पुथल के कारण अपने पिता रामदास के साथ कई राज दरबारों में घूमते फिरते थे। फिर अकबर के गवैया होने के पश्चात् वे संडीले के अमीन कब और क्यों बनाए गए? प्रियादासजी ने उनका दरबारी गायक और रामदास का पुत्र होना क्यों नहीं लिखा, जब कि उनके संडीले के होने की बात उन्होंने बड़े विस्तार से लिखी है? इन प्रश्नों का जब तक कोई समाधानकारक उत्तर प्राप्त नहीं होता तब तक अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास के पुत्र सूरदास को सूरदास मदनमोहन नहीं माना जा सकता है।

'मुंशियात अबुलफजल' में जिस सूरदास का उल्लेख है, वे तो सूरदास मदनमोहन कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि अपने दीक्षा-गुरु सनातन गोस्वामी की मृत्यु के २१ वर्ष पश्चात् सं० १६४२ में उनका बनारस में रहना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। सं० १६४२ से बहुत पहले वे वृंदाबन-निवास करने लगे थे, जहाँ की निकुंज-माधुरी का आस्वादन और प्रिया-प्रियतम की रसकेलि-क्रीड़ा का गायन छोड़ कर वे कहीं भी नहीं गए।

अब प्रश्न होता है कि अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास और सूरदास फिर कौन थे? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है, किंतु इस सम्बन्ध में एक नया विचार चित्त में उठा है, उसे विद्वानों के सम्मुख प्रकट किया जा रहा है।

स्वामी रामानन्द के एक शिष्य अनन्तानन्द थे, जिनके शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए। नाभाजी ने अपनी 'भक्तमाल' के ३७ वें छप्पय में अनन्तानन्दजी का उल्लेख किया है। इसी छप्पय में उन्होंने अनन्तानन्दजी के कई शिष्यों के नाम भी लिखे हैं। नाभाजी के कथन

---

३. वैष्णव दिग्दर्शिनी (बंगला ग्रंथ) के आधार पर

से ज्ञात होता है कि अनन्तानन्द के शिष्यों में कृष्णदास पयहारी के अतिरिक्त एक रामदास भी थे। कृष्णदास पयहारी के २४ शिष्यों का उल्लेख छप्पय सं० ३६ में हुआ है। इनमें 'सूरज' और 'कल्यान' नामक दो व्यक्ति भी कृष्णदास पयहारी के शिष्य लिखे गए हैं। भक्तों की नामकरण पद्धति के अनुसार सूरज को सूरजदास अथवा सूरदास कहा ही जाता है। अब कृष्णदास पयहारी के गुरु भाई रामदास और उनके अपने शिष्य सूरदास का मिलान अकबरी दरबार के गायक रामदास और सूरदास से कीजिए।

सर्व प्रथम इनके काल पर विचार करना आवश्यक है। कृष्णदास पयहारी का समय सं० १६०० के लगभग है। श्री मोतीलालजी मेनरिया ने उनका काल सं० १५५६-८४ लिखा है।[४] यही समय रामदास और उनके पुत्र सूरदास का भी है, अतः कालक्रम के अनुसार कोई विरोध नहीं पड़ता है।

नाभाजी के अनन्तानन्द के शिष्य रामदास और कृष्णदास पयहारी के शिष्य सूरज का नामोल्लेख करने के अतिरिक्त उनका कोई वृत्तांत नहीं दिया है। उनके कथन से यह भी ज्ञात नहीं होता कि सूरज रामदास के पुत्र ही थे, यद्यपि गुरु भाई के शिष्य होने के कारण वैरागियों की पद्धति के अनुसार सूरज रामदास के लिये पुत्रवत् अवश्य थे। 'आइन-ए-अकबरी' में रामदास और सूरदास को ग्वालियर निवासी और 'मुन्तखिब्-उत्तवारीख' में रामदास को लखनऊ निवासी लिखने के अतिरिक्त यह नहीं बतलाया गया है कि रामदास गृहस्थ थे। 'आइन-ए-अकबरी' में उनके नाम के साथ बाबा लिखे होने से उनके बैरागी होने की ही सूचना मिलती है। 'मुंशियात अबुलफजल' में स्पष्ट रूप से सूरदास को उच्च कोटि का संत और भक्त लिखा गया है। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि बाबा रामदास और 'सूरज' उपनाम सूरदास दोनों रामानन्दी विरक्त साधु थे। सूरदास रामदास के गुरु भाई कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे, अतः उनके लिये पुत्रवत् थे और वे उनको अपने साथ पुत्र की तरह रखते भी थे। यह भी हो सकता है कि सूरदास बाबा रामदास के औरस पुत्र ही हों; बाद में रामदास गृहस्थी छोड़ कर विरक्त हो गए और जिस समय में वे अकबरी दरबार में थे, उस समय विरक्त ही थे।

रामदास विरक्त वैष्णव साधु होने के साथ ही साथ संगीत कला की उन्नति के प्रयासी भी थे। उन दिनों के अशान्त और हिन्दुत्व-विरोधी वातावरण में किसी हिन्दू कलाकार को अपनी कला की उन्नति का तभी अवसर मिल सकता था, जब कि उसका संबंध राज दरबार से हो और मुसलमानी शासन का उसे समर्थन प्राप्त हो। बाबा रामदास अपनी उच्चकोटि की संगीत-साधना के कारण लोदी और सूरी जैसे कट्टर पठान शासकों और बैरमखां जैसे उग्र मुग़ल सेनानी को भी अपने अनुकूल कर सके थे। उन्होंने सूरदास को अपना पुत्र बना कर रखा और उनको भी संगीत कला में पारंगत कर दिया। इस प्रकार बैरमखां की मृत्यु के उपरांत वे दोनों पिता-पुत्र अकबर के दरबारी गायकों के प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त हुए।

हम पहले लिख चुके हैं कि कृष्णदास पयहारी के शिष्य 'सूरज' के अतिरिक्त एक 'कल्यान' भी थे। जिस प्रकार सूरदास दरबारी गायक के उच्च पद पर आसीन थे, उसी प्रकार 'कल्यान' भी किसी प्रतिष्ठित पद पर होंगे।

---

४. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६

ध्रुवदास ने अपनी 'भक्त नामावली' में बिल्वमंगल सूरदास का दोहा सं० १०२ में, अष्टछापी सूरदास का दोहा सं० ६५ में, सूरदास मदनमोहन का दोहा सं० ६७ में उल्लेख करने के अतिरिक्त 'सूरज' और 'द्विज कल्यान' का एक साथ उल्लेख दोहा सं ८२ में इस प्रकार किया है :—

सेयौ नीकी भाँति सों, श्री संकेत स्थान।
रह्यौ बड़ाई छाँड़ि कै 'सूरज' 'द्विज कल्यान'॥

ऐसा ज्ञात होता है कि अकबरी दरबार में सम्मिलित होने के कुछ समय पश्चात् रामदास वृद्ध होने के कारण मर गए। तब सूरदास का विरक्त मन अधिक समय तक राज्य की नौकरी में न लग सका। वे अपने गुरु भाई कल्यान के साथ ब्रज के 'संकेत' स्थान में रहने लगे और बाद में वे बनारस चले गए। सूरदास और कल्यान राजकीय मान-बड़ाई को छोड़ कर विरक्त हुए थे, इसी का उल्लेख ध्रुवदास ने अपने उक्त दोहे में किया है। यहाँ पर ध्रुवदास द्वारा सूरज और कल्यान का एक साथ उल्लेख होना महत्त्व की बात है, क्योंकि इससे नाभाजी के कथन और रामदास एवं सूरज के पारस्परिक संबन्ध की पुष्टि होती है।

ब्रज के संकेत स्थान से चलकर सूरदास पूर्व के रामानंदी तीर्थ स्थलों में निवास करते हुए अन्त में बनारस जाकर रहने लगे। सं० १६४२ में जब अबुलफजल ने उनको पत्र लिखा था, तब वे बनारस में ही थे। यह ज्ञात नहीं होता कि वे अबुलफजल के इच्छानुसार अकबर से प्रयाग में मिले या नहीं। अबुलफजल ने अपने पत्र में जिस प्रकार उनको अकबर के 'दीन-इलाही' में सम्मिलित होने के लिये फुसलाया है, उसका परिणाम तो निस्संदेह अनुकूल न हुआ होगा, क्योंकि इस प्रकार के भक्त के सहज ही विमत की ओर ढल जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका देहावसान भी सम्भवतः बनारस में ही हुआ। अक्षयकुमार दत्त कृत 'भारतवर्ष के उपासक संप्रदाय' में काशी निवासी जिन रामानंदी सूरदास का उल्लेख है और जिन की समाधि शिवपुर में बतलाई गई है, वे यही सूरदास ज्ञात होते हैं। डा० मुंशीराम शर्मा ने उनको बिल्वमंगल समझा है, यह ठीक नहीं मालूम होता,[५] क्योंकि बिल्व-मंगल सूरदास पूर्ववर्ती और कृष्ण-भक्त थे, जब कि ये सूरदास परवर्ती और रामानंदी थे। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में जो दो ग्रंथ 'रामजन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' किसी सूरदास के रचे हुए लिखे गए हैं, वे भी इन्हीं रामानंदी सूरदास की रचना ज्ञात होते हैं।

इस प्रकार हमारा मत है कि अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास और सूरदास का अष्टछापी सूरदास अथवा सूरदास मदनमोहन से कोई संबन्ध नहीं है। अधिक संभावना इस बात की है कि अनंतानंद के शिष्य रामदास अकबरी दरबार के गायक बाबा रामदास थे और कृष्णदास पयहारी के शिष्य 'सूरज' बाबा रामदास के पुत्र सूरदास थे।

---

५. सूर सौरभ पृ० ७२

मछेरों और मछलियों से सम्बन्धित शब्दावली

[अलीगढ़ क्षेत्र की बोली पर आधृत]

श्री अम्बा प्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्यरत्न, अलीगढ़

मछली को *मछरी* और *मच्छी* (सं० मत्सिका प्रा० मच्छिआ ⁄ मच्छी) भी कहते हैं। मछली मारने वाला व्यक्ति *मछुआ* या *मछेरा* कहाता है। मुसलमान मछेरे *मछेले* और हिन्दू *मछहेरे* (मछुए) जाति से *धीमर* (सं० धीवर) या *कहार* (सं० काहारक[1]—मो० वि० कोष) कहे जाते हैं। टर्नर ने '*कहार*' शब्द को पालि '*काजहारको*' से विकसित माना है।

जो मछेरे मछली मारने का पेशा करते हैं वे मछलियों को टपेरों के हाथ बेच देते हैं। मछलियों की मंडी का दलाल *पैकार* कहाता है। टाप में मछलियाँ रखने वाले *टपेरे* कहाते हैं। वह जगह (घर) जहाँ बर्फ या पानी में मछलियाँ बिकने के लिये रक्खी जाती हैं, *टाप* कहाता है। मछेरे मछलियों को जाल से और शिकारी *डंगी* (एक लम्बा और पतले बाँस) से पकड़ते हैं। डंगी को *लग्गी* या *बंसी* (सं० वंशिका ⁄ बंसिआ ⁄ बंसी) भी कहते हैं। सूर ने 'बंसी' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

डंगी और उससे संबंध रखने वाली चीजें

डंगी के सिरे पर एक मज़बूत *सूतरी* (सं० सूत्रलिका ⁄ सुत्तलिआ ⁄ सुत्तरिआ ⁄ सुत्तरी ⁄ सूतरी) बँधी रहती है जो *पौदा*, *डोर* या *डोरी* (सं० दवरिका ⁄ डउरिआ ⁄ डोरी) कहाती है। पानी के धरातल पर लकड़ी का एक छोटा टुकड़ा डोरी में बँधा हुआ तैरता रहता है जिससे मछेरे को पता लग जाता है कि मछली ने काँटे में मुँह मारा कि नहीं। उस टुकड़े को *तरन्ना* या *तरंडा* (सं० तरण्डक) कहते हैं। डोरी के नीचे *दुम्बाले* (आँकड़े का ऊपरी भाग) के सिरे पर लोहे की नोंकदार और झुकी हुई कील *काँटा* (सं० कण्टक) या *आँकड़ा* कहाती है। काँटे के सिरे पर अन्दर की ओर नीचे झुका हुआ कीला *डाढ़* या *अड़ंगा* कहाता है जो काँटे को मछली के मुँह में से नहीं निकलने देता। यही मछली के मुँह में अटक जाता है। काँटे पर गेहूँ का आटा (सं० अट्टक ⁄ अट्टआ ⁄ अट्टा ⁄ आटा) खल मेंडुकी या गिड़ोया (कैंचुआ) लगा लिया जाता है। आटा और कैंचुआ आदि चीज़ें *चारा* या *लहासा* (लासा-लसदार चिपकने वाला पदार्थ) कहाती हैं। हेमचन्द्र ने देशी नाम माला (७।१८) में वृत्त

---

१. व्याधाः कहारकाः पुष्टाः कृष्णं संवाहयन्ति ये। (जैमिनि कृत भारत संहिता, अश्वमेध पर्व, अध्याय १०)'

२. मीन मानौ बेधि **बंसी** करत जल झकझोर।

(सूरसागर, ना० प्र० स० १०।३५८)

के दूध के अर्थ में देशज शब्द *'लसक'* लिखा है। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अँग्रेजी कोष (पृष्ठ ८९९) *'लसीका'* शब्द लिखा है और अर्थ किया है 'गन्ने का रस'।

दूध और रस चिपकदार पदार्थ हैं। 'मुँह की लार' के लिये मोनियर विलियम्स ने 'लासिका' शब्द भी लिखा है। लासे की भाँति ही मुँह की लार भी चिपकदार होती है। संभवतः *'लासा'* शब्द देशी 'लसक' से विकसित है।

ल्हासे या लासे में मछली बड़ी इच्छा से आ कर मुँह मारती है। वह उससे बिलकुल चिपट जाती है। वास्तव में लासा मछली के लिये विशेष आकर्षण है। अतः अलीगढ़ क्षेत्र की जनपदीय भाषा में *'ल्हासा'* (लासा) शब्द अभिलाषा या आकर्षण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—

"सूने घर कौ खिरका खोल्यौ चौं मटुका सरकायौ।
अपनौ भेदु बताइदे कान्हा का *ल्हास* ते आयौ॥" लो० गी०[3]
(तहसील कोल में प्राप्त)

महाकवि सूर ने लासे के अर्थ में चेंप[4] शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि 'लासा' चिपकदार होता है और चिड़ियाँ फँसाने में भी काम आता है।

मछेरों के जाल और उनकी किस्में

एक जाल बहुत बड़ा होता है। लम्बाई-चौड़ाई लगभग १५-१५ गज होती है। इसके बहुत छोटे खाने (छेद) होते हैं। इनमें से छोटी मछली भी निकल कर बाहर नहीं आ सकती। मछेरा इस जाल को तालाब या नदी में फेंक कर बिछा देता है। इसके किनारे में लोहे के गिट्टू पड़े रहते हैं जिन्हें *गुट्टियाँ* (अनू० में), *गुड़ियाँ*, *मूंग* (खुर्जा में), *गुरियाँ या ढैया* (त० कोल में) कहते हैं। ढैयों के बोझ से जाल नीचे बैठ जाता है। नीचे बैठ जाने पर इसमें मछलियाँ फँस जाती हैं। चूँकि यह जाल फेंक कर मछली पकड़ने के काम में लाया जाता है, इसे *फेंकड़आ जाल* कहते है। इसी को *भँवरजाल*, *अदबखा* या *भँवरा* जाल भी कहते (स० भ्रमरक > भँवरअ > भँवरा) हैं।

जिस जाल के छोर पकड़ कर मछेरे पानी में चढ़ाव की ओर खींचते हैं, वह *छाँटी* (राज० में) या कढ़ेरा जाल कहलाता है। इसे ही *खचेरा या पंडी* (त० कोल में) भी कहते हैं। पंडी जाल के छेद (सं० छिद्र > छिद्द > छेद) भँवरा जाल के छेदों से बड़े होते हैं। टेनिस खेल के नेट (जाल) में जैसे छेद होते हैं, लगभग वैसे ही छेद पंडी जाल में होते हैं।

छोटे-छोटे छेदों का छोटा-सा जाल जो *छाई* नाम की बहुत छोटी मछलियों के मारने में काम आता है *घोंटी* कहलाता है। इसमें लोहे की गोल *कौड़ी* (सं० कुण्डलिका) पड़ी रहती है।

---

३. हे कृष्ण! तूने घर को सूना जान कर भी क्यों खिरका (विशेष प्रकार की किवाड़ें) खोला है और मटुका (मिट्टी का एक बर्तन) क्यों सरकाया है? तू अपना मतलब बता, किस आकर्षण या इच्छा से इस घर में घुसा है?

४. "मुरली मधुर चेंप काँपा करि, मोरचन्द्र फँदवारि॥"
—(सूरसागर, ना० प्र० सभा, काशी १०।३१८५)

बाँस की *खपंचों* (फच्चट = बाँस का चिरा हुआ टुकड़ा) से या *सरकंडों* (सं० शर-काण्ड) से एक जाल बनाया जाता है जो आकार में लम्बी और गहरी टोकरी-सा होता है। इसे मछेरा अपनी छाती के आगे दोनों हाथों से उठा-उठा कर जगह-जगह पानी में रखता है। जब मछली फँस जाती है, तब उसे हाथ से पकड़ लेता है। इस जाल को *पिलना* (खुर्जा में) या *खौंच* (त० कोल में) कहते हैं।

वह बड़ा जाल जो बड़ी-बड़ी मछलियों के पकड़ने में काम आता है *घाघी या महाजाल* कहलाता है।

यह बड़ा जाल जो बहते पानी में दीवार की भाँति खड़ा करके लगाया जाता है *पटिया* कहलाता है। पटिया जाल मछली को बहाव की ओर जाने से रोकता है।

बड़े-बड़े खानों का जाल एक बड़ा जाल *रुधेरा* कहलाता है। रुधेरे में बड़ी मछलियाँ ही फँसती हैं।

बड़ी मछलियों के पकड़ने के लिये एक जाल *चिरेला* भी होता है। इसके खाने गोल न होकर लम्बे-लम्बे आयताकार होते हैं। इसकी डोरी पतली और *चिरेला* (चिरी हुई) होती है।

मुर्गियाँ ढँकने वाले टापे की भाँति का डोरियों से बुना हुआ जाल *टाप, चक्करिया, कलक्का, खोरा* या *लुक्का* कहलाता है। यह पानी में चक्कर बाँध कर नीचे बैठता है और जो मछलियाँ उसके नीचे आ जाती हैं वे ही फँस जाती हैं। इसके ऊपर ठीक बीच में एक रस्सी बँधी रहती है, जिससे जाल खिचता है। उस रस्सी को *बिचासी* कहते हैं।

एक जाल झोलीनुमा होता है जिसके ऊपरी भाग में तीन डंडियाँ बँधी रहती हैं। इसे *हँसी या तिखूँटिया* कहते हैं। वह बन्द या उथले पानी में भूड़ियाँ (छोटी मछलियों की एक जाति) पकड़ने में काम आता है।

छोटी-छोटी मछलियाँ पकड़ने के लिये एक जाल और होता है जिसके खाने भी बहुत छोटे और गोल होते हैं, उसे *छिगा* कहते हैं।

मछेरों की अन्य सामग्री

मछेरों के पास एक बड़ी टोकरी होती है जिसका पेट बड़ा और मुँह छोटा होता है। इसे *झल्ली, कंडी, कंडरी, कुन्नी* या *कोन्नी* कहते हैं। कोन्नी में ही मछेरे पकड़ी हुई मछलियों को इकट्ठा करते जाते हैं। *कंडुरी* शब्द सं० करण्डोलिका से व्युत्पन्न है। मोनियर विलियम्स ने अपने कोष (पृष्ठ २४६) में बाँस या बेत की टोकरी के अर्थ में '*करण्डोल*' शब्द लिखा है (स० करण्डोलिका > करण्डोलिआ > करण्डोरिआ > करण्डोरी > कँडुरी)। छोटी झल्ली जिसमें पकड़ते समय ही कुछ मछलियाँ रखी जाती हैं *पल्लू* या *पालू* (सं० पलव = एक टोकरी—मों० वि० कोष) कहलाती है।

कोन्नी शब्द सं०, *कुवेणी* से सम्बन्धित ज्ञात होता है। अमरकोश ("मत्स्याधानी कुवेणी स्यात्" अमर १।१०।१६) में मछली रखने के पात्र के लिये कुवेणी शब्द आया है। मछली के पेट में से आँतें आदि निकाली हुई चीजें *गिच्च* या *गिलचा* कहलाती हैं। पोखर या नदी के किनारे मछेरे मछलियाँ फँसाने के लिये एक गड्ढा खोद लेते हैं। उसे

डबरा या *खड्डा* कहते हैं। पानी के सहारे जहाँ मछलियाँ किनारे के पास अंडा देती हैं वह जगह *थलिया* या *बिजना* कहलाती है। पकड़ी हुई मछलियों को बहँगी में रख कर मछेरे घर ले आते हैं।

मछेरों के पास चिरे हुए बाँस की एक छोटी झल्ली होती है, उसे *बहँगी* (सं० विहंगिका) कहते हैं। बहँगी के दोनों सिरों से एक पर *सन* (सं० शण) की रस्सी का बना हुआ *छींका* (स० शिक्यक > छिक्कअ > छिक्का > छीका > छींका) लटका रहता है। दूसरे सिरे पर एक छोटी-सी जालदार *झोली* (स० झालिका) लटका रहती है जिसे *जलिया* या *जाली* (सं० जालिका) कहते हैं। मछेरा छींके में अपनी झल्ली या कोन्नी रखता है और जलिया में अपना खाना और कपड़े आदि रख लेता है। वह खाना *टोसा* और कपड़े *टम्बर* कहलाते हैं।

मछलियों के नाम

किसी किसी मछली की देह पर इकन्नी-दुअन्नी जैसे सफेद खोपटे बने रहते हैं। उन्हें *चित्ता*, *खपरा*, *छिक्काल* या *सिन्ना* कहते हैं। किसी-किसी के गाला पर या दूसरी जगह एक लम्बी और सख्त नुकीली चीज़ उठी रहती है जिसे काँटा कहते हैं। जिस मछली के देह पर छिक्कल नहीं होते, वह *नंगी* कही जाती है।

रेंही या *रोहू* मछली का मुँह गोल और छिक्कल लाल होता है। इसकी देह का रंग कुछ-कुछ सुनहरा होता है। मछेरों का कहना है कि यह स्वाद में बढ़िया होती है (सं० रोहित > प्रा० रोहिअ > रोही)। एक बड़ी मछली जो वजन में २५ सेर के लगभग होती है *पनडियास* कहलाती है। लगभग २५ सेर की छिलकादार एक मछली को *मराकी* कहते हैं। यह रंग में लाल होती है।

सार मछली रोहू की जाति में से ही है। इसकी देह के चित्ते या सिन्ने बड़े-बड़े होते हैं। *सार* शब्द सं० शाल से व्युत्पन्न ज्ञात होता है। अमरकोशकार ने शाल[५] (अमर १।१०।१६) शब्द एक ख़ास मछली के लिये ही लिखा है।

चौड़े मुँह की सिन्नेदार मछली जिसका वजन ५ सेर के करीब होता है *मल्ली* कहलाती है। तलवार की भाँति की एक मछली *हैंसिया*, *आरी* या *तेंगिया* कहलाती हैं। हैंसिया[६] (दराँत), आरा और तेंग की शकल एक-सी ही होती है। श्रौतसूत्र में '*असिद*' शब्द हैंसिया के लिये आया है।

जिस मछली की देह स्याह, पीली और सफेद रंग की होती है और इकन्नी की तरह के छिक्कल होते हैं वह *सौरी* या *सौर* कहाती है (सं० शकुल > सउर > सौर)। सौर से मिलती जुलती एक मछली *गिरई* होती है। सौर और गिरई दोनों मीठे पानी की मछलियाँ हैं।

---

५. "रोहिनो मद्गुरः शालो राजीवः शकुलस्तिमिः।"—(अमर० १।१०।१६)

६. **हैंसिया, हसिया** या **दराँत** एक प्रकार का लोहे का औज़ार है। '**हसिया**' शब्द वै० सं० 'असिद' से और **दराँत** वै० स० दात्र (हस्ते दात्रं चनादर्दे-ऋक् ८।७८।१०) से व्युत्पन्न है।

सिंगाड़ मछली देह में ऊपर काली और नीचे सफेद होती है। इसके गालों पर दाईं-बाईं ओर पैनी मूँछे-सी होती हैं और पीठ पर काँटा उगा रहता है। वजन २५ सेर होता है सम्भवतः सिंगाड़े की भाँति काँटा होने के कारण ही इसे *सिंगाड़ा* (सं० शृंगाटक > प्रा० सिंघाडग > सिंघाडअ > सिंघाडा > सिंगाड़ा) नाम से पुकारते हैं।

रोहू, सार और सिंगाड़ा नाम की मछलियाँ पानी में पैंदे (तली) पर रहती हैं। अतः भँवरा जाल से ही पकड़ी जा सकती हैं। रोहू की भाँति *नयना* और *हिलसा* कड़ी हड्डी की मछलियाँ हैं और मीठे पानी में रहती हैं।

छोटी मछली जिसका आकार मेंढ़की से कुछ बड़ा होता है *सहरी* (सं० शफरी) कहलाती है। तुलसी कृत 'कवितावली' में सहरी शब्द मछली के लिये ही आया है। रामचन्द्र जी के चरणामृत का प्रेमी केवट *सहरी* नाम की मछलियाँ मारा करता था।[७]

सिन्नेदार सेर-सवा सेर वजन की एक मछली *दरम्मा* और स्याही माइल एक छोटी मछली *अंडोरी* कहलाती है।

लाँची नाम की एक मछली होती है जो *लीलेमन सेत* (सफ़ेद रँग में कुछ नीले रँग की भी झलक होना) होती है। इसकी देह बड़ी चिकनी और चमकीली होती है। इसका मुह चौड़ा होता है और मूँछे भी होती हैं।

एक मछली जिसकी सारी देह ऊपर-नीचे बिलकुल काली ही होती है *कलौंट* कहलाती है।

एक मछली जिसकी देह पर छिक्कल होते हैं और रँग में सफेद होती है *खरखी, मोह, मोअ या मोइ* कहाती है। यह लम्बाई में आध गज़ से कुछ अधिक होती है। देह की पतली होती है तथा इसका मुँह छोटा होता है। वज़न में यह लगभग २० सेर होती है।

सेर और *महासेर* नाम की भी मछलियाँ होती हैं। सेर महासेर से छोटी होती है। महासेर रोहू से *सिजल* (बड़ी और भारी) होती है। यह रँग में स्याह और पीली होती है। लम्बाई २—२½ गज़ होती है।

तहसील अनूपशहर और राजघाट के बीच में गंगा नदी में एक विशेष प्रकार की मछलियाँ पाई जाती हैं जिन्हें *कचवा* कहते हैं।

छछूँदर के मुंह की भाँति लम्बे मुंह की मछली *सूँसा* कहलाती है। अमरकोश (१।१०।१८) में ' *शिशुक* शब्द मछली के अर्थ में ही लिखा है। संभवतः *सूंसा* शब्द सं० शिशुक से ही सम्बन्धित है। सूँसा की बगल में *पखनों* (परों) की जगह पंजे होते हैं।

पाढ़ि नया पाढ़ीना मछली बड़ी होती है। इसके मुंह में कई डाढ़ें (सं० दंष्ट्रा) होती हैं। *पाढ़ीना या पाढ़िन* शब्द सं० पाठीन से सम्बन्धित है (सं० पाठीन > प्रा० पाढीण > हिन्दी पाढ़िन) अमरकोशकार ने पाठीन को सहस्र दंष्ट्र (अमर० १।१०।१८)

---

७. "पातभरी सहरा सकल सुत बारे-बारे।
केवट की जाति कछू वेद न पढाइ हौं।"
(कवितावली, रामनरायण लाल, इलाहाबाद सं० १९८८ वि० का द्वितीय संस्करण, अयोध्या काण्ड, छन्द ८)

भी लिखा है। तुलसीकृत रामचरितमानस का गुह नाम का निषाद *पाठीन* मछलियों की भेंट के साथ ही भरत जी से मिलने चला था।[८]

सिंगी, सींगा या *सींग* मछली लाल रँग की होती है और उसके गालों पर जबड़ों के पास काँटे होते हैं। यह आकार में छोटी और वज़न में दो सेर होती है। *छिम्मा* भी इसी की जाति की मछली है। छिम्मा देह की गोल और चपटी होती है।

छिलका रहित काली और चौड़े मुंह की मछली *गूंज, गौंछ* या *गौंच* कहलाती है।

सेत (सं० श्वेत) रँग की लम्बी टाँगों वाली एक मछली *झींगा* कहलाती है। बिज्जू (एक जानवर जो आकार में बिल्ली-सा होता है) की-सी शक्ल वाली मछली *बिजुआ* कहलाती है।

एक मछली *पल्ला* भी कहलाती है जिसकी देह का रँग सुनहरा होता है।

सभवतः इसी मछली के मास को सस्कृत में *पलल*[९] (स० पलल=कच्चा मांस—मो० वि० कोष) कहते हैं।

काले रंग की एक मछली जिसकी पीठ पर एक काँटा ही होता है *ककड़ा* कहलाती। *कंघी* नाम की मछली की रीढ़ में दोनों ओर कंघी के दांतों की भाँति काँटे निकले रहते हैं।

बाम मछली साँप की तरह लम्बी होती है। इसकी देह पर सफेद चित्तियाँ-सी चमकती हैं। यह १½ फुट के लगभग लम्बी होती है। देह का रग *करछौंहा* (कुछ-कुछ काला) होता है। इसकी पीठ पर कघीनुमा झालर होती है जो पूँछ तक फैला रहती है।

बेकड़ी मछली देह में लाँची की भाँति होती है, इसके मूँछें (स० श्मश्रु) नहीं होती हैं।

भाँगन नाम की मछली चपटी और सफेद होती है जो तोल में १ छटाँक होती है। मेंढकी के आकार के बराबर की भी मछलियाँ होती हैं जिन्हें *छाई या भूड़ी* कहते हैं। पाव सेर की एक छोटी मछली *पेपटा* कहलाती है। *फुँका* भी पेपटा के समान ही होती है।

ललौंही देह, चौड़े मुँह और स्याह पेट वाली मछली *कँटीला* कहलाती है। एक मछली जिसकी गर्दन के ऊपर काँटा होता है *कटेरू* कहलाती है। जिसके गोश्त में बहुत से काँटे होते हैं, वह *कँटला* कहलाती है।

केड़ या केड़ल नाम की मछली सफेद रंग की होती है और उसके मुँह पर मूँछें उगी होती हैं। यह छोटी नस्ल की होती है और तोल में लगभग पाव सेर बैठती है।

साँप की सी शक्ल की काले रंग की एक मछली *गेंड़* कहलाती है। *अंडला* नाम की मछली भी साँप-सी होती है। यह बाम की ही जाति की है जो नदी के किनारे की कीचड़ में रहती है।

---

८. "मीन पीन पाठीन पुराने। भरि-भरि भार कहारन आने।"

(तुलसीकृत रामायण, रामनारायण लाल इलाहाबाद, मूल गुटका, द्वि० सं०, अयोध्या काण्ड पृष्ठ ३५७)

[पाढीण-पु० (सं० पाठीन। मत्स्य की एक जाति—पाइअ सद्दमहण्णवो कोष पृष्ठ ७२४]

९. मघासु पललौदनम् (पाणिनि सू० २. ३. ४५ की वृत्ति काशिका, संस्कृत चौखम्बा पुस्तकालय बनारस सन् १९५२ पृष्ठ ११७)

नरैन मछली की देह पर इकन्नी के से चित्ते होते हैं। इसकी आँखें बड़ी होती है। इसे *नैनी* भी कहते हैं। यह रोहू की भाँति बड़ी मछली है जो तोल में लगभग २५ सेर होती है।

चपटी देह की काँटेदार एक मछली *पटरा* कहलाती है।

गौंगना मछली नदी या ताल के पैंदे (तली में) रहती है। यह लम्बी कम और मोटी अधिक होती है।

इनके अतिरिक्त *कलौंजा, चालि, भद्दा, ककैया,* और *कटिया* नाम की मछलियाँ होती हैं।

प्रत्येक मछली का शरीर तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(१) सिर, (२) धड़, (३) पूँछ। धड़ की दाहिनी और बाईं ओर पंखीनुमा पर होते हैं जो तैरने में सहायक होते हैं। इन्हें *पखनियाँ* या *सुफने* कहते हैं। मछली की पूँछ पर भी *सुफने* होते हैं। किसी-किसी मछली को देह पर खाल नहीं होती, बल्कि दुअन्नी या अठन्नी जैसे सख्त चित्ते होते हैं जो *छिलके, खपरे, सिन्ने,* या *सेहर,* कहलाते हैं। छिलकोंवाली मछलियाँ *छिलकिया, सिन्नेली* या *खपरैली* कहलाती हैं। ये सिन्ने एक दूसरे पर चढ़े रहते हैं। *मेढकी, चँदवा* और *कवई* नाम की मछलियों के सुफने बड़े कड़े होते हैं।

मछली के भाई बन्द और वैरी

कछुओं की एक विशेष जाति *पतला* या *पातला* कहलाती है। छिपकली की शक्ल पर एक बड़ा जानवर *मगर मच्छ* (सं० मकर मत्स्य) या *भौंट* कहलाता है।

चींटी की शक्ल का एक पानी का कीड़ा जो मछलियों के छोटे-छोटे बच्चों को खा जाता है *झोला* कहलाता है।

पानी का एक कीड़ा और होता है जो मछलियों के अंडों को नष्ट कर देता है, उसे *पनचोर* या *पनचुरा* कहते हैं।

हनुमान बाहुक

श्री तारकनाथ अग्रवाल, कलकत्ता

'बाहुक' भक्त प्रवर तुलसीदास जी के अन्य ग्रन्थ 'बरवै', 'दोहावली', और 'कवितावली' की भाँति एक संग्रह ग्रन्थ है। यह अब तक की हिन्दी खोज रिपोर्ट के आधार पर दो रूपों में प्राप्य है। इसका एक रूप स्वतंत्र ग्रन्थ का है और दूसरा रूप है कविता वली के परिशिष्ट का। 'बाहुक' और 'कवितावली' का एक विशेष स्थान तुलसी की रचनाओं में इसलिये है कि इन ग्रन्थों में उनके जीवन संबन्धी उन घटनाओं के वर्णन हैं जो उनके अन्य ग्रन्थों में अप्राप्य हैं। लेकिन खेद है कि इन ग्रन्थों में न तो स्वयं तुलसीदास जी ने कहीं रचना काल का उल्लेख किया है और न अब तक 'मानस' की तरह स्वयं तुलसीदास जी की हस्त लिखित ऐसी कोई प्रति प्राप्य है जिसके आधार पर कहा जा सके कि इन ग्रन्थों का रचना काल क्या था।

हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट को देखने से इसकी निम्नलिखित प्रतियों की प्राप्ति की सूचना मिलती है :—

नं० १ चुनार के पं० भानुप्रताप तिवारी के पास सं०१८६७ की लिखी हुई प्रतियों,

न० २ फतेहपुर, छुर्णयाना में पं० महावीर प्रसाद दीक्षित के पास सं० १६०७ की लिखित प्रति,

नं० ३ काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित प्रति जिसमें लेखन काल नहीं दिया हुआ है,

नं० ४ अवध, बहराइच में ठाकुर जयबक्स सिंह के यहाँ सं० १६३२ की लिखी हुई प्रति,

नं० ५ रायबरेली, पो० गोविन्दपुर में पं० बैजनाथ जी के पास सं० १६२६ की लिखित प्रति,

नं० ६ सुल्तानपुर, पो० अलीगंज बाजार के निवासी पं० भवानी मिश्र जी के पास सं० १८७८ की लिखि हुई प्रति,

नं० ७ अवध, सुल्तानपुर, पो० पीपरपुर के रहने वाले पं० भागीरथी पाण्डेय के पास सं० १८२५ की प्रति,

नं० ८ अवध प्रतापगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित सं० १७६७ की प्रति,

नं० ६ काशी के पं० विजयानन्द त्रिपाठी के पास सं० १८७० की प्रति,

नं० १० कलकत्ता के ऐशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित सं० १८४६ की प्रति। इस प्रति का उल्लेख हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट में नहीं है।

उपर्युक्त ज्ञात प्रतियों में से डा० माताप्रसाद गुप्त को सं० १७६७ की प्रति देखने का अवसर मिला है। इस प्रति के पाठ के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "मिलाने पर इसमें मुद्रित पाठ के कुछ छंद नहीं मिले, और इस पाठ के अंतिम भाग में जिस क्रम से छंद संकलित किए गए हैं वह क्रम भी मुद्रित पाठ में पूरा-पूरा नहीं मिलता।"[१]

सं० १८७० वाली प्रति को डा० माता प्रसाद गुप्त उपर्युक्त प्रति से अधिक महत्त्व पूर्ण बताते हैं। वे कहते हैं कि "मुद्रित पाठ से इसके पाठ में बहुत अन्तर है। इसमें न केवल दूसरी प्रतियों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम छंद हो हैं, वरन् उनका क्रम भी कुछ भिन्न है। यह अन्तर बाहुक के अन्तिम भाग में है, जिसमें कवि के जीवन से सम्बन्धित बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। छूटे हुए प्रसंगों में सबसे मुख्य महामारी, बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की पीड़ा, बन्तोड़ के फोड़ों तथा कवि की (संभवतः परलोक) यात्रा के हैं। इसका कारण कदाचित् यह है कि जिस आदर्श की यह प्रतिलिपि है, उसका पाठ अन्य पाठों से पूर्व का है। अतः इस प्रति के महत्त्व और मूल्य की अत्युक्ति नहीं का जा सकती।"[२]

प्रस्तुत लेखक को इस कृति की उल्लिखित नं० १० वाली प्रति को भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

"इति श्री तुलसीदास कृत हनुमान बाहुक सपुर्ण शुभमस्तु श्री सीतारामचंद्राय नमः। लिषा बाहुक वैसाष मासे कृष्ण पक्षे दुतिआ तिथौ भौम वासरे संवतसर १८५६ ॥शुभ॥"

लेखन तिथि के हिसाब से ज्ञात प्रतियों में इसका स्थान चतुर्थ है। यह जानते हुए भी कि मुद्रित प्रति में उसके मुद्रण के आधार का अभाव है, (संभव है नं० ३ के आधार ही पर मुद्रण हुआ हो) उपर्युक्त नं० १० वाली प्रति को मुद्रित प्रति से मिलाने पर ज्ञात हुआ कि इस हस्तलिखित प्रति में पदों की संख्या ७३ होने पर भी मुद्रित प्रति के सब ४४ पद इस प्रति में नहीं प्राप्त हैं। मुद्रित प्रति के पद संख्या ३, ४, ५, ६, ८, १०, ११, १२, १६, १७, १८, २१, ३१, ३६, तथा ४१ इस हस्तलिखित प्रति म नहीं हैं। इस प्रति के छंद संकलन का क्रम भी मुद्रित प्रति से नहीं मिलता।

हस्त लिखित तथा मुद्रित प्रतियों के छंद संकलन में निम्नलिखित व्यतिक्रम हैं :—

हस्तलिखित प्रति के छंद				मुद्रित प्रति के छंद			
६	३३	४१	५४	१	२७	२६	१४
१०	३४	४२	५५	२	२८	२०	१३
११	३५	४७	५६	७	२६	२४	३६
१२	३६	४८	५७	६	२३	२२	४२
३०	३७	५०	६१	२५	३३	१६	३५
३१	३८	५२	६२	३७	३२	३८	४३
३२	४०	५३	६३	३०	३४	१५	४४
							४०

१. तुलसीदास—तृतीय संस्करण डा० माता प्रसाद गुप्त पृ० २२७
२. वही—पृ० २२८

इस प्रति में प्रथम छन्द के केवल अन्तिम तीन शब्द ही प्राप्य हैं। अतः इस प्रति का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :—

"न छेमकरी है ॥१॥ मंगल की रासि परमारथ की पानि जाकी विरचि बनाइ विधि केशव बसारी है। प्रलय हूँ काल राषी सूल पानि त्रिसूल पर मीच वसै नीच सोऊ चाहत घसाही है। छाड़ि छिति पाल जो परिछित भये कृपाल बलोकियो पल को निकाही सोरी सारी है। पाटि हनुमान करुनिधान राम पाहि कासो काम धेनु कलि कुहत कसारी है ॥२॥"

"न छेमकरी है" से इस ग्रन्थ का प्रारम्भ यह सिद्ध करता है कि यह 'बाहुक' कविता वली का परिशिष्ट है क्योंकि कवितावली की मुद्रित प्रति के १८० वे पद के अन्तिम चरण के अन्तिम हिस्से में उपर्युक्त शब्द आते हैं। इसी प्रकार इस प्रति के छन्द २, ३, और ४ मुद्रित कवितावली के छन्द १८१, १८२ और १८३ से क्रमशः मिलते हैं।

'बाहुक' में कवि द्वारा वर्णित विषय प्रायः सभी प्रतियों में एक सा है। डा० माता प्रसाद जी गुप्त ने जिन दो प्रतियों को देखा है उनमें से एक सं० १७९७ वाली प्रति के विषय के सम्बन्ध में उन्होंने कोई स्पष्ट मत नहीं प्रकट किया है। लेकिन सं० १८२० वाली प्रति के सम्बन्ध में वे स्पष्ट कहते हैं कि बाहुपीड़ा के बाद की अन्य अगों की पीड़ा के और बरतोड़ के छन्द इस प्रति में नहीं हैं।[३] लेखक द्वारा देखी हुई प्रति में सिर की पीड़ा,नेत्रों[४] की पीड़ा,[५] कानों की पीड़ा,[६] दाँतों की पीड़ा[७] तथा छाती की पीड़ा[८] का वर्णन है। अन्त में छन्द संख्या ५० में कवि "पाय पीर, पेट पीर, पीठि पीर, मुष पीर, बाह पीर सकल सरीर पीर भई है" कह कर सारे शरीर की पीड़ा की ओर संकेत करता है। मुद्रित प्रति की भाँति इस

३. तुलसादास—तृताय सस्करण डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० १८५

४. करम के पाप परिताप किधौं आपहुते बढ़ी सीस पीर सोतो महादुष पाई है।
जत्र मंत्र टोटकादि औषदि अनेक कीन्हे घटतन नेकु मानो और बलपाई है।
तुलसी कहत करजोरि छल छाड़ि नाथ तुमते न बली जग और अधिकाई है।
बिनै मान महावार दूरि कीजै सीस पीर रामदूत तेरो जस सर्व बेद गाई है।१५।

५, लोचन पीर प्रवेस करै तप पंडति लोग सुनो परमाना।
औषद मूल बिचारि हिये करु मारुतनंदन को पद ध्याना।
होहहि लोचन स्वछ सोहावन मेटिहि पाप व्यथा बलवाना।
रामकृपाल पाइ प्रतीति सदैव भजो तुलसी हनुमाना। १९।

६. कर्म के प्रभाव किधौ काल के सुभाव किधौ रोष के प्रभाव की है विप्र अपमान की।
परनारि नेह किधौ नीच गेह भोग कैधो गवनो तुम धोपे प्रेरो काहू अशाभ की।
तुलसी पुकारि कहै भागुरे निगोड़ी पीर स्रवन समीप देपु पाय बलवान की।
आन कपिराज की सपथ सत समाज की दोहाई हनुमान की जो रहै पीरा कान की। ॥२३॥

७. कुलकै कपट कैधो मोह कै दपट कैधो रोष कै झपट ते प्रगट भई पातकी।
विप्र मन भंग कैधो बसे नीच संग कैधो साधु सो विवाद कीन्हो झूठि हठि बातकी।
तुलसी कहहि ऐसे संभव तरह रोग आवै भागु भागु बानि जानी जात की।
आन हनुमंत की सपथ बलवंत की दोहाई महावीर की जो रहै पीर दंत की ॥२७॥

८. रचि के सुवेष ठगे सज्जन दिजन्ह कैधौ मित्र सो विरोध कीन्हे लागी परपानी को।
कैधौ कुलवंति नारि गृहते निकारि दीन्हो प्रीति मानि चेरिन्ह ते अति नीच जाति को।
तुलसी कहत कैधौ प्रेरि आई काहू दुष कै महा अपराध कैधौ दिज दुप घानी को।
पापिनी निसाचरी सी जानि कै कृपा निधान महावीर दूरि कीजै पीर बड़ी छाती को। ४६।

प्रति में भी कवि अपनी पीड़ा को उसी प्रकार हरने की प्रार्थना करता है जिस प्रकार वर्षा का जल जवासे को जला डालता है, जो सिद्ध करता है कि पीड़ा वर्षा ऋतु में हुई थी। कवि की यात्रा (संभवतः परलोक) का पद भी इस प्रति में मुद्रित प्रति की भाँति प्राप्त है। लेकिन बरतोड़ के फोड़ों का वर्णन इसमें नहीं है। इस प्रति की छंद संख्या ५५ (मुद्रित प्रति की छन्द संख्या ३६) में कवि कहता है कि राम की कृपा से उसकी पीड़ा का अन्त हो गया। लेकिन इस (हस्तलिखित) प्रति का अन्त मुद्रित प्रति की भाँति पीड़ा के अन्त के साथ-साथ पाँच पदों के बाद नहीं होता। इस छन्द के बाद भी इस प्रति में १८ और छन्द शेष रह जाते हैं और तब ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है डा० माता प्रसाद गुप्त को दो हस्तलिखित प्रतियों को देखने का अवसर मिला है। इनमें से वे सं० १८७० वाली प्रति को इसलिये अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाते है कि इसका पाठ अन्य पाठों से पूर्व का है, जिसका कारण उनके मतानुसार सं० १८७० वाली प्रति में बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की पीड़ा, बरतोड़ के फोड़ों तथा कवि की (संभवतः परलोक) यात्रा के पदों का अभाव है। लेकिन सं० १८७० वाली प्रति को, केवल उपर्युक्त अभावों के कारण सं० १७९७ वाली प्रति से भी, जो प्रायः ७३ वर्षों पूर्व लिखी गई थी अधिक महत्त्वपूर्ण बताना समीचीन नहीं ज्ञात होता। संभव है कि भविष्य में सं० १८७० वाली प्रति के आदर्श की अन्य प्रतियाँ मिलें और वे प्रतियाँ स०१७९७ वाली प्राप्य प्रति से भी प्राचीन हो। तभी यह साधिकार कहा जा सकेगा कि सं० १८७० वाली प्रति का पाठ अन्य पाठों से पूर्व का है।

प्रस्तुत प्रति में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कवि की परलोक यात्रा का पद प्राप्य है। इसके आधार पर बाहुक के लेखन काल का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रति में पदों का क्रम कुछ ऐसे ढग से है जो प्रत्यक्ष सिद्ध करता है कि 'हनुमान बाहुक' कवि द्वारा स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत न होकर कवितावली के साथ ही साथ प्रस्तुत हुआ था, और सम्भव है कि परवर्ती लेखको ने कवितावली के ही उन पदों को जिनका सम्बन्ध तुलसीदास जी की बाहु पीड़ा से था अलग कर 'हनुमान बाहुक' नाम करण किया हो, क्योंकि इस प्रति में प्रारम्भ के पदों की भाँति अंतिम कुछ पद[१] भी ऐसे हैं जिनका उल्लेख कवितावली में है। अस्तु,

---

१. सोक समुद्र निमज्जत काढ़ि कपीस कियो जग जानत जैसो।
नीच निसाचर बैरी क बधु बिभीषन कीन्ह पुरंदर तैसो।
नाम लिए अपनाइ लियो, तुलसी सो कहौ जग कौन अनैसो।
आवत आरति भंजन राम गरीब नेवाज न दूसर ऐसो ॥६६॥
तेरे बेसाहे बेसाह न औरहि तेरे बेसाहे को बेचनि हारो।
सोच रसातल भूमि परे नृप कूर कुसाहेब हे तेहि प्यारो॥
तुलसी तेहि सेवत कौन मरै रजते लघु को करै मेरु तें भारे।
स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसो तुही दसरत्थ-दुलारे ॥६७॥
पदंबुज मंजु बनी पनही धनुही सर पंकज पानि लिये।
लरिकन सँग खेलत डोलत है सरजू तट चौहट हाट हिए।
तुलसी अैसे बालक सो नहि नेह कहा जग जोग समाधि किए।
नर उकरसू स्वान समान कहो जग मैं फल कौन जिए ॥७१॥

यदि इस प्रति को 'कवितावली' का ही एक अंग मान लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि यह उस 'कवितावली' की प्रति का अंग है जिसमें मीन की सनीचरी का छंद प्राप्य है तब तो 'बाहुक' की रचना तिथि सं० १६६६ से सं० १६७१ के मध्य ठहरती है।[१०] यदि केवल इस प्रति में प्राप्य पदों के ही आधार पर 'बाहुक' की रचना तिथि पर विचार किया जाय तब भी 'नि छेमकरी है' शब्दों का उल्लेख सिद्ध करता है कि यह कवि के महा प्रयाण कालीन पद का अंतिम अंश है।

"कुंकुम रंग सु अंग जितो मुख चंद सों चंद सो होड़ परी है।
बोलत बोल सबृद्धि चुवै अवलोकत सोक बिसाद हरी है॥
गौरी कि गंगा बिहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचनि छेमकरी है॥"

तुलसीदास जी की निधन तिथि के सम्बन्ध में जनश्रुति कहती है कि इनकी मृत्यु सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को काशी में असीघाट पर हुई थी :—

"संबत् सोलह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे शरीर॥"

लेकिन 'मूल गोसाईं चरित' में इसी संवत् को मान्यता देते हुए भी निधन तिथि श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार मानी गई है :—

"संबत् सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे शरीर॥"

(मूल गोसाईं चरित ११६)

कवि की निधन तिथि चाहे तीज हो, चाहे सप्तमी[११] लेकिन है सं० १६८० में ही। अतः उनके सारे शरीर में पीड़ा जिसका उल्लेख इस प्रति में है अवश्य १६८० के पहले हुई होगी। और इस अनुमान पर 'बाहुक' की रचना भी १६८० के प्रथम हुई होगी इसे मानने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

---

१०. मीन की सनीचरी चैत्र शुक्ला २, सं० १६६६ से ज्येष्ठ, सं० १६७१ तक पड़ती है।
तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २६०

११. गणना के अनुसार तिथियों का निश्चय डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास' के परिशिष्ट में (पृ० ५१४-५१५) किया है।

आचार्य हरिसेवक और उनका ग्रन्थ कामरूप चरित्र

श्री गंगाप्रसाद कमठान, धौलपुर

भारतीय कथा साहित्य के उद्‌गम तीन हैं—पहला उद्‌गम वैदिक तथा उससे सबंधित साहित्य है, दूसरा, जैन-बौद्ध और अन्य साहित्य है, तथा—तीसरा उद्‌गम स्वतंत्र कहानियों का है; ये कहानियाँ दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं :

एक अति नैतिक कहानियाँ और दूसरी साहित्यिक कहानियाँ।

साहित्यिक कहानियों की झीनी-झीनी चादर हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों पर धूप छाँह की तरह पड़ी हुई है।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की धारा में प्रबन्ध काव्य की शैली में दो धाराएँ सुस्पष्ट रूप में दिखाई देती हैं :

एक प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य जैसे, पद्मावती आदि और दूसरी अन्य जैसे, रामचरित-मानस आदि।

ओरछा के राजकवि हरिसेवक कृत 'कामरूप चरित्र' प्रेमाख्यानक महाकाव्य, प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य की कोटि में आता है।

इस प्रेमगाथा काव्य में कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के अनुसार विभक्त न हो, बराबर चली चलती है। केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। कथारम्भ के पहले 'गणेश-स्तुति' है और मसनवी के अनुसार उस काल के राजा की प्रशंसा गाई गई है।

'कामरूप चरित्र' प्रेम कहानियों की पूर्व परम्परा पूरबी हिन्दी अर्थात् अवधी भाषा में एक नियत क्रम के साथ केवल चौपाई दोहे में रचा गया है; किंतु साथ में सोरठा, तोटक छंद, कवित आदि अनेक छन्दों का सफल प्रयोग भी देखने को मिलता है। बुन्देल खंड में रचित होने के कारण काव्य में बुन्देली शब्दावली भी आ गई है। 'भै' या "भए" शब्द का प्रयोग पूर्वी अवधी के अनुसार अपादान और करण कारक की विभक्ति के चिह्न के रूप में हुआ है। कहीं पांच तो कहीं सात चौपाई के बाद दोहा आया है।

पुस्तक 'कामरूप चरित्र' हरिसेवक मिश्र ने ओरछा नरेश उदोत सिंह के पुत्र महाराजा पृथ्वीसिंह के मनोविनोदार्थ लिखा था। आपको रचना का परिचय देने के पूर्व आपके गच्छ, वंश परम्परा एवं समय आदि का परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है।

आचार्य हरिसेवक ने ग्रन्थ पर पूर्ण विराम लगाते समय वंश का नाम दे दिया है एवं रचना स्थान का निर्देश भी कर दिया है। वंश के नामोल्लेख वाले उद्धरण-पद्य इस प्रकार हैं :-

कुभवार इहिष्यात कुल मिश्र समावदि वंस
नगर ओरछे वसत है कृस्ना वित्तिमुनि अंस
कृस्नदत्त सुत गुननि निधि कासिनाथ परमाधन
तिनके सुत परसिध हैं केसवदास कल्यान
कवि कल्यान के तनुजहुव परमेसुर इहिनाम
तिनके पुत्र प्रसिधि महि प्रागदास गुनधाम
तिनके सुत हरिसेवक कियौ यह ग्रन्थ सुषदाइ
कवि न चूक सुधारीयौ अपनी चातुर ताइ

ग्रन्थकर्त्ता का नाम निर्देश इस प्रकार किया गया है : 'इति श्री मन महाराज कोमार पृथ्वीसिंह मनोविनोदार्थ मिश्र हरिसेवक कृते कामरूप चरिते'। 'वीरसिंह चरित्र' के अनुसार जैसा झांसी से मथुरा प्रसाद 'मथुरेश' ने बताने की कृपा की है, ओरेछा नरेश पृथ्वीसिंह का सिहासनारूढ़ होना शुभ संवत् १७९३ है तथा उनका शासन काल सवत् १८०९ तक रहा था। इधर कवि ने ग्रन्थ की समाप्ति पर उसका रचना काल भी दिया है, यथा "इति श्री कामरूप चरित्रे कथा संपूर्ण समापता सावन वदी संवत् १८०१ विक्रमी जानिए।"

अतएव कवि का अविर्भाव काल जनश्रुति के अनुसार इधर विक्रम सम्वत् १७७६ माना जाता है।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के पात्र लौकिक और अलौकिक दो प्रकार के होते हैं। 'कामरूप चरित्र' में लौकिक पात्रों का समावेश है। महाकाव्य का प्रधान चरित्र राजकुमार कामरूप स्वयं एक लौकिक प्राणी है। किन्तु फिर भी कथा के साथ अनेक अलौकिक घटनाएँ जोड़ दी गई हैं।

अवधपुर नरेश 'नरएय' निःसंतान थे, उन्होंने अनेक जप-तप किए किन्तु कुछ भी फल नहीं मिला। नगर के निकट पधारे ऋषिराज के दर्शन करने के लिए राजा ने तीर्थ यात्रा की जिनके आशीर्वाद से पटरानी 'रूपवती' के कामरूप उत्पन्न हुए। जब प्रेम मार्ग पर बढ़ा कामरूप प्रेयसी 'कामलता' को ढूँढ़ने अपने साथियों साहित सिंहलद्वीप की यात्रा कर रहा था, मार्ग में एक भयंकर तूफान के आघात से पोत छिन्न-भिन्न हो गया। कुमार के तख्ते का सहारा ले कर वह इन्द्रावती की राजधानी में पहुँचा, जहाँ नारी समाज का शासन था। रानी कुमार पर मोहित हो गई और उसे प्राणदान दे कर प्रणय भिक्षा माँगने लगी। अकस्मात एक दिन रात्रि में सोये हुए राजकुमार पर मोहित तारावती परी उसे उठा ले गई। कुमार के लोप हो जाने पर इन्द्रावती का वियोग एक शुद्ध हिन्दू विरहिणी की तरह प्रकट हुआ है :—

सुनि के सखी सबै अकुलानी;
देह ग्रेह की खबरि भुलानी।
बहुत भाँति सब ही समझावे,
रानी के मन कछू न आवे।
भोग विलास सबै विसराइ
उदासीन के भेष बनाइ।

ग्रन्थ में लौकिक पात्र प्राकृतिक हैं तथा काल्पनिक पात्र परी के रूप में आए हैं।

'कामरूप चरित्र' में सुआ नायिका 'कामलता' के विरह की परीक्षा लेने हेतु मानुस की बोली में बोलता है। जिसके स्वर से स्पंदित हो कामलता कह उठती हैं :—

कामलता ने जब कही कामकला सों बानि।
नर समान बोलतु विहंग कल धुनि देखो आनि॥

वह केवल बुद्धिबल द्वारा प्रेम की पीर की परीक्षा ही नहीं लेता, अपितु गुरु का कार्य भार वहन करता हुआ दोनों के मिलाप के लिए हंस का सा कार्य करता है :—

कामलता उठि विहगतन चितई डीढि पसारि
होत हीन जरि मिलाय सुक कागद दीनो डारि

पुरुष मात्र तीन वर्गों में बँटे मिलते हैं, नायक, दूत तथा अन्य।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की तरह कामरूप एक संभ्रात युवा और क्षत्रिय वंशी है। वह रणनीति में कुशल तथा कुशाग्र बुद्धि वाला है। कुमार की वीरता का परिचय ग्रन्थ के 'पंच-दसमो सर्ग' में मिलता है। महाकाव्य का नायक सुन्दर है। प्रेम अस्त्र को लिए प्रेम मार्ग को जीतता हुआ अग्रसर हुआ है। वह आदर्श प्रेम का प्रतीक है। यद्यपि इन्द्रावती, और तारावती उसके साथ प्रेम बन्धन बाँधती हैं, पर वह आदर्शवादी गुणों से परिपूर्ण रहता है। प्रतिनायक के रूप में तारावती का पति ही आता है। काम-जन्य-भावना से क्रोधित हो मोहित तारावती के पास से देवों द्वारा प्रतिनायक नायक को उठवा देता है। उधर कामरूप का मित्र विध्याचन्द पोत के नष्ट-भ्रष्ट होने पर सिंहलद्वीप पहुँच कर राजकुवरि कामलता का राजवैद्य बनता है तथा उसको प्रेम-पीर का उपचार करके कामरूप का चित्र बन कर उसको प्रेम बेल को सींच देता है तथा कामलता से प्रेम चिह्न के रूप में कामरूप के लिये 'मुदरी' प्राप्त कर लेता है।

स्त्री पात्र भी तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं यथा, नायिका, प्रति नायिका, तथा, अन्य स्त्रियाँ

नायिका कामलता सभ्रान्त राजकुल की युवा स्त्री, सिंहलद्वीप की राजकुमारी तथा क्षत्रपति महाराज की कन्या है। वह मर्यादा पर अडिग रह कर एक आदर्श हिन्दू नारी का ही आचरण ग्रन्थ मे आदि से अन्त तक करती है। प्रतिनायिकाएँ, तारावती, तथा इन्द्रावती गौरवर्ण तथा सुन्दर हैं। इनमें विवाहित तारावती अपने प्रेमपूर्ण कमंडल का सम्पूर्ण जल कामरूम को देना चाहती है। मनोवैज्ञानिक संघर्ष से बचे सभी पात्र जीवन की महती भावना से उद्‌बोधित हैं। कामकला दूती का कार्य करती है।

इस शृंगार रस प्रधान काव्य के पात्रों में एक अन्य नवीनता इन चरित्रों की सांकेति-कता का है। प्रत्येक प्रधान पात्र अपना लौकिक रूप रखता हुआ भी पारलौकिक सांकेतिक अर्थ भी रखता है। नायिका आराध्य ब्रह्म की शक्ति का रूप धारण कर ग्रन्थ में अवतीर्ण हुई है और नायक आराध्य शिव के रूप में। उनका मिलन कराने वाला गुरु सुआ है, जो प्रतीक रूप में आया है। अन्त में शिव और शक्ति का शुभ मिलन मानव को जन्म दे 'कामायनी' की तरह एक ऐतिहासिक संकेत कर जाता है।

कथा का संक्षिप्त परिचय

अवध नगर के राजा नरराय का पुत्र कामरूप अत्यन्त सुन्दर और एक होनहार ऋषि के आशीर्वाद से रूपवती रानी के गर्भ से जन्मा। भ्रमण हेतु आखेट करने जब वह

वन की ओर अपने छः मित्रों के साथ गया, थके राजकुमार ने वहीं पर एक स्वप्न में सिंहल-द्वीप की राजकुमारी कामलता को देखा। नायक नायिका के रूप सौन्दर्य को देख उसी प्रकार मूर्छित हो गया जैसे रत्नसेन पद्मावती के प्रथम दर्शन से हुआ था। कामलता ने अपने गले की पुष्पमाला उसके कंठ में डाल दी और वह स्वप्न में सुधि सी खो गई।

वस्तुतः ग्रन्थ में आचार्य शुक्ल की बताई प्रेम पद्धति का चौथा रूप 'स्वप्न-दर्शन' द्वारा उभरा और निखरा है। नायक और नायिका दोनों मिलन के लिए आतुर देखे जाते हैं। स्वप्न से जाग्रित अवस्था में आ राजकुमार फारसी मसनवियों की कथा के नायक के समान खटपाटी लेकर बैठ जाता है। उसके सभी साथी तथा पिता उसकी विरह चिन्ता को दूर करने के लिये प्रयत्न करते हैं और योजनाएँ बनाते हैं। इसी बीच सिंहलद्वीप से आए एक ब्राह्मण द्वारा कामरूप को ज्ञात होता है कि सिंहलद्वीप की कुमारी भी स्वप्न में किसी कुमार को देख इसी विरहावस्था को पहुँच गई है।

कामरूप मित्रमंडली सहित सिंहल की यात्रा करता है किन्तु भाग्य चक्र में उठा धूमकेतु चमक जाता है। पोत नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, नायक साथियों से बिछुड़ नगरों की सैर करता है, तथा अनेक लघुकथाओं को अपनी प्रबन्ध कथा में जोड़ता हुआ जब सिंहलद्वीप के समीप पहुँचता है तो सभी साथी एक-दूसरे से मिल जाते हैं, जो अपनी-अपनी कथनी और करनी कहते चलते हैं।

सुआ दूत का कार्य सम्पन्न कर सन्देश देता है सिंहलद्वीप में स्वयंवर सजता है। अन्त में वर-वधू रूप में नायक-नायिका विवाह मंडल की शोभा बढ़ा कर एक पुत्र को जन्म दे कर जनक-जननी के पद पर पहुँचते हैं और अपने देश को गमन करते हैं।

प्रत्येक लघुकथा के अन्त में शीर्षक रूप में आगे की और कुछ पिछली घटनाओं की ओर संकेत देते हुए ग्रन्थकार ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में पद्मावत शैली की परपाटी अपनाई है।

साथ ही जहाँ पर प्रत्येक मित्र अपनी कथा को समाप्त करता है और घटित घटनाओं का उल्लेख करता है वहाँ भी इसी प्रकार के कोलोफन लेखक ने दिए हैं। कामरूप चरित्र प्रति की पत्र संख्या २०२ है। प्रति पत्र में चौदह पंक्तियाँ हैं तथा प्रति पंक्ति में ३४ अक्षर हैं। इसका साइज़ १०½" × २०" है।

पाणिनि के संज्ञा-शब्द-निष्पादक सूत्र

श्री रामाशंकर भट्टाचार्य, काशी

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनसे निष्पन्न शब्द 'संज्ञा' कहलाते हैं। ऐसे सूत्रों में पाणिनि ने 'संज्ञायाम्' (=संज्ञा यदि गम्यमान हो) ऐसा स्पष्टतः कहा है। इस निबन्ध में इस प्रकार संज्ञा-पद-घटित सूत्रों की संक्षिप्त आलोचना की जा रही है, जिससे संज्ञा की सार्थकता तथा विशिष्टता बोधगम्य हो जाय।[१]

संज्ञा-सूत्रों की आलोचना में सबसे पहले यह जानना चाहिए कि जिस सूत्र में 'संज्ञायाम्' कहा गया है, उस सूत्र से सिद्ध प्रयोग संज्ञावाची ही होगा; उसी प्रकार कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जिनमें 'असंज्ञायाम्' कहा गया है, जैसे 'भूत्रोऽसंज्ञायाम्' (३।१।११२) 'विप्रसंभ्यो ड्वं संज्ञायाम्' (३।२।१८०), 'असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्' (४।३।१४६) इत्यादि। इन सूत्रों में यह कहा गया है कि सूत्र निर्दिष्ट कार्य तभी होंगे, जब सूत्र निष्पन्न पद संज्ञा न हो। पाणिनि का यह व्यवहार स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि प्रयोग की दृष्टि में संज्ञा शब्द[२] और असंज्ञा-शब्द में मौलिक भेद है और दोनों का सांकर्य नहीं हो सकता।

दोनों प्रकार के पदों के असांकर्य का ज्ञान तब और भी स्पष्ट रूप से हो जाता है, जब हम उन सूत्रों को देखते हैं, जिनसे संज्ञा तथा असंज्ञा—ये दो शब्द ही एकत्र पठित हैं। सूत्र है—'प्रनिरन्तः × × × असंज्ञायामपि' (८।४।५)। 'अपि' शब्द का तात्पर्य यह है कि इस सूत्र से विहित कार्य 'संज्ञा' तथा 'असंज्ञा' दोनों में होगा। इससे यह असन्दिग्ध रूप से सूचित होता है कि 'संज्ञा' तथा 'असंज्ञा' शब्द में प्रयोग निष्पत्ति की दृष्टि से भेद है और कुछ ऐसे भी सूत्रीय कार्य हैं जो निर्विशेष रूप से होते हैं, पर ऐसे स्थलों के लिये सूत्रकारीय स्पष्ट निर्देश आवश्यक है।

संज्ञा और असंज्ञा की प्रायोगिक निष्पत्ति की दृष्टि में पाणिनि का 'अकर्तरिच कारके संज्ञायाम्' (३।३।१६) सूत्र आलोच्य है। सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि इस सूत्र से सिद्ध शब्द संज्ञावाची ही होगा। पर काशिकाकार ने कहा है—'संज्ञाव्यभिचारार्थश्चकारः' अर्थात्

१—संज्ञा शब्द का प्रयोग 'शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द' इस अर्थ में भी पाणिनि ने किया है। उनका सूत्र है—'स्वं रूपं शब्दस्या शब्द संज्ञा' (१।१।६८)। जिसमें उपर्युक्त अर्थ में संज्ञा शब्द का व्यवहार किया गया है। 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र में भी यह बात चरितार्थ होती है।

२—हिन्दी में आजकल जिसे 'संज्ञा' कहा जाता है, वह पाणिनि का संज्ञा शब्द नहीं है। वृक्ष, घट, पर्वत आदि शब्द हिन्दी में संज्ञा हैं, पर पाणिनि की दृष्टि में ये सब जातिवाचक विशेष्य पद हैं। हिन्दी व्याकरण में संज्ञा को अंग्रेजी का Noun समझा जाता है, जो पाणिनि के अनुसार असंगत है।

इस सूत्र का प्रयोग कभी-कभी असंज्ञा में भी होता है। यह मत वार्त्तिककार तथा भाष्यकार से भी अनुमोदित है (संज्ञा ग्रहणानर्थक्यं च सर्वत्र घञो दर्शनात्—वार्त्तिक)। इस व्याख्या में शंका यह होती है कि इससे तो अतिप्रसंग होगा (अर्थात् संज्ञा और असंज्ञा दोनों में सूत्र की प्रवृत्ति होने से बोध में विपर्यास होगा) तो इसके उत्तर में उत्तर दिया गया है कि अभिधान के बल से इस दोष का निराकरण करना चाहिए।

संज्ञा होने से उसमें अवयवार्थ का बोध नहीं होगा—यह एक औत्सर्गिक नियम है। पर कभी कभी गुणानुसारी संज्ञा भी होती है, जैसे, पतंजलि ने स्पष्ट कहा है—'शंकरा नाम परिव्राजिका तच्छीला च' (भाष्य ३।२।१४)। विश्वंभरा शब्द (पृथिवीवाची) संज्ञा है (द्र० सूत्र ३।२।४६) पर उसमें विश्व भरण रूप क्रिया का स्पष्ट बोध होता है। यौगिक शब्दों से संज्ञा शब्दों का प्राथमिक भेद यह है कि संज्ञा शब्द किसी एक वाच्य पदार्थ के लिये नियत रहता है और यौगिक शब्द सर्वत्र प्रयुक्त हो सकता है। बाद में विशेष द्रष्टव्य है।

अब हम 'संज्ञा का लक्षण' प्रस्तुत करने जा रहे हैं। 'शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द' इस अर्थ के अतिरिक्त जिन अर्थों में पाणिनि ने इस शब्द का व्यवहार किया है, उसकी आलोचना की जा रही है।

संज्ञा शब्दों की महिमा के विषय में पाणिनि ने कण्ठतः कहा है—'तद शिष्यं संज्ञा-प्रमाणत्वात्' (१।२।५३) (अर्थात् युक्तवद्भाव के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संज्ञा शब्द स्वतः प्रमाण होते हैं)। इसकी व्याख्या में पतंजलि ने कहा है—'संज्ञानं = संज्ञा' (भाष्य)। संज्ञान = अवगम = सप्रत्यय (प्रदीप)। सूत्रकार की युक्ति यह है—'यथा आपो दारा सिकता वर्षा इत्युक्ते लिङ्गसंख्या विशेषावगतिः उत्पद्यमाना प्रमाणम् एवं पञ्चाला वरणा इत्यादावपि। न च पञ्चालादयो यौगिका अपि तु जनपदादीनां संज्ञास्ततो योगावगमात् तद्धितो नोत्पद्यते इति लुबपि न वक्तव्यः' (प्रदीप, तत्रैव)। इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि संज्ञा शब्द यौगिक नहीं हैं और वे अपनी महिमा से एक नियत स्थान, पात्र आदि का बोध कराते हैं।

शंका हो सकती है कि तब संज्ञाशब्दों की व्युत्पत्ति कृदन्त प्रकरण में (जहाँ यौगिक शब्द व्युत्पादित होते हैं) क्यों की जाती है? उत्तर यह है कि अवयवार्थ के अनुगम न होने पर भी 'स्वर' तथा 'अवग्रह' के लिये व्युत्पत्ति की जाती है। एक उदाहरण लीजिए—मन्त्र है—'रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः' यहां 'रथम्' के बाद अवग्रह माना जाता है, और इस प्रकार व्युत्पत्ति दिखाने के कारण कृदुत्तर पद प्रकृति स्वर से अन्तोदात्त भी पढ़ा जाता है। यदि यहाँ व्युत्पत्ति नहीं मानी जाती, तो अवग्रह नहीं दीख पड़ता तथा यह शब्द आद्युदात्त होता (नभ्राविषयस्य.....नियम से)। इस उदाहरण स स्पष्ट है कि यद्यपि संज्ञा शब्द में कदाचित् अवयवार्थ का प्रयोजन नहीं होता, तथापि शब्द शास्त्रीय कार्यान्तर की सिद्धि के लिये उसकी व्युत्पत्ति की जाती है।

इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि जिसे पाणिनि संज्ञा कहते हैं, उसे चन्द्राचार्यने 'नाम' शब्द से अभिहित किया है, जो उनके 'अन्यार्थे नाम्नि' (चान्द्र व्याकरण २।२।१४) सूत्र से विज्ञात होता है। यह सूत्र पाणिनि के 'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्' (२।२।२१) सूत्र के अनुसार है, अतः संज्ञा और नाम यहाँ पर्यायवाची सिद्ध होता है।

पर यह भी निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि निरुक्त तथा व्याकरण वाङ्मय में 'नाम' शब्द का अर्थ सर्वत्र 'संज्ञा' नहीं है और बहुत स्थलों पर इन दोनों शब्दों का पर्यायवाची शब्द की तरह व्यवहार भी मिलता है। अतः विवक्षा तथा लक्षण भेद देख कर विवेकपूर्वक अर्थ बोध करना चाहिए। निबन्ध में पाणनीय-दृष्टि से ही विचार किया जा रहा है।

जो निर्देश किसी समय किया गया है वह 'संज्ञा' है ऐसा कुछ सूत्रों की व्याख्या त व्याख्याकारों ने कहा है। 'पूर्वापरावर·····' (१।१।३४) सूत्र इसका एक उदाहरण है। इस सूत्र के प्रत्युदाहरण (असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः) में जो उत्तर शब्द है वह संज्ञा है, यह सब टीकाकार कहते हैं। यह क्यों संज्ञा है—इसकी उपपत्ति वासुदेव दीक्षित ने की है, यथा—'पूर्वादिशब्दानां तु दिक्षु अनादिः संकेत इति न ते संज्ञाशब्दाः, कुरुषु तु उत्तरशब्दस्य आधुनिकः संकेतः इति भवत्ययं संज्ञा शब्द इति मन्यते' (बाल मनोरमा) अर्थात् उत्तर शब्द का प्रयोग जब कुरु देश के साथ किया जाता है तब वह संज्ञा शब्द होता है, क्योंकि वहाँ 'आधुनिक संकेत' है, पर वही शब्द जब दिक् में प्रयुक्त होता है, तब चूँकि वहाँ 'अनादिसंकेत' होता है, वह 'संज्ञाशब्द' नहीं होता। इस निर्णय में एक सन्देह होता है कि किस अर्थ में अनादि संकेत है तथा किस अर्थ में आधुनिक संकेत है, इसका ज्ञान कैसे हो सकता है ? उत्तर में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने कहा है—'दिक्षु चिरन्तनः कुरुषु आधुनिक संकेत इत्यत्र तु व्याख्यातृवचनमेव प्रमाणम्' (तत्त्वबोधिनी)। यह मत अन्य सूत्रों की व्याख्या में भी पाया जाता है। व्याख्याकारों ने अपनी दृष्टि से संज्ञा-असंज्ञा-तत्त्व का जो लक्षण दिया है प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि करना चाहिए।

'संज्ञा' संबन्धी कुछ विचार 'भृत्रोऽसंज्ञायाम्' (३। १। ११२) सूत्र-भाष्यादि में भी मिलता है। पतंजलि ने संज्ञा के उदाहरण में 'भार्या' शब्द कहा है। और कैयट ने 'गृहिण्या इयं सज्ञा' (प्रदीप) ऐसा कहा है। यह शब्द इसलिये संज्ञा है कि जो कोई भरण-योग्य है वह भार्या नहीं होती, बल्कि विवाह-सिद्ध पत्नी ही भार्या होती है। ध्यान देना चाहिए कि 'भार्या' शब्द किसी का नाम नहीं है और पंकजादि शब्दों से इसकी विशेषता क्या है यह भी समझ में नहीं आता। शायद इसी को लक्ष्य कर कैयट ने बाद में कहा है 'संज्ञायते इमें संज्ञा—इति कर्मसाधनोऽत्र संज्ञाशब्दः' कर्म साधन जब होगा, तब अर्थ होगा—'संज्ञायमान' पर यह लक्षण भी अव्याप्त है। अतः बाद में पुनः कहा गया है—'संज्ञायामिति संज्ञाशब्दः कर्मसाधनो न गृह्यते, किं तर्हि भावसाधनः' (प्रदीप) जब भाव साधन अर्थ होगा, तब संज्ञा-वाची शब्द एक होगा, जैसा, नागेश ने कहा है—'भाव साधनेन धातूनामनेकार्थत्वाद् रूढिरुच्यते' (उद्द्योत) इसी कारण भृत्या शब्द संज्ञा नहीं होता। पर 'भार्या नाम क्षत्रियाः' में भार्या शब्द संज्ञा होता है। इससे यह भी सूचित होता है कि पाणिनि ने 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में ही किया है। एक, रूढ़ि और दूसरा नाम (Proper name)। दूसरे अर्थ में संज्ञा शब्द करण कारक में व्युत्पन्न होता है—'नामधेयवाची संज्ञाशब्दस्तु करण व्युत्पन्न इति बोध्यम्' (उद्द्योत ३। १। ११२)।

कुछ ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ संज्ञा का अर्थ परिचायक नाम (Proper noun) अर्थ में ही हुआ है। ८। २। ११ सूत्र में जो 'अहीवती' आदि संज्ञा शब्द हैं, वे सब किसी

न किसी नदी के नाम हैं, यह भूगोल विद्या से आज भी जाना जा सकता है। व्याख्याकार भी कहता है—'अहीवतीति नदी-विशेषस्य संज्ञा'। पाणिनि के 'दिकसंख्ये संज्ञायाम्' (२।१ ५०) सूत्र के उदाहरण में जो 'पूर्वेषु कामशमी' आदि शब्द सब व्याख्यान ग्रन्थों में मिलते हैं, वे इसलिये 'संज्ञा' हैं कि वे किसी न किसी ग्राम के नाम हैं, जैसा जिनेन्द्रबुद्धि ने कहा है—'पूर्वेषु कामशमीत्यादिर्ग्रामाणां संज्ञा' (न्यास)। यह बात साहित्य से समर्थित भी है (द्र० दशकुमार चरित उच्छ्वास ४)। यह बात २। १ ।२१ सूत्र-सिद्ध 'उन्मत्तगङ्ग' आदि संज्ञा शब्दों में चरितार्थ होती है। इसी प्रकार व्यक्ति-विशेष के नाम के लिये भी सज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा 'नखमुखात् संज्ञायाम्' (४। १ । ५८) सूत्र से जो 'शूर्पणखा' या 'गौरमुखा' शब्द बनता है, वह किसी न किसी का नाम है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि संज्ञा शब्द की सिद्ध के लिये पाणिनि ने जैसे 'संज्ञायाम्' ऐसा स्पष्ट ही कहा है, कहीं-कहीं निपातन के बल पर भी वे शब्दों के संज्ञात्व का ज्ञापन कर चुके हैं। स्वयं भर्तृहरि को भी यह मत मान्य था, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—'रूढयर्थे च निपातनम्' (वाक्यपदीय) और रूढि कभी-कभी संज्ञा का नामान्तर भी होता है यह हम पहले कह चुके हैं। इसके भी बलिष्ठ प्रमाण कैयट की प्रदीप टीका से मिलता है। वहाँ स्पष्ट ही कहा गया है—'तंत्र एक योगे निपातनादेव संज्ञालाभात् संज्ञा ग्रहण विस्पष्टार्थम्' (प्रदीप ८। २। १२)।

यह पहले कहा गया है कि संज्ञा आधुनिक संकेत से ही सम्बन्ध रखता है, पर कुछ ऐसे भी सूत्र है, जहाँ यह नियम नहीं घटता। सूत्र है—'संज्ञायां ललाट कुक्कुटयौ पश्यति' (४।४।४६)। इस सूत्र से 'लालाटिक' एक संज्ञा शब्द बनता है। जिसका अर्थ है—'लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः' (अमरकोश)—वह सेवक जो प्रभु का कपाल देखता है पर काम नहीं करता। यहाँ संज्ञा का अर्थ रूढि है ऐसा मानना होगा और 'आधुनिक संकेत' से इसका संबन्ध नहीं है ऐसा व्याख्याकार मानता है। वासुदेव कहता है—संज्ञा रूढिः न तु आधुनिकः संकेतः (बालमनोरमा)। काशिकाकार का भी यही मत है—'संज्ञा ग्रहणमभिधेयनियमार्थं न तु रूढ्यर्थम्' अभिधेय नियम का तात्पर्य यह है कि लालाटिक सेवक से ललाट दर्शन का कुछ भी तात्पर्य नहीं है, कार्य की अक्षमता से शब्द का तात्पर्य है, पर प्रसिद्धि (किसी कारण से) ऐसी हो गई थी कि केवल प्रभु ललाट दर्शन भी कार्याक्षमत्व का व्यावहारिक विज्ञापक हो गया था, अतः यहाँ रूढि अर्थ में संज्ञा शब्द का प्रयोग संगत होता है। रूढि का तात्पर्य भी प्रसिद्धि से जानना चाहिए, जैसा कि इसी स्थल की व्याख्या में ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'सम्यग् ज्ञानं संज्ञा, प्रसिद्धिः तस्याम्, प्रसिद्धिविषयभूते इत्यर्थः' (तत्त्वबोधिनी)।

संज्ञा से अभिधेय नियम कैसे होता है, 'संज्ञायां धेनुष्या' (४।४।८६) सूत्र से भी इसका ज्ञान होता है। संज्ञा होने से 'धेनुष्या' शब्द धेनु मात्र का वाचक न होकर बन्धक में स्थित धेनु (या धेनुर्दोहनार्थम् उत्तमर्णाय अधमर्णेन दीयते) का वाचक हो जाता है। इस प्रकार ४।४।६२ सूत्र सिद्ध पथ्य शब्द भी संज्ञा वाचक होने के कारण पथ्य = शास्त्रीय पथ से अनपेत (= अप्रच्युत) न कि जड़ मार्ग से अनपेत होने से उसको पथ्य कहा जायगा (द्र० तत्त्व-बोधिनी) इन दोनों उदाहरणों से अभिधेय-नियमन का स्वरूप स्पष्ट ज्ञात होगा।

अभिधेय नियम का स्पष्टतम उदाहरण 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१) सूत्र के भाष्य से विज्ञात होता है। पतंजलि ने कहा—'सज्ञायामिति किमर्थम् ? त्रिभिः साक्षाद् द्रष्टव्यं भवति – यश्च ददाति, यस्मै च दीयते, यश्चोपद्रष्टा, तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्राप्नोति। संज्ञा ग्रहण सामर्थ्याद् धनिकांते वासिनोर्न भवति' अर्थात् तीन व्यक्ति साक्षाद् द्रष्टा होते हैं दाता, ग्रहीता तथा उपद्रष्टा, सुतरां तीनों में सूत्रीय कार्य हो सकता है,पर 'संज्ञा' कहने के कारण धनिक और अधमर्ण में प्रत्यय न होकर उपद्रष्टा में ही सूत्र प्रवृत्ति हो कर 'साक्षी' शब्द प्रयुक्त होता है।

जैसे संज्ञा रूढि होती है, वैसे कभी-कभी हेतुकी संज्ञा भी होती है। अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जो इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं। सूत्र है—'संज्ञायां कन्' (५।३।७५)। इस सूत्र से जो 'शूद्रक' या 'राधक' शब्द बनते हैं वे यद्यपि संज्ञा हैं, पर वे कुत्सा हेतुक हैं, यदृच्छा से अभिहित नहीं हैं, जैसा वासुदेव ने कहा है—'कुत्सा हेतुक संज्ञा विषये कन्' (बालमनोरमा)। व्याकरण में इस प्रकार के संज्ञा शब्दों के लिये कहा जाता है—'प्रत्ययान्तेन चेत् संज्ञा गम्यते' अर्थात् प्रत्ययान्त होने से यदि संज्ञा का बोध हो। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी सूत्र हैं, जहाँ प्रत्ययान्त से संज्ञा गम्यमान न होकर समुदाय से संज्ञा गम्यमान होती है। 'संज्ञायां च' (५।३।९७) सूत्र इसका प्रमुख उदाहरण है।

संज्ञा शब्द का साधारण लक्षण है कि वह 'एक द्रव्य निवेशी' होता है, अर्थात् वह किसी एक पदार्थ का नाम होता है। 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) सूत्रीय उदाहरण में जो 'दत्ता' आदि शब्द दिए जाते हैं उसके संज्ञात्व के विषय में पूर्वोक्त लक्षण बालमनोरमाकार ने दिया है। यहाँ संज्ञा के विषय में टीकाकार ने एक रहस्य बताया है। यद्यपि संज्ञा में प्रायशः व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ नहीं किया जाता है, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि क्रिया निमित्त संज्ञा (अर्थात् जिसमें व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ भी घटता हो) होती ही नहीं। पूर्वोक्त उदाहरण में जो 'दत्त' शब्द है वह दानक्रिया का पुरस्कारपूर्वक स्त्रीलिंग में या पुलिंग में संज्ञाभूत होता है यह टीकाकारों का मत है। यदि प्रश्न हो कि कौन क्रियानिमित्त संज्ञा है और कौन अवयवार्थहीन संज्ञा है इसका निर्णायक तत्त्व क्या होगा, तो उत्तर यह है कि क्रिया-निमित्त संज्ञा में लिंग भेद होता है, अन्य प्रकार की संज्ञा में नहीं होता। मुख्य बात यह है कि धात्वर्थानुसारी क्रिया की प्रतीति यदि हो और वह किसी एक ही पदार्थ के लिये नियत न हो, तो वह क्रिया-शब्द ही होगा, संज्ञा नहीं होगा, और धातु-प्रत्यय की प्रतीति होने पर भी यदि वह पदार्थ विशेष में नियत हो, तो वह संज्ञा होगा।

यद्यपि एक द्रव्य निवेशी होने के कारण संज्ञा शब्द एकवचनान्त ही होता है, पर कभी-कभी बहुवचनान्त संज्ञा शब्द का उदाहरण भी मिलता है। अष्टा० ३।१।११२ सूत्र के प्रत्युदाहरण में संज्ञा शब्द का उदाहरण दिया गया है—'भार्या नाम क्षत्रियाः' (काशिका)। यह संज्ञा क्यों है इसकी युक्ति यह है—'क्षत्रिय विशेषेषु रूढः संज्ञाशब्दोऽयम्' (बालमनोरमा)। हम पहले ही दिखा चुके है कि संज्ञा शब्दों के विषय में लिंग-वचन इत्यादि के विषय में कुछ उपपत्ति की आवश्यकता नहीं होती, अतः बालमनोरमा की बात न्याय्य ही है।

संज्ञा के विषय में एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वह 'यावद्द्रव्यभाविनी' होती है केवल रूढ ही नहीं होता ; और इसीलिये जो योगरूढ या रूढ शब्द देशान्तर या

कालान्तर होने से प्रयुज्यमान नहीं हो सकता, वह 'संज्ञा' नहीं होता है। जिस दृष्टि से विश्वंभरा (पृथ्वीवाची) आदि शब्द यौगिक होते हैं, उस दृष्टि से पाणिनि का ३।२।२।१७६ सूत्रोक्त 'प्रतिभू' शब्द भी संज्ञा हो सकता है, पर यह शब्द संज्ञा नहीं होता, क्योंकि ऋण प्रदान हो जाने के बाद, प्रतिभू शब्द की निवृत्ति होती है, पर वह व्यक्ति जीवित रहता है, यद्यपि उस समय उसको 'प्रतिभू' नहीं कहा जाता, अतः यावद्द्रव्यभावी नहीं होने के कारण प्रतिभू शब्द संज्ञा नहीं है।

विशेष्य की तरह विशेषणवाची शब्द भी संज्ञा होता है। सूत्र है—'पुवः संज्ञायाम्' (३।२।१८५), जिससे संज्ञावाची पवित्र शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भी जिस द्रव्य से किसी का पवित्रता-विधान किया जाता है, उसको (यहाँ अंगुलि-विशेष) पवित्र कहा गया है, क्योंकि यहाँ की पवित्रता शास्त्र से नियत तथा अन्यत्र अप्रयुज्यमान भी है, अतः पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार यह भी संज्ञा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाणिनि ने 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग एकाधिक अर्थों में किया है जिनका ज्ञान प्रयोगों को देख कर तथा व्याख्यानों के अनुसार ही किया जा सकता है। जितने अर्थों में 'संज्ञा' का प्रयोग किया गया है, तदनुसार प्रयोग भी साहित्य में मिलते हैं। अत; इन विभिन्न अर्थों की सत्यता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता है। आशा है अन्य विद्वान् भी इस पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

ग्रंथानुसंधान

नागजी नागवंती वार्त्ता

श्री भँवर लाल नाहटा, बीकानेर

गुजरात और राजस्थान में नागजी नागवंती की कथा पर्याप्त प्रसिद्ध है। दोनों प्रान्तों के प्रचलित प्राचीन दोहे कथा वस्तु को थोड़े हेर-फेर के साथ कथानायक की अमर कीर्ति को प्रतिभासित करते हैं। गुजराती के अमर लोक साहित्य संग्राहक श्री झवेरचन्द मेघाणी की संग्रहीत कथा को श्री 'परदेशी' ने 'आजकल' के सितम्बर १९५३ के अंक में 'नाग नागमदे' शीर्षक से कतिपय दोहे-सोरठों के साथ प्रकाशित किया है। राजस्थानी में 'बात नागजी नागवंती री' नाम से प्रचलि होते हुए भी अद्यावधि अप्रकाशित है। राजस्थानी कथा सुन्दर मुहावरेदार भाषा में होने के साथ साथ सुखान्त और अपने में परिपूर्ण है।

गुजराती कथा सोरठ के गुहिलवाड़ की पार्वत्य उपत्यकाओं में अवस्थित राजूला गाँव के निकटवर्त्ती 'सवीआना' नगर के वाला वंश के राजकुमार नागजी से संबन्धित है, जब कि राजस्थानी कथा बागड़ देश के राजा धौलवाला के युवराज नागजी को चरितनायक बतलाती है। राजस्थानी कथा का धौल वाला नाम गोरा बादल की भाँति धौल उसका नामक और वाला उसकी जाति को सूचित करता है। नागवंती का पिता अहीर जाति का था। यह बात दोनों को मान्य है पर राजस्थानी कथा उसके पूर्व इतिहास की ओर से भी अनभिज्ञ नहीं है, जब कि गुजराती कथाकार उसका नाम कानसुवा भेडा अहीर बतलाते हैं और उसके किसी राजवंशीय होने की बात भुला गये हैं।

राजस्थानी कथा के अनुसार नागवंती के पिता जाखड़ा जी अहीर चौदह चाल कच्छ के राजा थे, जो दुष्काल का समय बिताने के लिये वागड़ में आ कर रहे थे। दोनों राजाओं में परम मैत्री भाव था। नागवंती की सगाई हाकड़ा पड़िहार से आगे हो चुकने पर भी नागजी की भौजाई परमलदे दोनों का गुप्तविवाह करवा देती है और उभय प्रेमियों को मिलाने में पूर्ण सहायक होती है। दोनों कथाएँ नागवंती की प्रतीक्षा में नागजी के आत्मघात करने तथा नागवंती के चिता प्रवेश तक सहमत हैं जब कि राजस्थानी कथा महादेव-पार्वती द्वारा दोनों को जीवित करके सुखान्त परिसमाप्ति करती है।

नागजी नागवंती की वार्ता राजस्थान में बहुत ही प्रसिद्ध है। इस वार्ता के फुटकर दोहे 'नागजी रा दुहा' व नागेउ रा दुहा इन नामों से अनेक हस्तलिखित प्रतियों में पाए जाते हैं जिनमें से कुछ स्वामी नरोत्तमदास जी संपादित 'राजस्थान रा दूहो' से भी प्रकाशित है। हमारे संग्रह में ७१ दोहे दो पत्रों में लिखे हैं। यद्यपि वे वार्ता से ही लिखे गए है पर पाठांतर काफी हैं।

नागजी का लोकगीत भी मिलता है जो बड़ा करुणापूर्ण है जिस में विरह पद-पद में टपक रहा है। इस गीत को भी यहाँ दे दिया जा रहा है।

ख्यालों के प्रचार के युग में नागजी नागवन्ती रो ख्याल भी बना कर खेला गया। जो खेमचन्द बुकसेलर जोधपुर आदि से प्रकाशित और प्राप्त है।

नाग जी का लोक गीत

नाग जी घड़ी दोय घुड़ला थाम, रे, बैरी, घूघटरी छैयाँ रुकओ नाग जी।
नाग जी, तावड़ियो पापी पड़ै, हाँरे। बैरी, घायल करदी तावड़े ओ नाग जी॥
नाग जी, मन लोभी मन लालची रे। बैरी, मन चंचल, मन चोर ओ नाग जी।
नाग जी, मन रे मते य न चालियै रे। बैरी, पलक-पलक मन ओर, ओ नाग जी॥
नाग जी, तड़क-तड़क मत तोड़, रे बैरी। कतवारी रेतार ज्यूं, ओ नाग जी।
नाग जी, ज्यूँ, टूटै त्यूँ जोड़, रे बैरी। प्रीत पुराणी ना पड़ै, ओ नाग जी॥
नाग जी, नागर बेलड़ी-रे, रे बैरी। पसरै पण फूलै नहीं, ओ नाग जी।
नाग जी, बालकयण री प्रीत, रे। बैरी, बिछड़ै पण छूटै नहीं, ओ नाग जी॥
नाग जी, सूतों खूँटी ताण, रे। बैरी, बतलाओ बोल्यो नहीं, ओ नाग जी।
नाग जी, मालपूवे को टूक, रे। बैरी, जीभ्या आड़ियो नै तालवे, ओ नाग जी॥
नाग जी, खायो खजानै रो माल, रे। बैरी, लूणहरामी हो गयो, ओ नाग जी।
नाग जी, एक बेर घुड़लो मोड़, रे। बैरी, मनड़े री बातां मैं कहूं, रे नाग जी॥
नाग जी, भली निभार प्रीत, रे। बैरी, रैणविछोवो कर चल्यो, ओ नाग जी।
नाग जी, रमता अेकज संग, रे। बैरी, सब रंग फीका तै करचा, ओ नाग जी॥
नाग जी, रहता अेकज साथ, रे। बैरी, रैणविछावो तें कर्यो, ओ नाग जी।
नाग जी, टीकी फीकी पड़ गई, रे। बैरी, कजलो वह गयो नेगको, रे नाग जी॥
नाग जी, होय उमंगी बादली रे, बैरी, नयणां वरसै मेहं जी, ओ नाग जी।
नाग जी, माखणड़ो सो तैं लियो, रे। बैरी, रह गई खाटी छाछ, रे ओ नाग जी।
नाग जी, एक बर मुखेड़ बोल, रे। बैरी, आस, निरासी मत करै, ओ नाग जी॥

(राज स्थान के लोक गीत से)

नाग जी नागवंती की बात

एक बार चौदह चाल कच्छपति जाखड़ा अहीर के राज्य में दुष्काल पड़ा। राजा ने अपने कामदारों को आज्ञा दी कि हमारे भण्डार से यथेच्छ अन्न धन्न हमारी प्रजा के लिये उन्मुक्त कर दो ताकि कोई दुष्काल पीड़ित हो मालव न जाय। राज्य के प्रबन्ध से एक वर्ष सानंद बीता, दूसरे वर्ष फिर पानी के बादल न आ दुष्काल के बादल छा गए, लोगों की आशावल्ली पर तुषारपात हो गया।

कहा भी है कि—मन चिंतै बहुतेरीयाँ, करता करै सु होय।
उलटी केरणी देव री, मती पती जो कोय। १।

कामदारों ने राजा जाखड़े से कहा-एक दुष्काल तो निकाला परन्तु दूसरा फिर अपना मुँह फैलाये तैयार है। राजा ने कहा जब तक अन्न धन्न हमारे कोठार में रहे, किसी को निराश

मत करो ! राजाज्ञा से कामदारों ने मुल्क में सर्वत्र अन्न-धन्न आवश्यकतानुसार राजकीय कोश से लेने की उद्घोषणा करदी। क्योंकि राजा ने कहा हमारा सुख दुःख प्रजा के साथ है, होन हार टलती नहीं। दोहा :—

"लाख सयालय कोड़ बुध, कर देखो सब कोय।
अणहूँणी हुँणी नहीं, होणी हुवै सु होय।"

संयोग की बात, तीसरे वर्ष फिर दुष्काल पड़ा। राज का खजाना व अन्न के कीठार रिक्त हो गए। सुभिक्ष स्थान की खोज करने के हेतु चारों ओर ओठी भेजे गये। वागड़ देश में धोल वाला के राज्य में घास पानी का प्राचुर्य्य ज्ञात कर उनकी सहर्ष अनुमति आने से जाखड़ा जी अपनी प्रजा व परिवार के साथ वागड़ देश में आये। धोलवाला ने स्वागत पूर्वक नलहटी के महलों में राज-परिवार व प्रजा जनों को गाँव में यथा स्थान बसा दिया।

एक बार वागड़ा देश में भाटी लोग दौड़ने-लूट खसोट करने लगे। लोगों ने कहा दो दो राजाओं की उपस्थिति में भाटी लोग देश को बिगाड़ें तब तो हो चुकी ! धोलवालों ने भाटियों के दमन करने के लिए दरबार में बीड़ा फिराया। किसी के न उठाने पर राजकुमार नागजी ने बीड़ा उठाया। पिता-राजा धौलवाला ने उसके बचपन और युद्ध की दुर्द्धर्षता बतलाई। पर लोगो की प्रेरणा से पांच हजार सवारों के साथ कुमार को तैयार कर दिया। कुमार नागजी ने वीरता पूर्वक भाटियो को मार भगाया। विजय कर लौटते हुए नागजी ने नगर से एक कोस दूर मानसरोवर तालाब पर डेरा किया। आश्विन का महीना था, खेत लह-लहा रहे थे। तालाब के किनारे जाखड़ाजी का निजी खेत था, पर वहाँ कोई क्षेत्र-रक्षक नहीं था। नागजी ने हवादार स्थान देखकर दो मास तक वहीं डेरा जमा दिया। नागजी की बड़ी भौजाई परमलदे बिना उन्हें जिमाये भोजन नहीं करती थी अतः उसे प्रतिदिन मानसरोवर के महल में जाकर नागजी को भोजन कराना पड़ता था। एक दिन भौजाई ने कहा-महाराजकुमर ! आप गढ़ में पधारें तो ठीक हो मुझे यहाँ आने का कष्ट न उठाना पड़े ?

नागजी ने कहा भाभीजी ? यह तालाब पर किसका खेत है ? इसका कोई रक्षक न होने से मुझे रखवाली करनी पड़ती है ? परमलदे ने धोलबाला से कहलाया तालाब पर खेत किसका है जिस पर रक्षक भी नहीं रहता, यदि वहां रक्षक भेजें तो नागजी गढ़ में पधारें। धौलवाला ने कर्मचारियों से यह ज्ञात कर कि खेती जाखडे जी की है, उन्हें क्षेत्र रक्षक भेजने के लिए कहलाया कि श्रीमान् ने जो तालाब पर खेती करवायी है, रक्षक भेजें ताकि नागजी घर आवे ! जाखड़ा जी ने घर में जाकर सलाह की कि क्षेत्र रक्षा के लिए किसे भेजा जाय ? कर्मचारियों को दूसरे खेतों की रक्षा में नियुक्त किया गया है, औरतों ने कहा कि दो चार दिन परमलदेजी के साथ नागवन्ती बाई (जाखड़ाजी की पुत्री) को भेजा जाय वह उस खेत में रहेगी तो नागजी समझेंगे क्षेत्र में रक्षक है, रात में नागवन्ती घर आ जायगी, दो चार दिन में नागजी के गढ़ में आ जाने पर क्षेत्र रक्षा के लिए भेजना आवश्यक नहीं रहेगा ? उन्होंने परमलदेजी के साथ नागवन्ती को भेजने की व्यवस्था कर दी।

दूसरे दिन परमलदेजी अपने साथ पालकी में बिठाकर नागवन्ती को ले गये। मार्ग में परमलदेजी ने कहा—हमारे नागजी के चलते समय कुंकुम के पद चिह्न मंडते हैं। नाग-

---

१. गत देश

वन्ती का इस बात को असंभव बताने पर परमलदे ने इसकी संभवता पर नागजी के साथ विवाह कर देने की शर्त करवा ली। खेत आने पर नागवन्ती तो खेत में गई और परमलदेजी नागजी को भोजन कराने आई। उसने नागजी से पूछा—

सोरठा—संपाड़ो बैठाह, साह हला नै सरवतड़ी।
जे देहेल मुकाह, कागद मंडा नागजी॥

नागजी वाक्यं—भावज ! संपाड़ै बैठाह, साह हला नै सरवतड़ी।
चढ़ चौकी ऊमाह, साखी च्यार सिंदूर का॥

परमलदे ने कहा—नागजी, जाखड़ै अहीर की पुत्री नागवन्ती से मैंने शर्त की है कि नागजी के कुंकुम के पैर मंडते हो तो मैं उनसे तुम्हारा व्याह करा-दूँगी। नागजी ने कहा—भाभीजी, धौलवाला और जाखड़ा परस्पर पगड़ी बदल भाई हैं, तो यह सम्बन्ध कैसा ?

दूसरे दिन परमलदे जी नागवंती को अपने साथ ले आयी और चौपड़ का खेल प्रारंभ हुआ। नाग जी और नागवंती भीरी हो आमने-सामने बैठे, परमलदे जी और बड़ारण (प्रधान दासी) भीरी हुए। खेलते-खेलते पल्ला सरक जाने से नागवंती के वक्षस्थलादि अंगों पर दृष्टिपात होते ही नागजी मुग्ध हो मुर्छित हो गए। सचेत होने पर उन्होंने नागवंती से विवाह कराने का प्रस्ताव भाभी के सम्मुख रखा। परमलदे ने कहा—कुमार ! यों तो होगा नहीं, गुप्त विवाह होगा, सो राजपूत लोगों को यहाँ से विदा कर दो। दूसरे दिन कुमार ने दरबार करके सब सैनिक व सरदारों को सिरोपाव बख्शीस करके छुट्टी दे दी और होली पर आने की आज्ञा की। नागवंती के अपना वचन निभाना स्वीकार करने पर खेत से जुहार के डोके मँगाए और पानो रखने की मटकियों से वेह मांड कर चौंरी तैयार की। शहर की ओर जाते हुए एक ब्राह्मण को बुला कर गुप्त रूप से नाग जी और नागवंती का विवाह कराने को कहा, क्योंकि नागवंती की सगाई आगे हाकड़ा पड़िहार से हो चुकी थी। परमलदे जी ने ब्राह्मण से कहा :—

सोरठा—हूँ जाणुं तुं जाण, निर तीजो जाणै नहीं।
नाग जी तणो पुराण, तोनुं लिखुं देव जी॥

व्याह होने के दूसरे दिन परमलदे जी तथा नागवंती तंबोली के यहाँ पान लेने गईं। तंबोली इन्हें देख चकाचौंध खा गया। तब तंबोली से कहा :—

तंबोली आपो पान, दोय बीड़ा बाँध कर।
गयी तमीणी स्यांन, कायर मुख साहमो भणै॥

तंबोली ने कहा :—

सोरठा—आंख्यां आंकस बाण, तांख करै न ताणीयां।
डरै तेण दीवाण, सो माढ नैण ही माणीया॥

तंबोली के यहाँ से पान ले कर दोनों तालाब पर गईं। अब नाग जी और नागवंती खेत के ऊँचे मालै में रहते हुए रंगरेलि करने लगे। माघ मास आया, धान्य ले जाने पर रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहा तो परमलदे जी ने कहा—कुमार ! अब यहाँ रहने से लोगों को भ्रम होगा और बात गुप्त रहेगी नहीं, अतः गढ प्रवेश कर जाना चाहिए। नाग जी ने कहा—

बहुत अच्छा ! कल गढ़ चलेंगे । नाग जी गढ जाने की तैयारी में हैं, नागवंती कमर बँधाती हुई कहने लगी :—

कमर बंधावत कुंवर कुं, विरह उलट गयो मोय।
साजन विछडण कब मिलण, कहा जाण कब होय ॥
हे विधना तोसूं कहूं, एक अरज सुण लेत।
वीछडण अंकज मेट कर, मिलवै को लिख देत ॥

नाग जी वाक्यं :—

दूहा—गोरी हीयो हेठ कर, करमन धीर करार।
सांइ हाथ संदेसड़ो तो मिलसां सौ वार ॥

विदा के समय आंसुओं से छलछलाते नेत्रों वाली नागवंती को आलिंगन पाश में बद्ध होते देख परमलदे जी से कहने लगी :—

गोरी बांह छातीयां, नागकुंवर न झुराय।
जाणै चंदण रूखड़ै, वेल कलुंवी खाय ॥
गोरीहा गल हत्थड़ा, नागकुँवर कर सेल।
जाणै चंदन रूँखड़ै, अधर विलंबी वेल ॥

परमलदे जी ने नागवती से कहा—अब हँसती हुई सीख दो, ताकि नाग जी गढ़ पधारें। नागवंती ने कहा—

जावो जीभां नां कहूँ, वधो सवाई वट।
ऊग उसी थां आवीयो हेतां रथा को हट ॥
सीधावौ नै सिध करो, पूरो मनरी आस।
तुम जीव की जाणु नहीं, मो जीव हौं तुम पास ॥

नागजी अपनी प्रिया नागवंती से विदा ले कर आम्रवृक्ष के नीचे बंधे घोड़े पर सवार होने लगे, तो नागवंती ने निम्नोक्त दोहा कहा :—

सजन दुरजन हुय चले, सयणा सीख करेह।
धण विलपंती युँ कहै, आंबा साख भरेह ॥

यह सुन नागजी नागवंती को धैर्य बंधाते हुए आगे चले। नागजी गढ़ में तथा नागवन्ती तलहटी के महलों में गई। नागजी की चेष्टा देख कर धौला बाला मन में ताड़ गया और उसकी गतिविधि पर नजर रखने लगा। नागजी पर रोक लग जाने से वह अपनी प्रिया के विरह में दिन-दिन सूखने लगा, इधर नाववंती की भी यही दशा थी। वह अपने महलों पर चढ़ कर दोहा कहती :—

नाग जी नगर गयांह, मन मेलू मिलीया नहीं।
मिलीया अवर धणाह, ज्यां मुं मन मिलीया नहीं ॥

नागजी सूखकर काँटा हो गए, देश विदेश के वैद्यों को बुला कर दिखाया। नाना उपचार किए, आरोग्यदाता को 'लाख पसाव' देने की उद्घोषणा की गई पर रोग का निदान नहीं हुआ। नागवंती अपने झरोखे में खड़ी कहने लगी—

राजा वैद बुलाय कै कुंवर देखाई बाँह।
वैदां वेदन कालही करके कलेजा मांहि॥
करक कलेजा मांहि, उकसै पिण निकसै नहीं
गल गया हाड' र मांस, नेह नवलै नाग जी॥

एक दिन नागवंती के द्वारा कहे हुए उपर्युक्त दोहे उसके गवाक्ष के नीचे छाया में विश्राम लेने वाले परदेसी वैद्य ने सुने और कुमारी की प्रीति और विरह रोग का रहस्य ज्ञात कर कुमार का इलाज करना ठाना और नागवंती के महल के नीचे डेरा जमाया। वैद्य ने राजा के आगे कुमार की चिकित्सा करने की स्वेच्छा व्यक्त की। उसने कुमार के निकट जा कह ये दोहे कहे :—

ससिक सीसक मर मर जीवै, ऊठत कराह कराह
नयण बाण घायल किया, ओखद मूल न थाय॥
प्रीत लगी प्यारी हुती, बाला थई विछेह
नोज किणही नै लाग ज्यो, कामण हंदो नेह॥
चखसि रखत अदभुद जतन, बधक वैद निज हथ।
उर उरोज भुज अधर रस सेक पिण्ड पद पथ॥

नागजी ने सुन कर कहा, यह बात जोज से मत कहो? कुमार ने उसे सवा करोड़ की मुद्रा निकाल कर दी। वैद्य ने राजा से कह कर कुमार का पलंग एकान्त में लगवा दिया और नागवंती के झरोखे के नीचे तेजारा काढ़ने लगा।

नागवंती झरोखे में आ कर निम्नोक्त दोहे बोलने लगी :—

नागजी तुमीणो नेह, रात दिवस सालै हियै।
किणनै कहीयै तेह, नित नित सालै नाग जी॥
नागजी समौ न कोय, नगर सारौ ही निरखियौ
नयण गमाया रोय, नेह तुमीणै नागजी।
नागजी तणै सरीर, क्या जाणुं वेदन किसी॥
इसौ न कोई वीर, जिण नै पूछूं नागजी

वैद्य ने इसके उत्तर में कहा, मैंने आज नागजी का ढोलिया एकान्त में लगाया है, तुम वहाँ जाना। दोहा :—

कुच कर ओखद भुजपटी, अहै रपती दे ताव
उन नयन के घाव कुं, ओखद अेह लगाव॥

नागवंती ने प्रसन्न होकर बहुमूल्य हार वैद्य के ऊपर गिरा दिया, वैद्य अपने मार्ग लगा। होली के दिन होने से गढ़ में गेहर पड़ती और गेहरिया लोग खेल मचाते थे, नागजी भी हाथ में सेल ले कर आ खड़े हुए। नागवंती गेहर देखने के लिए माता से आज्ञा प्राप्त कर सखियों के साथ गढ़ में उपस्थित हुई। धौल बाला और जाखड़ा जी दरबार में बैठे गेहर देख रहे थे। नागवंती ने सर्वत्र नजर दौड़ाई पर नागजी नजर नहीं आए। उसने अपनी सखियों से कहा :—

ढोल दड्डूकै तन दहै, गेहरीया नाचंत।
चालो सखी सहेलड़ी, कठै न दीसै कंत।

एक बड़ारण ने रहस्य ज्ञात कर नागजी से मिलाने का निम्न दोहा कहते हुए संकेत किया :—

सेल भलका कर रह्यो, माठूड़ा घूमंत
आवो सखी सहेलडां, आज मिलाऊँ कंत॥

नागवंती ने बड़ारण को पचास रुपये इनाम दिए और तुरन्त जा कर नागजी से मिली। मुजरा करते हुए निम्नोक्त दोहा कहने लगी :—

साजनीयां सूं प्यार, कठै वासौ दीसौ नहीं।
मिलता सौ सौ वार, नैणा ही सांसो पड्यो॥
सामा मिलीया सैण, मेरी में सामा भला।
उवै तुमीणो बैण, नैह चै निरवाया नहीं॥

नागजी ने उत्तर दिया—

अमीणों तुम पास तुम्हीणो जाणुं नहीं।
विवरो होसी वास वास न विवरो सजनां॥

वे दोनों शयनागार में चले गए। इधर जाखड़ा को लेकर धौलबाला नागजी को देखने के लिये उसके महल में आए। दोनों को नींद में सोया देख कर धौलाबाला ने म्यांन से तलवार खींची। जाखड़ा जी ने रोक कर कहा—

धवला बाल न बाढ, नागर बेल न चढीयें।
चंपै वली चाढ फूल विलंब्यौ भंवर लो॥

जाखड़ा और धौलबाला के लौटने पर नागवंती जागी, वह नागजी से विदा हो कर तलहटी आई। नागजी प्रातःकाल उठ कर दरबार में आए, धौलबाला और जाखड़ा दोनों बैठे थे, कुमार मुजरा करने लगा तो धौलबाला ने सेल फेंका, जो नागजी के ऊपर से निकल गया।

नागजी ने सोचा, यदि दूसरा होता तो मार डालता पर पिता के आगे क्या किया जाय? धौलवाला ने नागजी को देसोटा (देश निकाला) की आज्ञा दे दी उन्होने जाखड़े जी से नागवन्ती की शादी कर डालने को कहा। जाखड़ा जी ने हाकड़ा पड़िहार से सगाई को हुई होने के कारण ब्राह्मण को सांढ पर भेज कर तीन दिन के अंदर विवाह के निमित्त आने की सूचना दी। नागवन्ती का विवाह मंड गया।

नागजी ने देसोटा हो जाने के बाद रवाना होते समय भौजाई के महल के नीचे से निकलते हुए निम्नोक्त दोहा कहा :—

भावज भणुं जुहार सयणानुँ संदेसड़ा।
वै तुमीणा वोहार जीव्या जिते ही माणीया॥

भाभी ने उत्तर दिया —

कुंकु वरणी देह, टीका काजलियां थई।
एह तुमीणा नेह, सू नित मेलो नागजी॥

फिर कहा, देवर! तीन दिन बाग में ठहरना, नागवन्ती से तुम्हें मिला दूँगी। नागजी ने कहा—

मैं तीन दिन तक तुम्हारी प्रतीक्षा में ठहर कर फिर मिलूंगा। नागवन्ती ने नागजी के देसोटा की खबर लगने पर निम्न दोहा कहा—

नागा खायजो नाग, काला करडै मांहलो।
मूंवो न मिलजो आग, जांव तड़ै जगाई नहीं॥

ब्याह की तैयारी देख कर नागवन्ती व्याकुलता से सोचने लगी—मैं एक बार तो परण कर चुकी, फिर विवाह करते हैं! इधर सांढिये ने हाकड़ा को जमात में जा कर खबर दी। पत्र पाते ही वह घौड़े पर सवार होकर रवाना हुआ और उसने उमंराव-कर्मचारी लोगों को जात (बरात) सजा कर बागड़ देश में आने की सूचना कर दी।

नागवंती ने अपनी मां से कह कर परमलदे जी को निमन्त्रित किया। परमलदे जी ने नहा धो कर आने का कहा। फिर उसने खवास को भेज कर बाग से नाग जी को बुलाया। उन्हें स्त्री वेश कराके परमलदे जी ने अपने साथ लिया। इधर धौलवाला ने जाखड़ा से कहा—उसका नाम नाग जी है, आए बिना न रहेगा! मेह-अंधेरी रात्रि है, शहर के बाहर की चौकीदारी मैं करता हूँ, भीतर का खयाल तुम रखना! सांतो पोलों में पहरा रखना! भीतरी पोल का पोलिया अंधा है पर उसके हृदय की आँखें खुली हैं! इस प्रकार जाब्ता करके धौलवाला बाहरी चौकीदारी के लिये चला। इधर परमलदे जी सातवीसी सहेलियों के साथ चली। मार्ग में जाखड़ा के पूछने पर सहेली ने कहा परमलदे जी नागवंती के ब्याह में जाती हैं, जाखड़ा ने कहा बहुत अच्छा! यत्न से जाना, नाग जी आने न पावे! इस प्रकार छः प्रतोलियें पार करने पर सातवां पोल के अंधे प्रहरी ने कहा—बाईयो! तुम्हारे साथ मर्द की पद-ध्वनि सुनाई पड़ती है, मैं जाने नहीं दूंगा! बड़ारण के अस्वीकार करने पर उसने अपने हाथ पर हाथ रख कर जाने देने का प्रस्ताव रखा। बडारण ने यह दोहा कहा—

पापी बैठो प्रोलियो, कूड़ा इलम लगाय।
निलाडां री फूट गई, पिण हिवड़ा रीबी जाय॥

अंध प्रोलिये के न मानने पर सभी हाथ में ताली दे कर निकलने लगी। जब नाग जी का हाथ आया तो उसने पकड़ लिया। परमलदे जी ने उसे शाबाशी देते हुए पचास मुहरें पकड़ाईं और निःशंक हो कर सबने विवाह मडण का मार्ग लिया। नागवंती चौंरी में बैठी हुई थी, परमलदे जी के देखते ही बोली :—

सोरठा—नागड़ा निरखुं देस, एरंड थाणौ थापीयौ।
हंसा गया विदेस, बुगलां सूं ही बोलणौ॥

परमलदे जी ने तत्काल उत्तर में निम्न सोरठा कहा—

भांमण भूल न बोल, भंवरो केतकियां भमै।
जाण मजीठां चोल, रंग न छोडै राजीयौ॥

परमलदे जी के संकेत से नाग जी लूण उतारने वाली डावड़ी के हाथ से थाली ले कर स्वयं नागवंती के पीछे खड़े हो गए। नेत्रों से अश्रु विन्दु गिर कर नागवंती के कंधे पर पड़ा। नागवंती ने नाग जी को पहचान कर बाग में ठहरने का संकेत करते हुए निम्न सोरठा कहा :—

टिपा टिप टपियांह, विण वादल वुठुं टीपां ।
आंख्यां आभ थयाह, नेह तुमी है नाग जी ॥

सहेलियों ने निम्न सोरठा कहा—

विरच्यो त्रिया को वेश, आवत दीठो कुंवरी ।
जातो दुनिया देख, नाटक करग्यो नाग जी ॥

नाग जी विवाह मण्डप से निकलकर बाग में गया और माली में जाकर बैठ गया। नागवंती चंवरी से उठ कर माता से सिर दर्द के कारण रंग शाल में जाकर शयन करने का बहाना कर बाग की ओर चली। अर्द्ध रात्रि के समय अकेले जाते हुए देख कर पोसाल स्थित महात्मा के शिष्य ने अपने गुरु से कहा—

रिमझिम पाए घूघरा, मोती मांग अवार ।
आधै समै इयै दैय कै गुरु जी ! चली कहा उवानार ॥

गुरु ने उत्तर दिया :—

कान घड़्यां वले सोवनां, नक सोनांरी नाथ ।
धातरी प्रीतम पै चली, रमण सेझ रंग रात ॥
बेलड़ी तेलड़ी पंचलड़ी, व्यां सिर वेणी म्हेल ।
चेलै दीठी गोरड़ी सु दीधा पुसकत म्हेल ॥
चेला पुस्तक भूल करि, कहा पूछत है वात ।
इण नगरी की डगर में एक आवत एक जात ॥

शिष्य ने कहा—रहो रहो गुरु जी मूढ कर, कहा सिखावत मोय ।
सब सूते इण नगर के, जागत विरला कोय ॥

इस प्रकार गुरु चेलों की बात पर ध्यान न दे नागवंती अबाध गति से अपने मार्ग में चल रही थी, शहर के बाहर कुम्हारों के घर के पास दोहा कहा :—

साली सूनो ढोर, बाली में बरजूं घणी ।
अठे अमीणो चोर, जुग में जाणी तलथयो ॥

आगे चलते एक ब्राह्मण का घर आया। इसे देख कर ब्राह्मण भयभीत हो कहने लगा—देवी या या डाइन ? नागवंती ने उत्तर दिया—

ना भरडोना भूत म्हे, दुखी माणस हुय आवीया ।
अठै अमाणो कंत, नारी कुंजर नागजी ॥
डाकण नहीं गिंवार, सिंहारी हुती नहीं ।
गलती मांझल रात, खरी सिंहारी हुय रही ॥

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—सूतो सुख भर नींद, सूतै नै सुपनो थयो ।
अै रख नागो बींद, सुख रौ मलप्यौ खेत में ॥

यहाँ से आगे चली तो मेह अंधेरी रात और चमकती हुई बिजली ही नागवंती का पथ प्रदर्शन कर रहे थे। मेघ का गर्जन सुन कर उसने कहा—

ऊंडो गाजै ऊतरा, ऊंची बीज खिवेह ।
ज्युं ज्युं स्रवणे संभलं, त्युं त्युं कंपै देह ॥

तालाब के पास पहुँच कर नागवंती ने देखा, पवन के झोंकों से सरोवर का जल हिलोरें खा रहा है एवं पीपल के पत्ते साँय साँय कर रहे हैं, उसने कहा—

पीपल पान ज रूणझुणै, नीर हिलोला लेह।
ज्युं ज्युं स्रवणे संभलूं, त्युं त्यु कंपै देह॥

फिर उसने पुकारा—महाराजकुमार नागजी! कहीं निकट हों तो बोलना, अब मुझे भय लगता है। आम्र वृक्ष के नीचे आकर कहने लगी :—

सजन आंबा मोरीया, आई आस करेह।
ज्युं ज्युं स्रवणे संभलूं, त्युं त्युं कंपै देह॥

ऐसे विकट समय में नागजी के प्रेम तार से खिंची हुई नागवंती बाग के महल तक पहुँची। इधर नागजी उसकी चिर प्रतीक्षा में दुःखातिरेक से कलेजे में कटारी मार कर सो गया। नागवंती ऊपर आ कर नागजी को सोया देख कर पास में बैठकर कहने लगी :—

नागड़ा नींद निवार, हूँ आई हेजालवा।
ऊठो राजकुंवार, नींद निवारो नागजी॥
नागड़ो सूतो खंटी ताण, बतलाया बोलै नहीं।
कदेक पड़सी काम, नौहरा करस्यौ नागजी।

यह कहते हुए नागवंती ने वस्त्र उघाड़ा तो नागजी के कलेजे में थिरकती हुई कटारी नजर आई। उसने बाग में आकर कहा—

आंबो मरवौ केवड़ो, केतकियां अर जाय।
सदा सुरंगा चंपला, आज विरंगो कांय॥
सजन चंदन बावनै, अैहरू कूका रेह।
ज्यूं ज्यूं स्रवणे संभरूं, त्युं त्युं कंपै देह॥

नागवंती ने कहा—अहो नागजी, बोलो तो सही मुझे बहुत भय लगता है। फिर कहने लगी—

सेवा सेवतड़ांह मानव काय मानै नहीं।
पथर पूजतड़ांह, निरफल थई हो नागजी॥
सूतो सवड़ धरेह, बिन पिछोड़ै पिंडरा।
सादो सादन देह, आवि वहेलो नागजी॥

अब नागवंती करुण शब्दों में विलाप करती हुई कहने लगी—

कटारी कुनार लोहाजी लाजी नहीं।
आजूणी अधरात नागण गिल बैठी नागजी॥१॥
जा जोबन अर जीव जा, जा पाणेचा नैण।
नागौ सयण गमाय कर, रही किसा सुख लैण॥२॥
कुच जा भुज जा अहर जा, तन धन जोबन जाइ।
नागौ सयण गमाइयौ, अब रहि अर करसी काह॥३॥
जाय जासी जुग छेह, पाछा आप जासी नहीं।
वालां बिच बैसेह, वले न बातां कीजसी॥४॥

जान माणी रतड़ी तेन लाई वार।
अमां विछोह तैं किया, तो करज्यो करतार ॥५॥
नागड़ा नवलौ नेह, जिण तिणसुं कीजै नहीं।
लीजै परायौ छेह, आपणयौ दीजै नहीं ॥६॥
नागड़ा नवलौ नेह, नोज किणी सुं लागजो।
जलै सुरंगी देह, धुखै न धूवो नीसरै ॥७॥
नागा नागर बेल, गूढस गूढ़ी ऊखणी।
क्युं हीक मोनूं राख, वरतण जोगी बालहा ॥८॥
डूंगर केरा वाहला, आंघां तणो सनेह।
वहता वहै उतावला, झटक दिखावै छेह ॥९॥
तूंही रावलहीर, मोट सूता मिलसी घणा।
तूं पाटण पट चीर, नारी कुंजर नागजी ॥१०॥
इम कहिया बहु वैण, नैण झरै आंसू घणा।
तो सिरखा मो सैण, वलै न मिलसी नागजी ॥११॥

राजा धौलबाला चौकीदारी करता हुआ इधर आ निकला। उसने महल पर चढ़ कर देखा कि मृत नागजी के पास नागवंती बैठी विलाप कर रही है। उसने कहा—नागवंती, नीचे उतरो। नागवंती ने ससुर को निम्न दोहों में उत्तर दिया—

चढ़ती चंड बड़वार उतरतां आंटा पड़ै।
आजूणी अधरात निगल बैठी नागजी॥
सुसराजी सौ बार, सयण घणाई संपजै।
पिण न मिले दूजीवार, नाग सरीखो नाहलो॥

धौलबाला लज्जित हो नीचे उतरा। उसने यह सोच कर कि रात थोड़ी रही है, प्रभात होने पर यदि यह नहीं उतरी तो बदनामी होगी, शहर से जाखड़ा जी को लाने के लिए अीठी भेजा जाखड़ा जी ने आ कर नागवंती को नीचे आने की आज्ञा दी। वह नीचे उतरते हुए कहने लगी—

आइयौ आढा लाह, गाज्यो न धूडुक्यो नहीं।
बूढो वाढा लाह, तिगुणी भुंय पर नागजी॥

नागवंती ने घर का मार्ग लिया। इधर नागजी की अन्त्येष्टि क्रिया के लिये तैयारी होने लगी। धौलबाला ने कहा :—

नागड़ा नवखंडेह, सगपण घणाई तेड़ियै।
भुय ऊपर भुंवतांह, मिलतां ही मरजै नहीं॥

नागवंती पीहर जाकर लौटी। नागजी की चिता के समीप धौलबाल ने दोहा कहा—

ऊंडै पड़वै बैस, पिव सुं पैजां मारती।
सुं माणसीया एह, धूंधै लागा धोलउत॥

नागवंती ने कहा—ऊपर वाड़ै अहीर, रह रह चावा डांभतो।
सालै मोय सरीर, सु नित नवला नागजी॥

चूड़लो चीरा एह, मोल मुंहगै आणीयों।
नांखूं नीझाड़ेह, भव पैला सुं पाइयौ।
कल में को कुंमार, माटी रो मेलो करै।
चाक चढावण हार, कोई नवो नीपावै नागजी ॥
कुल में दोय कुंभार, बांसोलो नै वींझणी।
जेहुँ डुंवती सुथार, नवो घड़ लेवत नागजी ॥५॥

नागजी की चिता सजाई जा रही थी, लांग (अग्नि) देने की तैयारी थी, इतने में नागवंती का रथ पास से निकलने लगा। उसने सारथी से पूछा, 'जुहारी के नारियल कितने आए हैं?' सारथी के नारियल दिखाने पर उसमें से एक नारियल अपने हाथ में ले कर चिता में प्रवेश किया। उसने नागजी को अपने अंक में सुलाया और शान्त भाव से विराजमान हुई। लोगों के सविस्मय प्रश्न करने पर नागवंती ने नागजी के अपने पति होने की बात कही। लोगों ने बहुत समझाया पर न मानने पर बराती लोगों ने अपना मार्ग लिया। जाखड़ा और धौलबाला सब लोगों के साथ शहर में आए। नागवंती ने रथी को प्रज्वलित कर स्वयं प्रवेश किया। रथी जलने लगी, इतने ही में महादेव-पार्वती उधर से हो कर निकले। पार्वती के आग्रह से महादेव ने रथी बुझा कर नागजी को अमृत सिंचन द्वारा जिला दिया। नागजी तथा नागवंती दोनों ने उठ कर महादेव-पार्वती को प्रणाम किया। पार्वती से अखण्ड सौभाग्य का आशीर्वाद प्राप्त कर दोनों शहर में आए।

दोहा—मंवा मुसाणे गया, नागजी नै नागवंती।
कल में अखी कयाह, महादेव अर पारवती ॥१॥
प्रीत निवाहण अवतर्या, कल में अखी थयाह।
सिव उमया प्रसाद कर, चिरंजीव रह्याह ॥२॥
जे याको गावै सुणे, विरहै टलै ततकाल।
नित प्रत रो आणंद रहै, कहे न होत जंजाल ॥३॥

॥ इति श्री नागजी नागवंती की बात संपूरण ॥

मराठी जन कवि सगनभाऊ की हिंदी लावनियाँ

श्री प्रभाकर माधवे, नई दिल्ली

हिंदी साहित्य में रीति-काल की भाँति मराठी साहित्य में मध्ययुग के अंत में उत्तर पेशवाई के समय यानी ईसा की १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध में पोवाडे और लावणी लिखने वाले कई जन-कवि हुए। उनमें रामजोशी, अनंतफंदी, होना जी बाला, परशराम, प्रभाकर आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कइयों ने मराठी के अतिरिक्त मिश्रित भाषा में भी—जैसे कृष्ण संबंधी लावनी में यह दिखाने के लिये कि गोपियाँ कई प्रदेशों की हैं, अतः कोई कन्नड़ में बोलती है, कोई गुजराती में, कोई तेलुगू में—रचनाएँ की हैं और हिंदी में भी। इन्हीं लावणीकारों में सगनभाऊ एक मुसलमान कवि थे। उनकी जीवनी और उनका निश्चित काल ज्ञात नहीं हैं। केवल एक संग्रह—मौखिक तथा स्मृति के सहारे जमा की हुई लावनियों का चित्रशाला प्रेस, पूना में छपा है: 'सगनभाउच्या तथा लावण्या' (गो० गो० अधिकारी)। उससे पता चलता है कि कवि मुसलमान होते हुए भी हिंदू पौराणिक कथाओं का अच्छा ज्ञाता था। खंडकी की लड़ाई के बाद बाजीराव पेशवा के पलायन के पश्चात पूना की विपिन्न स्थिति का वर्णन उसके पोवाडे में बहुत अच्छी तरह हुआ है। यहाँ मुझे सगनभाऊ की जो चार लावनियाँ मिलीं, उन्हीं को प्रस्तुत कर रहा हूँ। इनकी विषय वस्तु कैसी भी उत्तान हो, अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र में कैसी हिंदी जन-साधारण समझते थे इस बात का यह उत्तम नमूना है। शोध-कर्ताओं के लिए भाषा शास्त्र और छंद शास्त्र की दृष्टि से इनमें बहुत कुछ सामग्री मिलेगी। मूल पाठ ज्यों के त्यों प्रकाशित किए जा रहे हैं।

बाहार खुदा विसर गये

शाम भई राम तुजे आराम करेगा। पिहुजन पार अल्ला खैर करेगा॥ धृ०॥
सुनत सखी पिहुन यका इष्क कहते। रुखसत् के वक्त कच्छु बयत कहेते॥
रन् फरेकव बदंगीमो रयन भयेते। घोड़े उपर स्वार हुयेते नयन भयते॥
पलो सफलाय खुदा मेहेर करेगा॥ १॥

हामपके गहर निंबु लागे दराने। हा मसे दुवागीर बने पिहूँ के बिराने॥
हौस गये मौतनका चारा चराने। त्वरस लगी पानी कीदर जाऊं चुराने॥
अल्फ सुखा पटकुंडी लहुँसे भरेगा॥ २॥

डाग लगा कलीजे उपर पिहूँ के कमल का। याह करो फौजा कुलजाव आलमका॥
बान चुबान सनसमो हाय रे जालमका। छाती अपर वार जडा नयन बलम का॥
बाहार खुदा विसर गये क्या तों करेगा॥ ३॥

इत जाय उन्मतसे मीलना तन मन । गय बगा अबान हुका कहे हुसेन बखान ॥
नहीं उजेन पार गये है रे गुल चमन । पोंच करो मक पुरे मीरज के समन ॥
सगन भाऊ मुरशद कू सिद्ध करेगा ॥ ४ ॥

जल भर के प्यारी उठे

चली गेंद धरन मखमोल कमल का फुल हात पिंजरा मैना का लिया ॥
खुप बनी महेंबुप विचतर नयनों ने गचब किया ॥ धृ० ॥

सब जर्द किया पोषाख बड़ी-बड़ी आख नाक में नखनीं जहु राखी से गले मौतीलन की मटक रही त्रिवन हाल पर चले ॥ सुनके कंगन हात आसल गुजराथ चला एक जाय चौक में डूले ॥ मारे नयन तड़ाखे आपक देख जमीन पर भुले । चाल ॥ लेचलीपन घट पर बिजली पिंजरा आलख किनारे पर धरे ॥ छम छनन बाजे पैंजन पग में लखा खबूतर झुरे ॥ चला जलभरने कू नादर पठीया कुदकाद जलभरे ॥ किन्ने शहर का दिलदार मुशाफर यार प्यास लगी पाणी पीने आया ॥ १ ॥

जलभर के प्यारी उठे महीताप लूटी कहे मोहना लेऊँ सीरदर घडा । नयन से नयन मिला के मिछे देख मुशाफर खडा ॥ चाप क्यों रोती गुणपरी ईषककीं सुरी केक तेरे सवाल का तीर जडा ॥ सलाम लेव छबिले गबरू ठयेर के च्याबुक भीडा । चाल ॥ किन्नेक बच्चीके पुत तुमारी ज्वानी सलामत रहो । कसमरि में नखरा उदेपुर बस्ती महाल कहो ॥ यवकहे सखी मुख सौ बात लाल तुम एक दीन मंदिर रहो ॥ मोहना की मिटी जुबान तनमकीं जान सुन पंचीका जीतर भया ॥ २ ॥

मय कहूँ तूं सकुन पछा नरही दे में छान देखने नीकला दखन बतन ॥ हुशार हो के खडे रहो प्यारे सुन केले गुल रतन ॥ तुम ज्वाव कहोजी प्रभुराज गुलछना बाज निमोना शहर हमारा बतन ॥ महल खडे है सब कंचन के आब लग किये जतन ॥ चाल ॥ सब छोड़ दिया सनसार इषके खातर क्या कहूँ बयान । मथुरा विंदरावन घाट व्हाय के तेरे हुशेंनके शरान ॥ उजन एक ब हाणपुर शहर पुछेमे था एक मकान । क्या कहूँ कुच कत्या न न जाय । वदनार हा ये सुवे कलीना कबा वह था ॥ ३ ॥

चतुर से चतुर मिला चांद से खुला । एक पर एक हो गये कीदा । चला महेल में पितम प्यारे मोहोबत का जुग बाधा ॥ मतवाल कुच दिल में खोप बदन में खीलाप तुमारे से नाहीं जान जुदा । इष्क करूंगी पोचा बंदे खाजे न वाजे खुदा । चाल ॥ ले गये मंदीर मो रफी खवारी सेज फुलो के घटा ॥ प्यार पोर गुजर गये रयन चयनसे आषक ने रंग लुटा । बासा राज्ञुके ख्याल चमकते झुकते गाते मिठा । भाऊ सगन गावते खयाल बजै चैताल मिजालस रामा ने खुष किया ॥ ४ ॥

किने घुंगर बजाया

किने घुंगुर बजाया छननन छननन आबाज आया ॥धृ॥
आजी जाती आपने पिहूँ कूं मिलने ज्याती ॥ आज ज्याती आशक मत-

वाला जीका साती ॥ चांदणी रात नहिं सरमाती ॥ वीदीसीस फल चमक बतलाती ॥ बाके बाल पुरावे मोती ॥ मांग जमाच्या ॥१॥

विष के मारे लुटपुट प्यारे ॥ ज्या के पिहु के आंगन में भाले ॥ ईशारत करके लाल पुकारे ॥ थाप दरवाजा उपर भारी ॥ मजकूं घर खावंद की मोरी ॥ उठोजी मिया ॥२॥

मोहन का सुनले मिठा आवाजा भारी आवाजा । कुचलेकर खोल दरवाजा ॥ पितमकूं देखे तर कलीजा ॥ हिदुपद दखन कां राजा । आर्जी सुनतेव आजी महाराजा ॥ दर्शन बताया ॥६॥

सामने होवे अकबर काई ॥ छाती उमर गेंद मरकई ॥ मिलाफ होके चिराक सरकाई ॥ करकर चुरिया जदत्तर काई । सगनभाऊ कहे हुई भरपाई ॥ जुटी माया ॥४॥

(इस कविता में हर ढ्योढ़ी पांक्ति मराठी है)

दाद कोइ नहीं देता मय तो जोगिन होउंगी ।
राख लावा माझे आंगी ॥धृ॥
हाल हाल फकीर लेऊं, धु डत बन बन में जाऊं ।
सख्याला दृष्टीने पाहू ॥
पितम प्यारे हो गये न्यारे विडा किसे देऊं ।
कोणया समजुतीने समजाऊं ॥
हाल जंजिरा लेऊं बंद चोली कुबत्ती देऊं ।
आग्न ज्ञा शरिरी लाऊं ॥
रैन चैन दिलख नख है मैं ले उस भोगी ॥१॥
चार घड़ी दम पकड़ा शहर में भेजा हलकारे ।
नगर धुंडन पहावे सारे ।
बखत पडा है मुजपर रफिक् लाना आजपुरे ।
नाहीं घिर विषयाचे वारे ॥
तिर कलिजा पार बलम मके जर बके मारे ।
असे दृष्टा केले कारे ॥
छतीय मर मर आई आब मैं बैठी बेतागी ॥२॥
ये बन डेसिर ताज लाज रखना मोतीवाले ।
अंता भी त्राहि फार झाले ॥
आई मैं हलके बहारे कपड़े उतार के डाले ।
चुड़े फौड़न तुकडे केले ॥
दोनों हात में उंचे चिनी के भर भर के प्याले ।
असे द्रष्टा कारे केले ॥
सगनभाउचे ख्याल हरफ चमके समशेर नंगी ।
राख लावा माझे अंगी ॥३॥

———

हिन्दी शोध के पच्चीस वर्ष

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग

विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोध-उपाधियों के लिए प्रेषित सफल प्रबंधों की संख्या अब सौ से अधिक हो गई है। इनमें भाषा, साहित्य और संस्कृति संबंधी अनेक विषयों पर मौलिक अनुसंधान अथवा नवीन और मौलिक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण के रूप में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्येताओं को बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। हिंदी शोध का कार्य भारत के कम से कम चौदह-पंद्रह विश्वविद्यालयों में हुआ और हो रहा है। इनके अतिरिक्त इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी के विश्वविद्यालयों में भी हिंदी भाषा और साहित्य-संबंधी प्रबंधों पर उपाधियाँ प्राप्त की गई हैं। योरुप के कुछ अन्य देशों के विश्वविद्यालयों में भी हिंदी शोध कार्य हो रहा है। हिंदी अनुसंधान की यह प्रगति हमारे लिए संतोष और गर्व का विषय हो सकती है। किंतु अब समय आ गया है कि हम पीछे मुड़ कर देखें, समस्त कार्य का पुनर्परीक्षण करके उसकी उपलब्धियों और अभावों पर विचार करें तथा शोध क्षेत्र के बहुविधि विस्तार में स्वभावतया निहित पुनरुक्ति, अनुकरण, आतुरता, प्रलोभन, प्रोत्साहन आदि के परिणाम स्वरूप स्तर-च्युति की आशंका को दूर करने का प्रयत्न करें। इसके साथ ही शोध की भावी दिशा को सतर्कता के साथ निर्धारित करने की भी आवश्यकता है, जिससे शोध विद्यार्थियों को जो प्रायः विषयों का अभाव चिंतित करता है, उसका भी उचित निवारण हो सके।

हिंदी संबंधी सबसे पहला शोध कार्य डॉ० मोहिउद्दीन कादरी का हिंदुस्तानी ध्वनियों के विषय में था जिस पर सन् १९३० ई० में उन्हें लंदन से पी-एच० डी की उपाधि मिली थी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सबसे पहले प्रयाग विश्वविद्यालय ने डॉ० बाबूराम सकसेना के 'अवधी का विकास' शीर्षक प्रबंध पर डी० लिट्० की उपाधि १९३१ ई० में प्रदान की थी। भारतीय विश्वविद्यालयों में, इधर कुछ वर्षों से प्रायः दो शोध उपाधियाँ दी जाने लगी हैं। प्रथम शोध उपाधि पी-एच० डी० अथवा डी० फ़िल्० (प्रयाग) नामक है जिसे उससे उच्चतर उपाधि डी० लिट्० (विज्ञान के लिए डी० एस-सी०) के लिए पहले प्राप्त कर लेना प्रायः अनिवार्य हो गया है। अतः शोध-प्रबंधों में जहाँ विस्तार और विविधता के कारण यों भी स्तर-भेद स्वाभाविक है, वहाँ उपाधियों के इस स्तर-भेद में उसकी वैधानिक स्वीकृति भी है।

सन् १९३० से अब तक के स्वीकृत शोध प्रबंधों को विषय की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इस वर्गीकरण से शोध कार्य के विस्तार और विविधता पर कुछ निश्चित रूप में विचार करके महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख में समस्त स्वीकृत शोध प्रबंधों को दस वर्गों में विभक्त करके उपस्थित किया गया है।

१. भाषा और भाषा विज्ञान संबंधी

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिंदी शोध कार्य भाषा संबंधी प्रबंधों से प्रारंभ होता है। डाक्टर बाबूराम सक्सेना के 'अवधी का विकास'[1] (प्रयाग, १९३१) के बाद सन् १९३५ ई० में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रजभाषा'[2] शीर्षक प्रबंध पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। अवधी भाषा का एक अन्य अध्ययन 'सोलहवीं शताब्दी की हिंदी भाषा (अवधी) का अध्ययन' शीर्षक प्रबंध के रूप में १९४१ में लंदन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। किसी हिंदी बोली विशेष के एकात्मक अध्ययन के इस क्रम में केवल दो प्रबंध और हैं—एक डॉ० उदयनारायण तिवारी का 'भोजपुरी का विकास'[3] जो १९४५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ तथा दूसरा डॉ० सुभद्र झा का 'मैथिली भाषा का विकास' जो पटना विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। लहंदी भाषा संबंधी डॉ० हरदेव बाहरी का प्रबंध पंजाब विश्वविद्यालय से पहले ही स्वीकृत हो चुका था। बोलियों के सामूहिक और तुलनात्मक अध्ययन विषयक भी दो प्रबंध हैं—एक है डॉ० नलिनी मोहन सान्याल का 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' जो १९४३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के, तथा डॉ० जी० एन० जुयाल, का 'मध्य पहाड़ी भाषा और हिंदी के साथ उसका संबंध' जो १९५४ में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। हिंदुस्तानी ध्वनियों के अनुसंधान विषयक डॉ० कदरी के कार्य का उल्लेख किया जा चुका है। लंदन विश्वविद्यालय से ही सन् १९५० ई० में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का 'भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन' शीर्षक प्रबंध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान के अध्ययन की दिशा में यह प्रबंध महत्त्वपूर्ण बताया गया है। भाषा विज्ञान के ध्वनि, शब्द, अर्थ और वाक्य-विचार विषयक अंगों में अब तक केवल हिंदी अर्थ-विज्ञान पर एक प्रबंध डॉ० हरदेव बाहरी का प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९४४ में डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ है।

भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की सीमाएँ अपेक्षाकृत सुनिश्चित होते हुए भी यह अध्ययन अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन को अद्वितीय सहायता पहुँचाता है और अनेक समस्याओं के सुलझाने में मदद देता है। बोलियों के अंग विशेष अथवा सीमित अंश विशेष के आधार पर जो अध्ययन हुआ उसका महत्त्व सांस्कृतिक दृष्टि से कदाचित् अधिक है। इस प्रकार के दो प्रबंधों पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० की उपाधि दी गई है—एक है डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त का 'आज़म गढ़ ज़िले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग संबंधी शब्दावली' (१९५० ई०) और दूसरा डॉ० विद्याभूषण 'विभु' का 'उत्तर प्रदेश के हिंदू पुरुषों के नामों का अध्ययन' (१९५२ ई०)। काशी हिंदू विश्व विद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत डॉ० ओमप्रकाश गुप्त के प्रबंध 'हन्दी मुहावरे' तथा राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत डॉ० कन्हैया लाल 'सहल' के

---

१. मूल अंग्रेज़ी में प्रकाशित, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

२. मूल फ्रेंच से अनुवाद प्रकाशित, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

३. 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' नाम से उसी का संशोधित रूप बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' (१९५४) भी भाषा संबंधी अध्ययनों के साथ सांस्कृतिक अध्ययन के अंतर्गत आ जाते हैं।

२. हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी

सन् १९३८ में डा० राम कुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सं० ७०० वि०–१७०० वि०) प्रकाशित हुआ था[४] जो नागपुर विश्वविद्यालय से १९४० ई० में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। इससे पूर्व 'आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ'[५] शीर्षक डॉ० इंद्रनाथ मदान का प्रबंध पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ था। १९४० में दो और प्रबंध प्रस्तुत किए गए—एक है डॉ० केसरी नारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्य धारा'[६] जिसे काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० के लिए स्वीकृत किया तथा दूसरा है डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिंदी साहित्य'[७] (१८५०-१९०० ई०) जो प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत हुआ। दूसरे वर्ष डॉ० श्रीकृष्ण लाल का 'हिंदी साहित्य का विकास'[८] शीर्षक प्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय की ही डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ, जिसमें १९०० से १९२५ तक के साहित्य का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। प्रयाग विश्वविद्यालय ने आधुनिक साहित्य के इस ऐतिहासिक विवेचन के क्रम को आगे बढ़ाया और सन् १९५२ में डॉ० भोलानाथ का 'आधुनिक हिंदी साहित्य'[९] (१९२६-१९४७) डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत किया। आधुनिक हिंदी साहित्य की साहित्यिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन भी प्रयाग विश्वविद्यालय में ही सन् १९४६ में डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका'[८] शीर्षक प्रबन्ध के रूप में डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हो चुका था। साहित्य के विभिन्न अंगों पर भी अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं। डॉ० रामरतन भटनागर का 'हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास'[९] १९४८ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत हुआ तथा सन् १९५० में डॉ० ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र' (अब स्वर्गीय) का 'द्विवेदीयुग (१९०१-१९२०) में हिंदी कविता का पुनरुत्थान : एक अध्ययन'[१०] राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी के लिए स्वीकृत हुआ। हिंदी क्षेत्र की प्रादेशिक भाषाओं में डॉ० जयकांत मिश्र ने प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग से 'मैथली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और उस पर अंग्रेजी का प्रभाव'[११] शीर्षक प्रबन्ध डी० फ़िल० के लिए प्रस्तुत किया और वह १९४८ ई० में स्वीकृत हुआ। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का प्राचीन पिंगल (हिंदी) साहित्य'[१२] पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

---

४. प्रकाशित, लाला रामनरायनलाल, इलाहाबाद
५. मूल अंग्रेजी मे प्रकाशित
६. हिंदी रूपांतर प्रकाशित, सरस्वती मंदिर, बनारस
७. प्रकाशित, हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग
८. हिंदी रूपांतर प्रकाशित, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग
९. मूल अँग्रेजी में प्रकाशित, किताब महल, इलाहाबाद
१०. 'हिंदी कविता में युगांतर' नाम से प्रकाशित, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
११. मूल अंग्रेजी में प्रकाशित
१२. प्रकाशित, हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर

३. विशेष धारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी

इस वर्ग का सबसे पहला प्रबन्ध हिंदी साहित्य सम्बन्धी सबसे पहला शोध प्रबन्ध है। यही किसी विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग का भी सबसे पहला प्रबन्ध है। वह है डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल (अब स्वर्गीय) का 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय'[१३] जो १९३४ ई० में काशी हिंदू विद्यालय द्वारा डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९३५ में 'मध्यकालीन संत साहित्य' पर डा० रामखेलावन पांडेय को पटना विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० की उपाधि मिली। सन् १९४६ में प्रयाग विश्वविद्यालय में डॉ० ब्रजमोहन गुप्त का 'हिंदी काव्य में रहस्यवादी प्रवृतियाँ' डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत किया गया। दूसरे वर्ष इसी विश्वविद्यालय में डॉ० पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ को 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य'[१४] पर डिग्री दी गई। इस काव्य धारा पर तीन अन्य अन्वेषकों ने कार्य किया है—एक हैं डॉ० विमल कुमार जैन, जिन्हें १९५१ में दिल्ली विश्वविद्यालय ने 'सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य' पर पी-एच० डी० दी, दूसरे हैं डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव जिनका 'हिंदी साहित्य के हिंदू प्रेमाख्यानकार' शीर्षक प्रबंध सन् १९५२ में लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ और तीसरी हैं डॉ० सरला शुक्ल जिनका 'हिंदी का उत्तर जायसी सूफ़ी काव्य' भी लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा ही १९५४ में पी-एच० डी० के लिए स्वीकार किया गया। 'हिंदी काव्य (१६००-१८५० ई०) में शृंगार रस'[१५] में भी साहित्य की एक रीति-कालीन प्रवृत्ति का अध्ययन किया गया है, जिस पर डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी को आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० दी गई। वीर काव्य धारा का अध्ययन डा० टीकम सिंह तोमर ने अपने 'हिंदी वीर काव्य'[१६] में किया जो १९५२ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत हुआ। काव्य में प्रकृति चित्रण पर दो प्रबंध प्रस्तुत हुए—एक 'प्रकृति और काव्य'[१७] (भक्ति और रीति-काल) शीर्षक डॉ० रघुवंश का प्रयाग विश्वविद्यालय में और दूसरा 'हिंदी काव्य में प्रकृति चित्रण'[१८] डॉ० किरणकुमारी गुप्त का आगरा विश्वविद्यालय में। दोनों सन् १९४८ में डी० फ़िल्० और पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए। शोध प्रबंधों के इसी वर्ग में 'हिंदी काव्य में नारी भावना'[१९] शीर्षक डॉ० शैलकुमारी का डी० फ़िल्० का प्रबंध भी आता है जो सन् १९४९ में प्रयाग विश्वविद्यालय ने स्वीकृत किया। सन् १९५२ में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल का 'हिंदी साहित्य में विविधवाद'[२०] भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है, क्योंकि इसमें भी प्रवृत्तियों का ही अध्ययन है।

---

१३. हिंदी अनुवाद प्रकाशित, अवध पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ

१४. प्रकाशित, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर

१५. रीति-कालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन नाम से सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा से प्रकाशित।

१६. प्रकाशित, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

१७. प्रकाशित, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

१८. प्रकाशित, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१९. प्रकाशित, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

२०. प्रकाशित, सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा

४. विशेष कवि, लेखक या कृति संबंधी

यद्यपि विशेष धाराओं के अंतर्गत भी कवियों के विशेष अध्ययन आ गए हैं, उदाहरणार्थ निर्गुण काव्य में कबीर और प्रेमाख्यानक काव्य में जायसी के जीवन और काव्य के विशेष अनुसंधान हुए हैं, किंतु कवियों के एकात्मक अध्ययन संबंधी प्रबंध एक भिन्न वर्ग में आते हैं। इनमें अध्येता का ध्यान कवि-विशेष पर अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रस्थ रहता है। इस वर्ग का सबसे पहला डा० एफ़० ई० के का सन् १९३१ में लंदन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत 'कबीर तथा उनके अनुयायी' शीर्षक प्रबंध है। कबीर संबंधी एक और प्रबंध डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'कबीर की विचार धारा'[२१] शीर्षक है जो १९५१ में पी-एच० डी० के लिए आगरा विश्वविद्यालय में स्वीकृत किया गया। सन् १९४१ में डा० लक्ष्मीधर ने मलिक 'मुहम्मद जायसी कृत पद्मावती का सटीक संपादन और अनुवाद'[२२] लंदन विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करके पी-एच० डी० प्राप्त की।

तुलसीदास और सूरदास पर सब से अधिक कार्य हुआ है और यह स्वाभाविक कहा जा सकता है। तुलसीदास पर पहला प्रबंध डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन'[२३] है जो सन् १९३८ में नागपुर से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९३९ में डाक्टर हरिहरनाथ टुक्कू का 'तुलसीदास : एक अध्ययन (विशेषत: मानस के आधार पर)' डी० लिट्० के स्वीकृत हुआ। तुलसीदास के जीवन और कृतियों का प्रथम गवेषणात्मक अध्ययन डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास'[२४] है जो १९४० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९४९ में डाक्टर राजपति दीक्षित को 'तुलसीदास और उनका युग'[२५] शीर्षक प्रबंध पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि दी गई। 'तुलसी दास की भाषा' शीर्षक प्रबंध पर सन् १९५४ में डा० देवकी नंदन श्रीवास्तव को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि मिली है।

सूरदास पर पहला प्रबंध डा० जनार्दन मिश्र का 'सूरदास का धार्मिक काव्य'[२६] शीर्षक है जो १९३४ में कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। दूसरा प्रबंध प्रस्तुत लेखक का 'सूरदास—जीवन और काव्य का अध्ययन'[२७] है जो १९४५ में प्रयाग विश्वविद्यालय में डी० फ़िल० के लिए स्वीकार किया गया। सन् १९५१ में 'भारतीय साधना और सूरदास'[२८] पर डा० मुंशीराम शर्मा को; तथा सन् १९५३ में 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' पर डा० हरवंशलाल शर्मा को आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० मिली। सन् १९५४ में

---

२१. प्रकाशित, साहित्य निकेतन, कानपुर
२२. मूल प्रकाशित लूजक एंड कं० लि० लंदन
२३. प्रकाशित, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
२४. प्रकाशित, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग
२५. प्रकाशित, ज्ञान मंडल, काशी
२६. अंग्रेजी में प्रकाशित, यूनाइटेड प्रेस. पटना
२७. प्रकाशित, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग
२८. प्रकाशित, आचार्य शुक्ल साधना-सदन कानपुर

डा० रामधन शर्मा का 'सूर के दृष्टिकूट पद' पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है।

हिंदी के आदिकाल से संबंधित दो कवियों पर पी-एच० डी० के लिए प्रबंध स्वीकृत हुए। एक डा० विपिन विहारी त्रिवेदी का 'चंद बरदायी और उनका काव्य'[२९] कलकत्ता विश्वविद्यालय में और दूसरा डा० टी० एन० वी० आचार्य का 'गुरु गोरखनाथ और उनका युग' सन् १९५२ में आगरा विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया था। संत कवियों की परंपरा में कबीर के अतिरिक्त रैदास, मलूकदास, बिहार वाले दरिया साहब और शिवनारायण पर प्रबंध स्वीकृत हुए हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का 'संत कवि मलूकदास एक—अध्ययन', डा० भगवत् व्रत का 'संत रैदास और उनका पंथ' (१९५४) तथा डा० रामचंद तिवारी का 'शिवनारायण संप्रदाय' (१९५२) स्वीकृत, हुए। 'बिहार वाले दरिया साहब के दार्शनिक विचार'[३०] शीर्षक प्रबंध पटना विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ जिस पर डा० धर्मेन्द्र शास्त्री को पी-एच० डी० मिली। १९५२ में राजस्थान विश्वविद्यालय ने डा० फैयाज़ अली का 'संत नागरीदास' पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत किया। धारा परक अध्ययन के अतिरिक्त जायसी का भी एकात्मक अध्ययन हुआ है। आगरा विश्वविद्यालय से डॉ० जे० डी० कुलश्रेष्ठ को 'जायसी-उनकी कला और दर्शन' पर १९४९ में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। रीति परम्परा के कवियों में पहला अध्ययन डॉ० नगेन्द्र का है। सन् १९४६ में उनका 'रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता'[३१] आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ में डॉ० हीरा लाल दीक्षित का 'केशवदास' तथा १९५३ में डा० नारायणदास खन्ना का 'आचार्य भिखारीदास' पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत किया। पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९४५ में महामहोपाध्यय डॉ० लक्ष्मीधर शास्त्री को 'ऋषि बरकत उल्ला पेमी कृत प्रेम-प्रकाश' पर तथा सन् १९५१ में डॉ० सरनदास भणोत को 'आलम कृत श्याम सनेही' के भूमिका, परिशिष्ट सहित आलोचनात्मक संपादन पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। आधुनिक कवियों और लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर प्रेमचंद और प्रसाद पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं। पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९४६ में डॉ० शिवनारायण बोहरा का 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र', लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९४६ में डॉ उदयभानु सिंह का 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग',[३२] और आगरा विश्व विद्यालय ने सन् १९५२ में विश्वभरनाथ भट्ट का 'रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला', तथा डॉ० एस० एन० शुक्ल का 'उपन्यासकार प्रेमचंद, उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन' पी० एच० डी के लिए स्वीकृत किए। 'प्रसाद' पर दो प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं—एक सन् १९४३ में डॉ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का 'प्रसाद के

---

२९. प्रकाशित, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

३०. प्रकाशित बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना

३१. प्रकाशित, गौतम बुक डिपो, दिल्ली

३२. प्रकाशित, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, लखनऊ

नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन'[३३] डी० लिट्० के लिए तथा दूसरा सन् १९५३ में डॉ० प्रेमशंकर तिवारी का 'जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास'[३४] सागर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए।

५. वर्ग-विशेष के कवि-समूह संबन्धी

इन प्रबन्धों में व्यक्तिगत कवियों का सामूहिक रूप में अध्ययन किया गया है। सन् १९४४ में प्रयाग विश्वविद्यालव ने डॉ० दीनदयालु गुप्त को 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय'[३५] पर डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९४८ में डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल का 'अकबरी दरबार के हिंदी कवि'[३६] तथा दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन् १९५१ में डॉ० सावित्री सिनहा का 'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ'[३७] शीर्षक प्रबंध पी-एच० डी० के लिए स्वीकार किया।

६. हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि, परम्परा, प्रभाव तथा तुलना संबन्धी

सन् १९४९ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत डॉ० कामिल बुल्के का 'राम-कथा—उद्भव और विकास'[३८] इस वर्ग का सर्व प्रथम प्रबंध है, जिसमें विषय का निःशेष वैज्ञानिक अध्ययन करके हिंदी के राम-कथा साहित्य के अध्येताओं के लिए पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण किया गया है। सन् १९५३ में प्रयाग विश्वविद्यालय में डॉ धर्मवीर भारती का 'सिद्ध साहित्य—परवर्ती प्रभावों के विशेष उल्लेखसहित'[३९] डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत हुआ जिसमें संत साहित्य की पृष्ठभूमि उपलब्ध की गई है। डॉ० हरिवंश कोचर का 'अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक प्रबंध भी जो १९५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि और परंपरा संबंधी सामग्री उपस्थित करता है।

अनेक प्रबंधों में अन्य भाषा साहित्यों का हिन्दी पर प्रभाव दिखाते हुए तुलनात्मक अध्ययन किए गए हैं। इस क्रम में पहला कार्य डॉ० सरनाम सिंह का है जिनका 'संस्कृत साहित्य का हिंदी साहित्य पर प्रभाव'[४०] सन् १९४९ में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी के लिए स्वीकृत हुआ। डॉ० रामसिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश का हिंदी साहित्य पर प्रभाव' सन् १९५० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० के किए स्वीकृत किया गया। हिंदी पर अंग्रेजी के प्रभाव का निरूपण करने वाले तीन प्रबंध प्रयाग विश्वविद्यालय में डी० फ़िल् के लिए स्वीकृत हुए हैं—'हिंदी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव'—डॉ० विश्वनाथ मिश्र (सन् १९५०), अंग्रेजी नाटकों का हिंदी नाटकों पर प्रभाव'—डॉ० धर्मकिशोर लाल का तथा 'आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी का प्रभाव'[४१]—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा। अंतिम दो प्रबंध अंग्रेजी विभाग से प्रेषित किए गए थे।

---

३३. प्रकाशित, सरस्वती मंदिर, काशी
३४. प्रकाशित, साहित्य भवन, लि० इलाहाबाद
३५. प्रकाशित, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
३६. प्रकाशित, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, लखनऊ
३७. प्रकाशित, हिंदी अनुसंधान परिषद, विश्वविद्यालय, दिल्ली
३८. प्रकाशित, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग
३९. प्रकाशित, किताब महल, इलाहाबाद
४०. प्रकाशित, रामनरायन लाल, प्रयाग
४१. 'हिंदी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', प्रकाशित, पद्मजा प्रकाशन, रामबाग, कानपुर

प्रादेशिक साहित्यों के साथ हिंदी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन संबन्धी केवल दो प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं। ये दोनों क्रमशः १९५३ और १९५५ में प्रयाग विश्वविद्यालय में डी० फिल के लिए स्वीकृत हुए। पहला है डा० जगदीश गुप्त का 'हिंदी और गुजराती काव्य (१५ वीं—१७ वीं शती) का तुलनात्मक अध्ययन' तथा दूसरा है डॉ० रतनकुमारी का 'हिंदी और बंगला के वैष्णव कवियों (१६ वीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन'।

७. विशेष साहित्य-रूप संबंधी

इस वर्ग के प्रबंधों में महाकव्य, नाटक, गीतिकाव्य, कहानी, आलोचना आदि के विकास का अध्ययन किया गया है। महाकाव्य संबंधी दो प्रबंध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए हैं - एक डा० हरिश्चंद्र राय का 'हिंदी साहित्य में महाकाव्य' सन् १९४९ में लंदन विश्वविद्यालय से और दूसरा डॉ० पी० सिंह का 'बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य' सन् १९५२ में आगरा विश्वविद्यालय से। नाटक साहित्य संबंधी डॉ० सोमनाथ गुप्त का 'हिंदी नाट्य साहित्य का इतिहास और विकास'[४२] सन् १९४७ में आगरा विश्वविद्यालय से, डा० दशरथ ओझा का 'हिंदी नाटकों का उद्भव और विकास (भारतेंदु और प्रसाद के विशेष अध्ययन सहित)'[४३] सन् १९५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय से, डॉ० वी० पी० खन्ना का 'हिंदी नाटकों का उद्गम और विकास' सन् १९५४ में पंजाब विश्वविद्यालय से—तीन प्रबंध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए हैं। 'गीतिकाव्य का उद्गम और विकास तथा हिंदी साहित्य में उसकी परंपरा' काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रेषित किया गया और उस पर डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' को डी० लिट्० की उपाधि मिली। आलोचना, निबंध, कहानी, तथा जीवनी साहित्य संबंधी भी एक-एक प्रबंध पी-एच० डी० या डी० फिल० के लिए स्वीकृत हुआ हैं। डा० भगवत् स्वरूप मिश्र तथा डॉ० उ० च० त्रिपाठी के क्रमशः 'हिंदी अलोचना-उद्भव और विकास'[४४] तथा 'हिंदी निबंध का आलोचनात्मक विकास' सन् १९५१ में आगरा विश्वविद्यलय ने पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत किए। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के 'हिंदी कहानी की शिल्पविधि का विकास'[४५] को १९५२ में प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फिल० के लिए स्वीकार किया तथा डॉ० चंद्रावती सिंह, का 'हिंदी में जीवनी साहित्य का विकास' लखनऊ विश्वविद्यालय से १९५४ में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। इस वर्ग का एक प्रबंध ऐसा भी है जिसमें काव्य रूपों के विकास का अध्ययन किया गया है। वह है डाक्टर शकुंतला देव का सन् १९५२ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत 'हिंदी काव्य रूपों का विकास।'

८. काव्य-शास्त्र संबंधी

डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी काव्य शास्त्र का विकास' सन् १९३७ में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० लिट्० के लिए तथा डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिंदी काव्य शास्त्र

---

४२. 'हिंदी नाट्य साहित्य का विकास' शीर्षक से साहित्य भवन लि०, प्रयाग से प्रकाशित
४३. प्रकाशित, हिंदी अनुसंधान परिषद्, विश्वविद्यालय दिल्ली
४४. प्रकाशित, साहित्य सदन, देहरादून
४५. प्रकाशित, साहित्य भवन लि०, प्रयाग

का इतिहास'[४६] सन् १६४७ में लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। काव्य शास्त्र के विविध अंगों में रस, ध्वनि, अलंकार छंद और नायक-नायिका भेद पर भी प्रबंध प्रस्तुत किए गए हैं। 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस शास्त्र का अध्ययन'[४७] पर डा० छैलविहारी लाल गुप्त 'राकेश' को सन् १६४३ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल्० की उपाधि मिली। डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के शृंगार रस संबंधी प्रबंध का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। डॉ० नगेन्द्र के प्रबंध का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अश जिसका संबंध रीति-काव्य की भूमिका से है, काव्य-शास्त्रीय अध्ययन से ही सीधा संबंध रखता है, अतः उसका उल्लेख यहाँ भी आवश्यक है। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने ध्वनि सिद्धांत के विस्तार पर राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रबंध प्रेषित करके पी-एच० डी० प्राप्त की। छंद संबंधी दो प्रबंध डी० फ़िल्० और पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए हैं। एक है डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' (अब स्वर्गीय) का 'हिंदी छंदः शास्त्र' जो सन् १६४२ में प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया था और दूसरा डा० पुत्तूलाल शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी काव्य में छंदोयोजना' जो लखनऊ विश्वविद्यालय में सन् १६५३ में प्रस्तुत किया गया था। डा० रामशंकर शुक्ल रसाल के उपर्युक्त प्रबंध में यद्यपि मुख्यतया अलंकार का ही अध्ययन किया गया है, परंतु अलंकार का सीधा निर्देश करते हुए डा० ओमप्रकाश कुल श्रेष्ठ ने 'हिंदी साहित्य में अलंकार' शीर्षक प्रबंध में इस विषय का अध्ययन किया है, जो सन् १६५१ में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। भारतीय काव्य शास्त्र के 'नायक-नायिका भेद' का अध्ययन डॉ० छैलविहारी लाल गुप्त 'राकेश' ने प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १६५२ में डी० लिट्० के लिए स्वीकृत अपने इसी शीर्षक के प्रबंध में किया है।

६. लोक साहित्य संबंधी

इस विषय के केवल तीन प्रबंध अब तक पी-एच० डी या डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत हुए हैं। 'ब्रज लोक साहित्यः एक अध्ययन'[४८] पहला प्रबंध है जिस पर डा० गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' को आगरा विश्वविद्यालय से सन् १६४७ में डिग्री मिली और डा० कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी लोक साहित्य' लखनऊ विश्वविद्यालय से तथा सन् १६५३ में डा० सत्यव्रत सिनहा का 'भोजपुरी लोकगाथा (बैलेड)' प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ।

१०. अन्य विषय संबन्धी

हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन की अतीव संभावनाएँ है और उपर्युक्त अनेक प्रबन्धों के अंतर्गत इस प्रकार के अध्ययन समाहृत हैं। कुछ प्रबन्धों में तो दार्शनिक अध्ययन को विशेष प्रधानता दी गई है। डॉ० धर्मेन्द्र शास्त्री के दरिया साहब संबंन्धी प्रबंध में दार्शनिक पक्ष का ही अध्ययन किया गया है। किन्तु विश्वविद्यालयों के हिन्दीतर विभागों ने अपने विषय को केन्द्रस्थ करके हिन्दी साहित्य का जो अध्ययन कराया है उसकी पृथक्

---

४६. प्रकाशित, लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, लखनऊ

४७. मूल अँग्रेजी में प्रकाशित, श्रीमती तारावली गुप्त, मानसिंह गेट, अलीगढ़

४८. प्रकाशित, साहित्य रत्न भंडार, आगरा

चर्चा करना आवश्यक है। प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से डॉ० आनंद प्रकाश माथुर ने 'हिन्दी साहित्य के आधार पर १६ वीं-१७ वीं शताब्दियों की समाजिक अवस्था का अध्ययन' प्रस्तुत किया जो सन् १९४७ में डी० फ़िल् के लिए स्वीकृत हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अन्तर्गत डा० समर बहादुर सिंह ने रहीम की रचना में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की खोज करके पी-एच० डी० प्राप्त की। प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अन्तर्गत अध्ययन करके डा० शीलवती मिश्र ने सन् १९४८ में 'हिन्दी संतों—विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास पर वेदांत पद्धत्तियों का ऋण' शीर्षक प्रबन्ध पर डी० फ़िल० प्राप्त की।

प्रस्तुत लेख में शोध उपाधियों के लिए स्वीकृत जिन १०६ प्रबंधों का उल्लेख किया गया है वे कुल मिलाकर निःसंदेह हिन्दी भाषा और साहित्य का ऐसा गंभीर अध्ययन उपस्थित करते हैं जिस पर हमें गर्व हो सकता है। तथापि इसे स्वीकार करने में सकोच नहीं होना चाहिए कि इनमें अनावश्यक पिष्ट पेषण, अवांछनीय अनुकरण, डिग्री प्राप्त करने की अधीरता तथा तज्जन्य अपरिपक्वता एव शिथिलता के उदाहरण भी मिल सकते हैं। शोध उपाधियों के पी-एच० डी० और डी० लिट्० का वैधानिक स्तर-भेद भी सर्वत्र एक-सा नहीं है। कुछ विश्वविद्यालयों में पहले केवल डी० लिट्० की व्यवस्था थी तथा कुछ में अब तक केवल पी-एच० डी० की व्यवस्था है, अतः डी० लिट्० के लिए स्वीकृत कुछ प्रबंध ऐसे हो सकते हैं जिन्हें यदि व्यवस्था होती तो पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत किया जाता तथा डी० फ़िल्० और पी-एच० डी० के कुछ प्रबन्धों को डी० लिट्० के स्तर का सिद्ध किया जा सकता है। ऐसे भी अनेक प्रबंध हो सकते है जिन में शोध की अपेक्षा समीक्षा ही अधिक है तथा ऐसे भी, जिन में समीक्षा में भी मौलिकता न्यून है। साथ ही, अनेक प्रबंधों में शोध प्रबंधों की वैज्ञानिक पद्धति के पालन का अभाव दिखाया जा सकता है। किन्तु, किंचित् त्रुटियों और अभावों के होते हुए भी जो नितांत स्वाभाविक हैं, हिन्दी शोध का यह कार्य हमारे विश्वविद्यालयों के ही नहीं, विदेशी विश्वविद्यालयों के अन्य विषयों के शोध कार्य के ऊँचे से ऊँचे प्रतिमानों से जाँचने पर किसी प्रकार हीन नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान संबन्धी जो अतीव संभावनाएँ हैं उनका हिन्दी के अनुसंधित्सुओं ने सराहनीय अन्वेषण-कुशलता एवं मौलिकतापूर्ण बुद्धि-विवेक से उपयोग किया है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कुछ सुझाव तुरंत हमारे सामने आ जाते हैं। यह धारणा कि शोधकों के लिए उपयुक्त विषयों का अभाव है भ्रामक सिद्ध होती है। हिंदी भाषा और बोलिओं के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें प्रत्येक विश्वविद्यालय अनेक वर्षों तक कार्य करा सकता है। भाषा और साहित्य के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन में बहुत कम कार्य हुआ है। पाठालोचन और प्राचीन ग्रन्थों का वैज्ञानिक संपादन किसी भी शोध का आधारभूत कार्य कहा जा सकता है, किंतु अनुसंधित्सु विद्यार्थी इस ओर बहुत कम आकृष्ट हुए हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी शोध में प्रायः ऐसे विषयों के चुनने की प्रवृत्ति देखी जाती है जिनका विस्तार एक प्रबन्ध के भीतर समेटना प्रायः कठिन हो जाता है। फलस्वरूप, शोधक की दृष्टि प्रायः सूक्ष्मताओं की उपेक्षा करके व्यापक और

सामान्य निष्कर्ष निकालने की ओर बलात् उन्मुख हो जाती है। जिस प्रकार भाषा के एक-एक अंग और उसके अनेकानेक उपांगों का पृथक्-पृथक् अध्ययन हो सकता है, उसी प्रकार साहित्यिक विषयों के अंगोपांगों की संख्या अनंत है। आवश्यकता है कि अब हमारा ध्यान सीमित विस्तार में सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन की ओर अधिक जाए, वास्तविक विशेषज्ञता का प्राथमिक सोपान यही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हम शोध के दृष्टि-निक्षेप में किसी प्रकार की संकीर्णता का समर्थन कर सकते हैं। वस्तुतः अध्येता का दृष्टिबिन्दु अधिक से अधिक विस्तृत परिधि को नापने में समर्थ हो कर ही अपने निर्धारित सीमित वृत्त में उन सूक्ष्मताओं का उद्घाटन कर सकता है जो विस्तृत परिधि के ज्ञान के लिए यथार्थतः अपेक्षित और मूल्यवान् हैं। शोध प्रबन्धों में शोध की वैज्ञानिक पद्धति और शैली के पालन को भी नितांत आवश्यकता है। यही शोध प्रबन्धों को समालोचनात्मक अध्ययनों से पृथक् करता है। यह संभव है कि कोई प्रतिभावान् शोधक अपने विषय को वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल रख कर भी रोचक और सरस बना सके, किन्तु रोचकता और सरसता का तनिक भी आग्रह प्रबन्ध को सहज ही स्तर-च्युत करने का कारण बन सकता है। निश्चय ही अनुसंधान और शोध में सत्यान्वेषण की पद्धति में ही अन्वेषकों के लिए एक विशेष प्रकार की सरसता होती है जिसके लिए एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और रुचि निर्माण की आवश्यकता है। शोधक का सत्यान्वेषण कवि या कहानीकार के सत्यान्वेषण की भाँति लोक-रंजक नहीं हो सकता। दोनों का अलग अलग महत्त्व है।*

---

* इस विवरण को प्रस्तुत करने में लेखक को हिंदी अनुशीलन की फाइलों तथा हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'अनुसंधान का स्वरूप' में डा० उदयभानु सिंह के लेख से विशेष सहायता मिली है। लेखक दोनों के प्रति आभार प्रदर्शन करता है।

संपादकीय

इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी

अंग्रेज़ जाति के राष्ट्रीय चरित्र की अनेक विशेषताओं में उनका विद्या-प्रेम भी सराहनीय है। कहा जाता है कि यदि उसे शेक्सपियर के नाटकों और ब्रिटिश साम्राज्य में किसी एक को चुन लेने का विकल्प दिया जाए तो वह शेक्सपियर के नाटकों को छोड़ने के लिए कदापि तैयार न होगी। ऐसा कोई विकल्प अंग्रेजों के सामने कभी आएगा, इसकी हम अभी कल्पना नहीं कर सकते। परंतु यह सिद्ध हो गया है कि, परिस्थितियों से विवश हो कर ही सही, वे भारत जैसे बड़े साम्राज्य को तो अवश्य छोड़ सकते हैं, उसकी सांस्कृतिक संपत्ति को लौटाने के लिए उन्हें आसानी से राज़ी नहीं किया जा सकता। हमारे केंद्रीय शिक्षा मंत्री माननीय मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की ब्रिटेन-यात्रा भी इस संबंध में फलदायक न हुई तथा उसके बाद उनके अन्य प्रयत्नों का भी कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला। यह प्रत्येक शिक्षित भारतीय के लिए चिंता और क्षोभ का विषय है।

अंग्रेज-जाति के विद्या-प्रेम की सराहना करते समय स्वभावतया हमारा आत्मालोचन इस कटु सत्य को स्वीकार करने के लिए हमें विवश करता है कि अपनी सांस्कृतिक संपत्ति के प्रति हमारी चेतना उतनी सजग नहीं है। अन्यथा, स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जहाँ हमने 'डिफ़ेन्स स्टोर' के विषय में समझौता किया, वहाँ क्या हमें अपने पूर्वजों के संचित ज्ञान-कोष को बिलकुल भूल जाना चाहिए था? आज आठ वर्ष के बाद भी क्या हम उसे वापस लाने के लिए सचमुच चिंतत हैं? अभी तक इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी का प्रश्न गौण प्रश्न बना हुआ है। उसे वैदेशिक मामलों के स्तर का प्रश्न नहीं बनाया जा सका। हमारे संसदीय प्रतिनिधियों ने भी अभी तक इस संबंध में चिंता करने की आवश्यकता नहीं समझी है। किंतु उच्च शिक्षा और अनुसंधान से संबंध रखने वाले विद्वानों और संस्थाओं को इस स्थिति से संतोष नहीं करना चाहिए। लोकतंत्र में लोकमत को जाग्रत किए बिना प्रायः ऐसी बातें भी संभव नहीं होतीं जिनकी आवश्यकता स्वयंसिद्ध होती है।

अनुसंधान की परिस्थितियाँ

कुछ दिन हुए भारतीय संसद में इस प्रश्न को लेकर काफ़ी हास-परिहास हुआ कि किसी व्यक्ति को हिंदी भाषा संबंधी अध्ययन-अनुसंधान के लिए विदेश जाने की सुविधा क्यों दी गई। इस समाचार को पढ़ कर स्वयं उन महानुभावों पर हँसी आती है जो इसे मनोरंजन का विषय समझते हैं। क्या यह तथ्य नहीं है

कि हमारे इस विशाल देश में कोई ऐसा पुस्तकालय नहीं है जहाँ समस्त प्रकाशित साहित्य मिल सके और क्या ब्रिटिश संग्रहालय में बैठ कर भारतीय भाषाओं के संबंध में भी अनेक विषयों का अनुसंधान करना कहीं अधिक सुविधाजनक नहीं है? हस्तलिखित पोथियाँ जिन निजी और पुराने रियासती राज्यों के पुस्तकालयों में बंद हैं उन्हें देखने के लिए भी कितने औपचारिक क्रम की अपेक्षा होती है! हमारे संसद के सदस्य कदाचित् यह नहीं जानते कि अपने देश के किसी ग्रंथ-भंडार से हस्तलिखित पोथियाँ उधार मँगाना ब्रिटिश संग्रहालय से मँगाने की अपेक्षा कहीं कठिन है। ऊपर हमने इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी के संबंध में अपनी उदासीनता की आलोचना की है; किंतु हमारी यह उदासीनता वास्तव में उच्च शिक्षा और अनुसंधान मात्र के विषय में है, भले ही हमारे 'नेता' अपने देश के विद्वानों की परवशता की खिल्ली उड़ाएँ। यदि हमारी केंद्रीय सरकार इधर कुछ भी ध्यान दे तो उसे विदेश में, इंगलैंड तथा अन्य देशों में, उपलब्ध समस्त हस्तलिखित और दुर्लभ ग्रंथों या उनकी माइक्रोफिल्म प्रतिलिपियों को प्राप्त करने का तुरन्त प्रबंध करना चाहिए। यह कार्य भारतीय दूतावासों से संलग्न सांस्कृतिक विभागों के द्वारा सरलता से कराया जा सकता है। केंद्रीय स्थानों पर हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रहालय स्थापित करके उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक संरक्षण-सामग्री से संपन्न करना तथा उनके संग्रह में निश्चित योजना के अनुसार वृद्धि करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय करना भी परम आवश्यक है। इस संबंध में विश्वविद्यालयों को उदारतापूर्वक अनुदान देने की भी व्यवस्था विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा होना चाहिए। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए हमारे विश्वविद्यालयों में उपयुक्त यंत्रों और प्रयोगशालाओं का नितांत अभाव है। अपने देश में शोध की इन कठिनाइयों के होते हुए यदि हम अपनी भाषा पर शोध कार्य करने के लिए विदेश जाने को विवश हों तो कौन आश्चर्य की बात है?

राज्य-पुनर्गठन और हिंदी

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिस घटना से व्यापक रूप में जनगण का मन सबसे अधिक आंदोलित और किसी सीमा तक उत्तेजित हुआ है वह राज्य 'पुनर्गठन आयोग' की रिपोर्ट का प्रकाशन है। ऐसा लगता है कि देश की एकता तथा प्रत्येक प्रश्न पर सार्वदेशिक दृष्टि से विचार करने की भावना को अभी हमने भली-भाँति बद्धमूल नहीं कर पाया है। भाषाओं के आधार पर प्रदेश बनाने का मूल सिद्धांत जो सर्वथा युक्तियुक्त है, प्रादेशिक सीमाओं के द्विभाषी स्थलों को अपने-अपने प्रदेश में मिलाने के प्रलोभन में प्रायः भुलाया जा रहा है। संदेह होता है कि क्या इस सिद्धांत को राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र तो नहीं बनाया जा रहा था? कुछ प्रादेशिक नेता अनजाने ही प्रदेशों की प्रभु-सत्ता के भ्रम में जान पड़ते हैं। परन्तु सौभाग्य से हमारी केंद्रीय शक्तियाँ दृढ और स्वस्थ-चित्त हैं और हमारी साधारण जनता में परंपरा से उदारतापूर्वक सोचने-समझने की सहज बुद्धि है। किंतु 'एक प्रदेश एक भाषा' के सिद्धांत को प्रयोग की संभावनाओं के

अंतर्गत लाने के पहले यह अत्यंत आवश्यक था कि 'एक देश एक भाषा' की आवश्यकता व्यावहारिक रूप में, सही ढंग से, समझ ली जाती और उसे कार्यान्वित करने का भार केन्द्रीय शासन के एक गौण विभाग को सौंप कर संतोष न कर लिया जाता। राज्य-पुनर्गठन आयोग ने स्वयं देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक सार्वदेशिक भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया है और उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि वह भाषा हिंदी ही हो सकती है। किंतु हिंदी के व्यावहारिक प्रयोग में जिस अतिरिक्त सावधानी का उन्होंने संकेत किया है वह आयोग के निर्णयों के फलस्वरूप बढ़ती हुई प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता के वातावरण में पुनः अदूरदर्शितापूर्ण है। अब अंग्रेजी देश की एकसूत्रता का माध्यम नहीं रह सकती इसे हमने हाल की घटनाओं से अच्छी तरह समझ लिया है। किंतु द्विविधा, अनिर्णय और संशय की नीति तो और भी घातक है। हमारे सर्वोच्च नेताओं को सार्वदेशिक भाषा का प्रश्न अधिक दृढता और विश्वास के साथ अपने हाथ में लेना पड़ेगा, अन्यथा देश की एकता खतरे में पड़ सकती है।

इस संबंध में हिन्दी प्रदेशों का भी कुछ विशेष कर्त्तव्य है। अपनी सहज उदारता तथा राष्ट्रीय एकता की भावना के फलस्वरूप वे विशाल आंध्र और बृहन्महाराष्ट्र की भाँति समस्त हिन्दी क्षेत्र की प्रदेशगत एकता की माँग तो नहीं करते, किंतु उन्हें यह भी न भूलना चाहिए कि राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का प्राथमिक दायित्व उन्हीं पर है। इस संबंध में उनके सम्मिलित उद्योग की आवश्यकता है। राज भाषा आयोग ने मध्य प्रदेश सरकार द्वारा किए गए कार्य की सराहना की है। अन्य हिन्दी भाषी राज्य यदि उसका अनुकरण करके परस्पर कार्य-विभाजन द्वारा उद्योग करें तो हिन्दी के विषय में जितने संदेह और संशय उठते हैं वे स्वतः शांत हो जाएँ और हिन्दी शीघ्र ही राष्ट्रीय एकता का शक्तिशाली साधन बन जाए।

भारतीय हिन्दी परिषद का त्रयोदश अधिवेशन

परिषद के सदस्यों के लिए यह हर्ष का संवाद है कि परिषद का त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन नागपुर विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में २८, २९, ३० दिसंबर को होने जा रहा है। इस बार अधिवेशन में विशेष परिचर्चा के दो विषय हैं— (१) हिन्दी में विविध विषयक साहित्य-निर्माण की योजनाएँ तथा (२) हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का संबन्ध। इसके अतिरिक्त शोध निबंधों की दो गोष्ठियाँ भी होंगी। विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों तथा शोध-कर्त्ता विद्वानों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में परिषद् की परंपरा और प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर दृढ़ होती जा रही है। उसके वार्षिक अधिवेशनों को सफल बनाना हम सबका परम कर्त्तव्य है।

'हिन्दी-अनुशीलन'

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र

विषय सूची

वर्ष १ अंक १—वर्ष ७ अंक ४

[सूची में पहले लेखक का नाम और उसके पश्चात् लेख का नाम दिया गया है। तत्पश्चात् दिए हुए अंक क्रमशः 'हिन्दी अनुशीलन' की वर्ष तथा अंक संख्या के सूचक हैं। 'हिन्दी अनुशीलन' के नियमित स्तंभों को सबसे बाद में सूचीबद्ध किया गया है।]

अग्रवाल, तारकनाथ : चौदहवीं शताब्दी की हिंदी का एक नमूना ; ७ : ३
: वीर-काव्य में अग्निकुल परम्परा ; ६:३

अग्रवाल, वासुदेवशरण : जनपदीय कार्यक्रम १ : ४
: जाज या जज्जल ; ७:४
: दस हिन्दी शब्दों की निरुक्ति ४:३
: हिन्दी शब्दकोष २:२

ओझा, दशरथ : हिन्दी के आदि नाटक ; ७:४

ओम्प्रकाश : सिंहलदीप आहि कैलासू : ६:१
: सूफ़ियों की अलंकार-योजना : ३:२

गुप्त, जगदीश : गुजराती और ब्रजभाषा काव्य में भ्रमरगीत ; ४:२
: विष्णुस्वामी संप्रदाय और वल्लभाचार्य ; ३:४
: ब्रजभाषा रीति-काव्य की परम्परा ; २:४

गुप्त, दीनदयालु : हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के संग्रह की समस्या ; १:१
: भाषा और साहित्य की गति-विधि—भाषण ; ६:१

गुप्त, प्रेमस्वरूप : राज-भाषा हिन्दी का स्वरूप ;५:१-४

गुप्त, माताप्रसाद : अर्द्धकथा का पाठ ; १:३
: क्या ८४ तथा २५२ वैष्णवन की वार्त्ता उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व लिपिबद्ध नहीं हुई थीं ? ६:२
: पद्मावत की आदि प्रति की लिपि ; ३:४

: पदमावती के कुछ संस्करण ; ४:१
: पृथ्वीराज रासो के तीन पाठों का आकार-संबन्ध ; ७:४
: भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पाठ्यक्रम २:१
: रामचरितमानस का रचना-क्रम ; ६:४
: रासो-प्रबन्ध-परम्परा की रूप-रेखा ; ४:४
: विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षाओं के लिए हिन्दी पाठ्य-ग्रन्थ ; ७:२
: हिन्दी एम० ए० का पाठ्यक्रम ; १:१
: हिन्दी काव्य-साहित्य ; १:२
: हिन्दी शब्द-भाण्डार का स्थिरीकरण ; ३:१
गुप्त, हरिहरप्रसाद : कुछ ग्रामीण शब्दों की व्युत्पत्ति ; ६:४
: खेतों का वर्गीकरण और उसमें प्रयुक्त शब्द-समूह ; ३:२
: ग्रामीण शब्दावली की संपन्नता ; १:२
: गाय-संबंधी शब्दावली ; ५:१-४
: बाँस का उद्योग तथा तत्सम्बन्धी शब्दावली ; २:३
चतुर्वेदी, परशुराम : सिद्धों की चौरासी संख्या तथा उनके संप्रदाय ; ४:३
चतुर्वेदी, रामस्वरूप : लेखक की भाषा का अध्ययन ; ७:२
जायसवाल, माताबदल : 'खड़ी बोली' नाम का इतिहास ; ७:१
'जिज्ञासु' मोहनलाल : चारण —ऐतिहासिक विवेचन और अर्थ ; ४:३
टंडन, हरिमोहनदास : उपासना की परम्परा में कृष्ण-भक्ति ; ३:२
: ब्रज से संबंधित वैष्णव दर्शनों का एक समन्वयात्मक अध्ययन; २:२
: वैष्णव काव्य में दृष्टिकूट का प्रयोग ; ४:२
तिवारी, उदयनारायण : कबीर की भाषा ; २:३
: पाली साहित्य त्रिपिटक ; ३:३
: पालि साहित्य त्रिपिटकोत्तर ; ३:४
: पालि साहित्य—द्वितीय युग ; ४:१
: पालि साहित्य—तृतीय युग ; ४:२
: कहारों की सांकेतिक शब्दावली ; ५:१-४
तिवारी, भोलानाथ : हिन्दी के सिलाई सबंधी शब्द और उनकी व्युत्पत्ति ; ३:३
तिवारी, रामचंन्द्र : हिन्दी प्रेमाख्यानों की परम्परा में एक नवीन प्रयोग ; ५:१-४
तिवारी रामपूजन : सूफ़ीमत पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव ; ३:३
: सूफ़ीमत में गुरुवाद ; ६:२
तोमर, टीकमसिंह : पद्मिनी-कथा की ऐतिहासिकता ; ६:३
: बाँकीदास और उनकी रचनाएँ ; ७:१
: भूषण और अफ़ज़लखाँ-वध ; ३:२
; लाल कवि की जीवनी ; ४:१

: वीरसिंह देव चरित और अबुलफ़जल-वध ; २:३
तोमर, रामसिंह : स्वयंभू का रिट्ठणेमि चरिउ ; २:१
त्रिवेदी, विपिन बिहारी : पृथ्वीराज रासो के व्रत, पर्व और त्योहार ; ६:१
द्विवेदी, हजारीप्रसाद : संस्कृत साहित्य के अध्ययन के उपकरण ; १:३
दीक्षित, आनंदप्रकाश : रसभोक्ता की योग्यता ; ४:२
: रसाभास ; ६:२
दुबे, लालताप्रसाद : प्रियादास की टीका और चौरासी वैष्णवन की वार्ता का तुलनात्मक अध्ययन ; ६:३
धर्मेन्द्र : बिहार वाले दरिया साहब ; १:३
नाहटा, अगरचन्द : अपभ्रंश भाषा का वीर जिणेसर पारणउ ; ३:२
: जिनप्रभ सूरि और उनकी अपभ्रंश रचनाएँ : ६:१
: माधवा-नल-काम-कंदला प्रेमकथा संबंधी दो अज्ञात हिन्दी ग्रंथ ; ४:२
प्रसाद, गोरख : पारिभाषिक शब्दावली ; १:१
प्रसाद, विश्वनाथ : हिंदी गवेषणा और पाठ्यक्रम का पुनः संगठन—भाषण ; ६:१
पांडे, चन्द्रबली : तुलसी के जीवन पर नया प्रकाश ; ७:१
: नागरी भाषा ; २:२
पुरोहित, हरिकृष्ण : भारतेन्दु-युग : साहित्य, समाज और जनता ; ५:१-४
बहुगुणा, शंभुप्रसाद : बहलीम वंश ; ३:२
बाहरी, हरदेव : पारिभाषिक शब्दावली की समस्या ; ५:१-४
: प्राचीन लेखन शैली में अकारांत उकारांत शब्दों की पद्धति ; ४:१
: भाषा और संस्कृति ; १:३
: शब्द-काव्य ; १:२
: हिन्दी का अदर्शीकरण ; १:१
: हिन्दी में लिंग-भेद ; २:३
: हिन्दी में वर्ण-विन्यास की समस्या ; ३:१
बुल्के, कामिल : राम-कथा साहित्य में सीता-हरण ; २:२
: रामचरितमानस का रचना-क्रम ; ६:३
: हनुमान की जन्म-कथा ; ३:३
भटनागर, उदयसिंह : राजस्थानी भाषा और साहित्य पर किया गया शोध कार्य ; ७:४
भट्टाचार्य, रामशंकर : कोष-वचनों का परस्पर अनैक्य ; ७:३
: संस्कृत भाषा में कोष-प्रामाण्य ; ६:४
भायाणी, हिरवल्लभ : शब्द-चर्चा ; ४:४
भारती, धर्मवीर : महायान की वैष्णवता में परिणति ; २:३
भिक्षु, भदंत शांति : तुलसी द्वारा स्मार्त धर्म में राम की प्रतिष्ठा ; ६:१
: साहित्य-दर्पण के एक उदाहरण पर नया प्रकाश ; २:४
माचवे, प्रभाकर : शब्द-शब्द बहु अंतरा ; ३:३
मिथिलेश, कांति : हिन्दी में पाठानुसंधान का संक्षिप्त परिचय ; ७:३

मिश्र, जयराम : आदि ग्रंथ में 'नाम' का निरूपण ; ७:३
मिश्र, देवीप्रसाद : ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी ; ४:४
मिश्र, भगीरथ : चिंतामणि कृत शृंगार मंजरी ; ७:४
मिश्र, विश्वनाथ : छायावाद : एक विश्लेषण ; ५:१-४
: हिन्दी कहानी के विकास में जन-कथाओं का आयोग ; २:३
मुनि, कांति सागर : भारतीय शिल्प एवं चित्रकला में काष्ठ का उपयोग ; २:४
रघुवंश : भोजपुरी लोकगीतों में जन-संस्कृति ; २:३
: रस सिद्धांत और आधुनिक मनोविज्ञान ; ३:२
'रेणु', राममूर्ति : पोतना और तुलसी ; ७:४
रामप्रियदेव शास्त्री : भट्ट शब्द का व्यापक प्रयोग ; ४:१
: सूर का वंश ; २:४
लाल, श्रीकृष्ण : पारिभाषिक शब्दकोष की आयोजना ; १:२
: भारतीय हिन्दी परिषद् का द्वितीय अधिवेशन ; १:१
: साहित्य में जनश्रुतियों का स्थान ; १:४
: हस्तलिखित पोथियों के अध्ययन की समस्या ; १:३
वर्मा, धीरेन्द्र : खोज संबंधी कुछ अनुभव तथा समस्याएँ ; ३:४
: देवनागरी लिपि चिह्नों में एकरूपता ; ३:१
: भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रांतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या पर कुछ विचार ; १:१
: मध्यदेश की साहित्यिक भाषा ; १:४
: व्यक्ति और समाज ; ४:१
: वैज्ञानिक शब्दकोष ; २:१
: हिन्दी भाषा के स्थिरीकरण का कारण ; ३:१
वर्मा, ब्रजेश्वर : वासुदेव कृष्ण ; ७:२
: हरिवंश और हिंदी कृष्ण-काव्य ; २:३
: हिन्दी भाषा की कुछ समस्याएँ ; ४:२
: हिंदी व्याकरण ; ३:१
वाघ्रे, विमला : दखिनी हिंदी का गद्य ; ६:२
वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर : सदल मिश्र कृत 'रामचरित्र' ; ३:४
'विभु', विद्याभूषण : भारतीय अभिधान-क्षेत्र में आभूषणों का महत्त्व ; ७:१
शिवपुरी, राजकुमारी : महाराना मानसिंह और उनकी साहित्यिक देन; ५ : १-४
शुक्ल, उमाशंकर : प्राचीन ग्रन्थों का संपादन और पाठों का साहित्यिक मूल्यांकन; १:२
शुक्ल, केसरीनारायण : भारतेंदु की सामाजिक और धार्मिक भावना; ५ : १-४
: लंदन में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ; ३ : २
शुक्ल, पुत्तूलाल : मुक्त छंदों का विश्लेषण; ४ : ३
शैलकुमारी : राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी काव्य में नारी-भावना; २ : ३
श्रीवास्तव, देवकीनंदन : तुलसीदास और जन-संस्कृति; ५ : १-४

श्रीवास्तव,बदरीनारायण: आनंद-भाष्य की प्रामाणिकता; ६ : ४
श्रीवास्तव, विमला : प्रसाद और प्रेमचंद के उपन्यासों में नारी-चित्रण; ४ : ४
संपूर्णानंद : भाषण ; २ : २
सक्सेना, बाबूराम : एशिया की अंतर्राष्ट्रीय भाषा हिंदी; २ : २
सत्यप्रकाश : बेसिक हिंदी और सेना के सिपाही; १ : २
'समीर', रामाज्ञा द्विवेदी : पश्तो एवं अवधी का एक उभय-निष्ठ शब्द; ४ : ३
सहल, कन्हैयालाल : पिलानी में राजस्थानी शोध-कार्य; ५ : १-४
सिनहा, सत्यव्रत : लोक-साहित्य की विशेषताएँ; ४ : ४
'सुमन', अंबाप्रसाद : काव्य-जीवित वक्रोक्ति, वक्रोक्ति अलंकार और अभिव्यंजना; ४:४
: साधारणीकरण; क्या और किसका; ४ : २
सेन, क्षितिमोहन : भाषण ; ४ : ३
हरिशरणदास : सतनामी संप्रदाय में निर्गुण उपासना का स्वरूप; ४ : ४
: अँग्रेजी हिंदी वैज्ञानिक शब्द-कोष; १ : ४

खोज संबंधी सूचनाएँ

: १ : २, १ : २, १ : ४, २ : १, २ : २, २ : ३, २ : ४, ३ : १, ३ : २,३ : ३, ४ : ३, ५ : १-४, ६ : ३, ६ : ४, ७ : २, ७ : ३

ग्रंथानुसंधान

: श्री रामचन्द्र जी की पत्तल; ६ : ३
नाहटा, अगरचंद : तेरहवीं शताब्दी का स्थूलिभद्र रास; ७ : ३
: बारह मासा की प्राचीन परंपरा
: जिन धम्मसूरि कृत बारह नावउँ ६ : ४
: संस्कृत टीकावली ११ वीं शती की एक अपभ्रंश रचना ७:४
नाहटा, भँवरलाल : सुमतिगण कृत नेमि रास; ७ : १

निबंधसार

(१) गुप्त, सोमनाथ : कविवर माथुर सोमनाथ और उनकी रचनाएँ; ६ : ३
(२) तानवार, निर्मल : कामायनी में श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक विकास ६ : ३
(३) दीक्षित, त्रिलोकीनारायण : संतों का ज्ञान; ६ : ४
(४) बहुगुणा, शंभुप्रसाद : श्रीनगर और फतेहपति शाह; ६ : ३
(५) विभु, विद्याभूषण : नामों में अंधविश्वास-प्रवृत्ति; ६:४
(६) शर्मा, हरिवंशलाल : सूरसागर और श्रीमद्भागवत; ६ : ४
(७) श्रीवास्तव, बदरीनारायण : रामानंद सम्प्रदाय में सखी भावना; ६ : ३

(८) सहल, कन्हैयालाल ; कहावतों का उद्भव और प्रचलन ६ : ४
(९) सिंह, उदयभानु : नाटक में संधि-संधान; ६ : ४
(१०) सुमन, अम्बाप्रसाद : संगीत कला और हिन्दी का गीतिकाव्य ६ : ३

परिषद् विवरण—सूचना

परिषद् नियमावली; १ : ४
१ : १, २ : १, २ : २, ३ : २, ३ : ३, ६ : २ ६ : ३, ६ : ४, ७ : १, ७ : २, ७ : ३, ७ : ४

प्रबंध-परिचय

खन्ना, नारायणदास : आचार्य भिखारीदास; ७ : ३
गुप्त, जगदीश : गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन १५ वीं, १६ वीं, १७ वीं शती; ७ : १
तोमर, टीकमसिंह : हिन्दी वीर काव्य ७ : ३
भारती, धर्मवीर : सिद्ध-साहित्य; ६ : ३
'सहल' कन्हैयालाल : राजस्थानी कहावतें; ७ : ४
सिंह, चंद्रावती : हिंदी में जीवन चरित का विकास; ७ : ३
सिनहा, सत्यव्रत : भोजपुरी लोक-गाथा का अध्ययन; ६ : ४
श्रीवास्तव, हरिकांत : हिंदू कवियों के प्रेमाख्यान—सं० १००० से १९१२ वि० तक; ७ : २

पुस्तक समीक्षा ३ : ४, ४ : ३, ५ : १-४, ७ : ३

भारतीय हिंदी परिषद् द्वारा आयोजित हिंदी साहित्य का इतिहास; २ : १

शोध समस्या मिथिलेश कांति : भक्ति साहित्य में नग्न शृंगार; ६ : ४

संपादकीय १ : १, २ : १, २ : २, २ : ३, ३ : १, ४ : २, ५ : १-४, ६ : १, ६ : २, ६ : ३, ६ : ४, ७ : १, ७ : ३, ७ : ४

हिंदी भाषा संबंधी केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण; २ : १

हिन्दी-अनुशीलन

सम्पादक—हजारीप्रसाद द्विवेदी
सहकारी सम्पादक—प्रजेश्वर वर्मा

वर्ष ८
अंक ३
जुलाई-सितम्बर १९५५ ई०
प्रकाशन तिथि—१८ अप्रैल १९५६ ई०

भारतीय हिन्दी परिषद्
प्रयाग

वार्षिक ३) विद्यार्थियों से २) एक अंक का १)

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—राजस्थानी भाषा के कुछ 'लौकिक न्याय'	प्रो० कन्हैया लाल सहल	७५
२—भिखारी दास कृत 'नाम प्रकाश'	डॉ० नारायणदास खन्ना	७६
३—हम्मीर रासो की ऐतिहासिकता	डॉ० टीकम सिंह तोमर	८५
४—डिंगल भाषा	प्रो० उदय सिंह भटनागर	६०
५—पूर्वी हिन्दी के लोक गीतों में करुण रस	श्री भगवती प्रसाद शुक्ल	६७
६—करुण रस और आनन्दानुभूति	प्रो० आनन्द प्रकाश दीक्षित	१०२
७—फ़ारसी और उर्दू के तज़्किरों एवं अन्य ग्रंथों में हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामाग्री	श्री गोपाल चन्द्र सिंह	१०६
८—ग्रंथानुसंधान—रुद्रपल्लीय पृथ्वीचन्द्र रचित रस-विलास	श्री अगरचन्द नाहटा	११६
९—परिषद् सूचना—भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रयोदश अधिवेशन, नागपुर। सन् १९५५ का आय-व्यय का लेखा, सन् ५६ के आय-व्यय का अनुमान पत्र।		१२१
१०—सम्पादकीय		१३१-१३८

मुद्रक—आजाद प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्,
विश्वविद्यालय, प्रयाग

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष ८] जुलाई–सितम्बर, १९५५ ई० [अंक ३

राजस्थानी भाषा के कुछ 'लौकिक न्याय'

प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए० पी-एच० डी०, पिलानी, राजस्थान

लोक-प्रसिद्ध युक्ति अथवा युक्ति-मूलक दृष्टान्त-विशेष को 'लौकिक न्याय' की संज्ञा दी गई है।[१] 'भुवनेश लौकिक न्याय साहस्री' नामक ग्रन्थ में एक हजार लौकिक न्यायों का व्याख्या-सहित संग्रह हुआ है। उक्त १,००० न्याय पढ़ जाने के बाद हम 'लौकिक न्यायों' के निम्नलिखित मुख्य रूप निर्धारित कर सकते हैं :—

१. अनेक न्याय ऐसे हैं जो केवल एक पदात्मक हैं। 'मात्स्य (न्याय)', 'टिट्टिभ (न्याय)' आदि उदाहरण स्वरूप रखे जा सकते हैं।

२. अधिकांश न्याय ऐसे हैं जो द्विपदात्मक हैं और जिनका सम्पूर्ण वाक्य की भाँति प्रयोग नहीं होता। 'अन्ना कृपाणी न्याय', 'काकतालीय न्याय' आदि द्विपदात्मक हैं जिनके मूल में कोई न कोई कथा मिलती है, जिसको जाने बिना इन न्यायों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

३. कुछ न्याय लोक-प्रसिद्ध उपमाओं के रूप में प्रयुक्त होते हैं। 'अरण्य रोदन न्याय' अजागलस्तन न्याय' वस्तुतः बहु-प्रचलित उपमाएँ ही हैं।

४. अनेक न्याय ऐसे भी हैं जिन्हें निर्विरोध कहावत का नाम दिया जा सकता है, जैसे,

(क) वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात् अर्थात् कल के मयूर से आज का कपोत अच्छा।

(ख) भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः अर्थात् लहसन खाने पर भी रोग शान्त न हुआ।

---

१. (क) लोक प्रसिद्धयुक्तिर्न्यायः (भूमिका, भुवनेश लौकिक न्याय साहस्री)

(ख) ये सकल दृष्टान्ते नाना प्रकार युक्ति प्रदर्शित हय ताहाके लौकिक न्याय कहे (विश्वकोश, श्रीनगेन्द्रनाथ वसु, दशम भाग, पृष्ठ ५३३)

५. न्यायों में एक 'आभाणक न्याय' की भी गणना की गई है। 'वराटकान्वेषणे प्रवृत्ताश्चिन्तामणिं लब्धवान्' अर्थात् कौड़ी तलाश करते हुए चिन्तामणि प्राप्त हो गई। इसे 'आभाणक न्याय' के अन्तर्गत रखा गया है।

६. कुछ कवियों की उक्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें 'न्याय' के अन्तर्गत कर लिया गया है, यथा,

(क) छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति। (विष्णु शर्मा)

(ख) सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृता (श्रीमद्भगवद्गीता)

'न्याय' के उक्त स्वरूपों को देखने से स्पष्ट है कि संकृत साहित्य में यह शब्द अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत लोक-प्रचलित पदांशों, प्रसिद्ध उपमाओं, विश्रुत दृष्टान्तों, सूक्तियों, आभाणकों अथवा लोकोक्तियों, सभी को स्थान मिल गया है। बहुत से न्याय ऐसे हैं जिन्हें कहावत की संज्ञा दी जा सकती है। अनेक न्याय ऐसे हैं जिन्हें पारिभाषिक दृष्टि से लोकोक्ति तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो सूत्र शैली में ग्रथित ऐसे पद-समुच्चय हैं जो अपने में गम्भीर अर्थ छिपाए हुए हैं

'न्याय' शब्द भी संस्कृत भाषा के उन अनेक शब्दों की तरह है जिनका अन्य किसी भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता। जैकब ने 'लौकिक न्याय' के पर्याय के रूप में 'Popular Maxim' का प्रयोग किया था, किन्तु इस अनुवाद से वे स्वयं सन्तुष्ट न थे और उनका कहना था कि इस शब्द का अंग्रेजी अनुवाद न करके अंग्रेजी भाषा में भी इसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना चाहिए।

राजस्थानी भाषा में 'लौकिक न्याय' के विविध रूप

१. संस्कृत के कुछ लौकिक न्याय ऐसे हैं जिन्होंने राजस्थानी भाषा में कहावतों का रूप धारण कर लिया है, उदाहरणार्थ—

(क) गोमहिषी न्यायः

एक राजस्थानी लोकोक्ति में कहा गया है—'गाय री भैंस कंइ लागे अर भैंस री गाय कंइ लागे?' अर्थात् गाय का भैंस से क्या संबंध और भैंस का गाय से क्या संबंध?

(ख) तरच्छडाकिनी न्यायः

इसी न्याय का प्रतिरूप 'डाकण अर जरख चढ़ी''राजस्थानी भाषा में उपलब्ध है।

२. ऊपर जिस 'आभाणक न्याय' का उल्लेख किया गया है, वही आनन्दघनकृत कुंथुनाथ-स्तवन के निम्नलिखित पद्य में 'ऊखणो न्याय' के नाम से अभिहित हुआ है:—

"रजनी वासर वसती ऊजड़, गयण पयालो जाय।
साँप खाय नै मुखड़ूं थोथो, ए ऊखाणो न्याय॥"

साँप दूसरे को काटता है किन्तु ऐसा करने से उसका पेट नहीं भरता।

३. संस्कृत में कुछ न्याय ऐसे हैं जो राजस्थानी भाषा में अपनी प्रकृति के अनुरूप गृहीत हुए हैं। मुण्डकोपनिषद् १।२।८, मैत्रा० ७।६, और कठोपनिषद् २।५ में 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इस न्याय का प्रयोग हुआ है। आनन्दघनकृत अजितनाथ स्तवन में उक्त न्याय निम्नलिखित रूप में प्रयुक्त हुआ है :—

पुरुष परम्पर अनुभव जोइये, अन्धो अन्ध पुलाय।
वस्तु विचारै जो आगम करि, चरण धरण नाहिं ठाय॥

४. संस्कृत में जिस प्रकार 'अजाकृपाणी' आदि न्याय प्रचलित हैं, उसी प्रकार राजस्थानी भाषा में कुछ ऐसे दृष्टान्त हैं जो कहावतों की भाँति ही प्रचलित हैं। इस प्रकार के दृष्टान्त वस्तुतः 'लौकिक न्याय' ही हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से प्रकृत विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा :—

१. एक हो बांदरो जिकै नै भावी संजोग सूं एक वार विच्छू खाय ग्यो। बै डंक वाली जागा नै नरवों सूं खाज कर-कर' र चाँदी घात ली। हमेसा बै रो ध्यान चाँदी में ई लागो रैवै अर बो चाँदी नै नरवाँ सूं कुचरतोई रैवै। इण तरै चांदी बधते-बधते गैरो घाव हुग्गी अर लेकड़ में उणरी नहीं सही जण जिसी पीड रै कारण सूं बांदरो मरग्यो पण खुसरणो को छोड़योनी। अर्थात् एक था बन्दर जिसे दैव-संयोग से एक बिच्छू ने काट खाया। उसने डंक वाली जगह को अपने नखों से खुजला-खुजला कर घाव कर लिया। हमेशा उसका ध्यान घाव में ही रहता और वह घाव को नखों से कुरेदता ही रहता। इस तरह घाव बढ़ते-बढ़ते गहरा घाव हो गया और अन्त म असह्य पीड़ा क कारण बन्दर की मृत्यु हो गई।

जब कोई अपनी आदत से बाज नहीं आता और नुकसान उठाता है तो कहा जाता है, 'बांदरै की चांदी हाली हुई' अर्थात् बन्दर का चाँदी वाली घटना हुई।

२. एक हो ठाकुर जिण रै घर में बड़ी नादारी ही। ठाकुर हो सैणो-समझणो किणी नै आप री दसा रो पतो को चलण देंवतो हो नी। घर में रंधतो बाजरी रो खीचडो अर सोगरा जिकै ई लुक्खा। घी चोपड तो वार तिंवार-ई मिलतो तो मिलतो। पण जद वो जीम जूठ' र घर सूं बार निकलत' तो ऊजला कपड़ा अर मूंछां ऊपर चावल चोपियोडा। लोग-बाग जाणता ठाकुर रईस है जद ई देखो नी चावल खावै बीजां नै तो चावल रा दरसण ई दोरा हुवै है। इण तरै ठाकुर 'मूंछाँ वाले चावल' सूँ आप री लाज ढकतो हो। अर्थात्, एक ठाकुर था जिसके घर में बड़ी गरीबी थी। किन्तु ठाकुर बड़ा सयाना-समझदार था, किसी को अपनी हालत का पता चलने नहीं देता था। घर में बाजरे की खिचड़ी बनती और जो रोट मिलते वे भी रूखे-सूखे। घी तो कदाचित् वार-त्यौहार ही सुलभ होता; किन्तु ठाकुर भोजन करके जब कभी बाहर निकलता तो चन्द्र-धवल वस्त्र पहने रहता और मूंछों पर चावल चिपके रहते। लोग समझते कि ठाकुर बड़ा रईस है, तभी तो प्रतिदिन चावल खाता है; दूसरों को तो चावल के दर्शन भी दुर्लभ हैं। इस प्रकार ठाकुर मूंछों के चावलों द्वारा अपनी लाज ढकता रहता था।

थोथे प्रदर्शन के अर्थ में 'मूँछा वाला चावल' आज भी राजस्थान में प्रयुक्त है।

३. बाणियै वाली माखी

बीकानेर रै श्रीलक्ष्मीनाथजी रै मंदिर खनै-ई 'भाण्डासर' रो जैन मंदिर है। भाण्डासर बण ही बेला कारीगरों सेठां नै कयो कै इणरी नींव में मोकलो घी ऊँधासो जद मन्दर मजबूत बणसी। सेठों कैयो—'हाँ, मंगावो, चायीजै जित्तो-ई घी'। सेठां रै मूँडै आगे ई घी री कुप्यों आवणी सरू हुयी। कारीगर कुप्याँ गिण रया हा। कई कुप्याँ रो खामण खोल' र सेठाँ

देखियो कै घी किसोक है। भाग जोग सूँ खुल्लै घी में एक माखी जाय पड़ी। घी में लपट' र माखी मरगी। सेट फट्ट ई माखी नै काढी अर बैने पगरखी रै चोपड़ली। कारीगर आ रचना देख' र सोचियो कै जद सेठ माखी रै लागोडो घी ई को छोडियौ नी तो इत्तो घी नींव में कोकर नखावेला। सेठ वारों मन रो भाव समझ' र बोलिया—'घी घणो कै और मंगाणो है। देखो भाइ माखी रौ घी फालतू क्यों जावै। कामसर घी लागै तो म्हारे घर में कंइ कमी है?' [१] अर्थात्, बीकानेर में श्री लक्ष्मीनाथ जी के मन्दिर के पास भांडासर का जैन-मन्दिर है। मन्दिर बनते समय कारीगरों ने सेठ से कहा कि इसकी नींव में यदि पर्याप्त घी डाला जाय तभी मन्दिर मजबूत बन सकेगा। सेठ ने कहा जितना घी चाहिए, मँगवालो। सेठ के देखते-देखते घी के कुप्पे आने लगे। कुप्पो में से कुछ को खोल कर सेठ ने घी की परीक्षा करनी चाही। संयोग से घी में एक मक्खी गिर पड़ी, जो घी में लिपट कर तुरन्त मर गई। सेठ ने चटपट मक्खी को घी से बाहर निकाला और उससे अपने जूतों को चुपड़ लिया। कारीगरों ने सोचा कि जब सेठ मक्खी के लगा हुआ घी ही नहीं छोड़ता, तब वह नींव में इतना घी क्योंकर डालने लगा! सेठ मजदूरों का भाव ताड़ गया और कहने लगा कि 'इतना घी पर्याप्त होगा अथवा और मँगवाया जाय? रही मक्खी से जूता चुपड़ने की बात, मैंने सोचा कि जरा सा भी घी व्यर्थ क्यों जाय? इसलिए उसका उसी समय उपयोग कर लिया गया। वैसे नीव में कितना भी घी लगे, मेरे यहाँ घी की कोई कमी नहीं है।' कहते हैं, तभी से 'वाणियै वाली माखी' एक कहावती पदांश बन गई है।

ऊपर जो तीन दृष्टान्त दिए गए हैं, वास्तव में वे 'लौकिक न्यायों' के ही उदाहरण हैं। यद्यपि राजस्थानी भाषा में इन्हें 'न्याय' का नाम नहीं दिया गया है, तथापि मेरी धारणा है है कि यदि उक्त तीनों दृष्टान्तों को 'बंदर चाँदी न्याय', 'मूँछ-चावल-न्याय' तथा 'वणिक्-मक्षिका-न्याय' के नामों द्वारा अभिहित किया जाय तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।

राजस्थानी भाषा में इस प्रकार के बहुत से 'लौकिक न्याय' प्रचलित हैं जिनका लेखक ने संग्रह किया है। उसकी दृष्टि में इस प्रकार के दृष्टान्तों को 'कहावतों' का नाम न देकर 'लौकिक न्यायों' का नाम देना चाहिए। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी इस प्रकार के दृष्टांत प्रचलित होंगे। इस प्रकार के दृष्टान्तों का राष्ट्रभाषा हिन्दी में संग्रह किया जाना चाहिए। इससे संस्कृत के लौकिक न्याय साहित्य की वृद्धि के साथ-साथ हिन्दी भी अधिक संपन्न हो सकेगी। कहने की आवश्यकता नहीं, उद्बोधन, चेतावनी आदि के अर्थ इस प्रकार के 'लौकिक न्याय' बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं।

लोक-साहित्य के संग्राहकों का ध्यान मैं इन 'लौकिक न्यायों' के संग्रह की ओर आकृष्ट किया चाहता हूँ।

१—उक्त न्यायों के राजस्थानी पाठ लेखक को पं० मुरलीधर जी व्यास, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं, जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

भिखारीदास कृत 'नाम प्रकाश'

डॉ० नारायणदास खन्ना, एम० ए०, पी-एच० डी०, लखनऊ

साहित्य की समृद्धि के लिए उसके व्याकरण तथा कोश का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है इसका कुछ आभास हमें संस्कृत की इस उक्ति से होता है :—

अवैयाकरणस्त्वन्धः बधिरः कोश विवर्जितः

और यही कारण है कि वैदिक कालीन भाषा जब विज्ञों और अज्ञों सभी के मुंह से उच्चरित होती हुई शुद्धाशुद्ध की विषम स्थिति में पड़ने लगी तो विद्वानों ने व्याकरण के निर्माण द्वारा उसका संस्कार एवं परिष्कार किया। यह कार्य साधारण न था। अतः ईसा के पाँच छः सौ वर्षों से भी पूर्व औदुम्बरायण, कौष्टुकी, शाकपूर्ति, शाकटायन, गार्ग्य, गालव, शाकल्य, स्फोटायन, पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन आदि अनेकानेक आचार्यों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार इस कार्य में पूर्ण योग दिया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि यह इन्हीं महर्षियों के परिश्रम एवं उनकी साधना का परिणाम है कि संस्कृत आज संसार की उन थोड़ी-सी भाषाओं में से है जिनका साहित्य अत्यधिक समृद्ध माना जाता है। परन्तु जब हम उसी समृद्ध एवं सम्पन्न माता की सन्तान—हिन्दी की ओर, जिसे जन-जन की भाषा होने के कारण सम्प्रति राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त हो चुका है, देखते हैं तो हमें हार्दिक क्लेश होता है। हम हिन्दी में व्याकरण के उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों की कमी अनुभव करते हैं। हम मानते हैं कि थोड़े से विद्वानों ने इस ओर कुछ कार्य अवश्य किया है, परन्तु वह सिन्धु में बिन्दु सदृश है और वह भी ऐसा है कि उसका अधिकांश या तो आंग्ल भाषा के आधार पर अथवा पाणिनि के अनुकरण पर बनाया गया है। वास्तविकता यह है कि हम हिन्दी भाषा के प्रवाह के अनुरूप अभी तक कदाचित् एक भी व्याकरण नहीं बना पाए। अतः यदि हम पर अवैयाकरणस्त्वन्धः वाली उक्ति चरितार्थ हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अब समय आ गया है कि हमारे विद्वानों को हिन्दी भाषा में पाई जाने वाली अन्य कमियों के साथ-साथ इस कमी को भी पूरा करने की ओर ध्यान देना चाहिए।

हमारे यहाँ कोशों की क्या स्थिति है इस पर भी थोड़ा विचार करना अपेक्षित होगा। विगत दशाब्दि में अधिक संख्या में कोशों का निर्माण हुआ है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हम जानते हैं कि आंग्ल भाषा के विभिन्न विषयक शब्दों के हिन्दी पर्यायों के निर्माणार्थ विद्वान्—व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में और केन्द्र तथा राज्य की सरकारें प्रयत्नशील हैं और यह हिन्दी भाषा की भावी समृद्धि का द्योतक भी है। फिर भी मेरा ऐसा विचार है कि संस्कृत के उपलब्ध कोशों का भी हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। इस कार्य के पूर्ण होने पर हमें अपनी भाषा समृद्ध बनाने के लिए लाखों उपयोगी शब्द मिल जाएँगे, जो हिन्दी में बिना

अधिक ननु नच के खप सकेंगे तथा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे। वास्तविकता यह है कि अभी तक संस्कृत के कोशों के हिन्दी अनुवाद में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। संस्कृत का प्रसिद्ध कोश अमरसिंह कृत 'अमरकोश' है जिसकी परम्परा में अन्य कई कोश एवं कोशकार आते हैं, जिनका उल्लेख इस प्रकार मिलता है :—

मैदिन्यमरमाला च त्रिकांडो रत्नमालिका।
रन्तिदेवो भागुरिश्च व्याडिः शब्दार्णवस्तथा॥
द्विरूपश्च कलिंगश्च रभसः पुरुषोत्तमः।
दुर्गोऽभिधानमाला च संसारावर्त शाश्वतौ॥
विश्वो बोपालितश्चैव वाचस्पति-हलायुधौ।
हारावली साहसांको विक्रमादित्य एव च॥
हेमचन्द्रश्च रुद्रश्चाप्यमरोऽयं सनातनः।

इनमें से कई कोश तो स्वयं अमरसिंह के काल में ही प्रचलित थे। अमरकोश के विद्वान् टीकाकारों—क्षीर स्वामी और सर्वदानन्द ने अमरकोश के पूर्ववर्ती कोशों में व्याडि की उत्पालनी, कात्यायन का कात्य कोश, वाचस्पति का शब्दार्णव, भागुरि का त्रिकांड, विक्रमादित्य का संसारावर्त, धन्वतरि का निघंटु, अमरदत्त का अमरमाला, वररुचि की लिंगविशेष-विधि आदि का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह ने इनमें से अनेक कोशों का उपयोग कर अपने वर्ण्य विषय को अधिक बोधगम्य बनाया था, इसका प्रमाण हमें स्वयं उन्हीं के इन शब्दों में मिलता है :—

समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिंगानुशासनम्॥

अमरकोश की ४० से अधिक टीकाएँ होना इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि उपयोगिता की दृष्टि से यह एक महान् ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का अनुवाद छठी शताब्दी के लगभग उज्जयिनी के किसी गुणरात नामक विद्वान् ने चीनी भाषा में किया था, तिब्बती भाषा में भी इसका अनुवाद मिलता है। परन्तु खेद का विषय है कि हिन्दी में इसके कदाचित् एक दो अनुवाद ही प्राप्त होते हैं, जिनमें व्याख्यात्मक शैली का प्रायः अभाव है।

अष्टछाप के प्रख्यात भक्त कवि नन्ददास की 'अनेकार्थमंजरी' में जिसका निर्माण १७ वीं शताब्दी विक्रमी में हुआ था, एक-एक शब्द के अनेक-अनेक अर्थ दिए गए हैं, जिनका आधार, जैसा कवि ने स्वयं स्वीकार किया है, संस्कृत का अमरकोश ही है। इन्हीं सन्त कवि की एक अन्य रचना 'नाममाला' भी, जिसके 'मानमंजरी' और 'नाममंजरी' ये दो नाम और मिलते हैं, पर्यायवाची शब्दों का ही कोश है। परन्तु इस कृति में केवल उन्हीं शब्दों के पर्यायवाची हैं जो ग्रन्थ की मूल अर्थात् राधा जी के मान-मनावन की कथा के प्रसंग में प्रयोग में लाए गए हैं। ये दोनों ग्रन्थ कोशों के निर्माण की दिशा में एक कदम के रूप में हैं।

आचार्य भिखारीदास ने 'अमरकोश' का अनुवाद छन्दों में किया है। उनका यह अनुवाद 'नामप्रकाश' अर्थात् 'अमरकोष भाषा' के नाम से नवम्बर सन् १८६६ ई० में, अर्थात् आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व, गुलशन अहमदी पाषाण यन्त्रालय, प्रतापगढ़ से मुद्रित हुआ था। सम्पूर्ण ग्रन्थ लीथो द्वारा छापा गया है, जिसमें अनेक अशुद्धियाँ हैं। प्रत्येक एक

या दो शब्दों के बाद विराम रेखा जैसी एक या दो पाइयाँ लगा दी गई हैं जिनका कदाचित् यही उद्देश्य रहा होगा कि पाठक शब्दों के पर्यायों को अलग-अलग पढ़ कर समझ ले। परन्तु सम्भवतः प्रूफ की गल्तियों के कारण इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी है। अतः अध्ययन के निमित्त मैंने सन् १९५० ई० में प्रतापगढ़ नरेश के दुर्ग स्थित पुस्तकालय में उपलब्ध इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति की सहायता ली। अध्ययन के परिणामस्वरूप प्रकाशित प्रति में अनेकानेक अशुद्धियों का पता चला। मैंने ग्रंथ के सम्पादन के संबंध में इस वर्ष जब उपर्युक्त पुस्तकालय में उक्त हस्तलिखित प्रति की खोज की तो ज्ञात हुआ कि उसका अधिकांश कीड़ों मकोड़ों के उदर में समा चुका है और शेषांश झाड़ू की लपेट में आता जा रहा है। मेरे हाथ उसका एक भी पूर्ण पन्ना न लगा। बचे खुचे सौ दो सौ टुकड़े, जो प्रायः एक से लेकर ३-३, ४-४ इंच तक के थे, अवश्य मिले थे जिन्हें एक बेठन मे लपेट कर उसी पुस्तकालय में रख दिया। ये टुकड़े आज भी इसी दशा में उस पुस्तकालय में रखे हुए हैं। सौभाग्य से प्रतापगढ़ नरेश के पुस्तकालय में ही इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति और भी विद्यमान थी, जो पूर्व प्रति के समान अधिक विश्वस्त तो न थी, कार्यसाधन के लिए बहुत कुछ पर्याप्त अवश्य थी। यह प्रति इस समय प्रतापगढ़ नरेश की कृपा से मेरे पास मौजूद है। अस्तु, इस विवेचन का आशय केवल इतना ही है कि सम्पूर्ण अमरकोश के हिन्दी में अनुवाद के महत्त्व को आचार्य भिखारीदास ने आज से दो सौ सोलह वर्ष पूर्व ही समझ लिया था। उनके 'नाम प्रकाश' ग्रंथ का निर्माण सं० १७९५ वि० में हुआ था, जो स्वयं कवि के शब्दों में इस प्रकार है :—

सत्रह से पंचानवे यगहन को शित पक्ष।
तेरसि मंगल को भयो नाम प्रकाश प्रत्यक्ष॥

सम्पूर्ण ग्रन्थ पद्य में है और विषय विवेचन के अनुसार उसमें पचासों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे दोहा, चौपाई, छप्पय, घनाक्षरी, रूपमाला, चंचरी, मधुभार, सुगीतिका, त्रिभंगी, दुर्मिला, ताली, आभीर, पझटिया, हरमुख, ध्रुव, प्लवंगम, हंसगति, नाराच, धारी, शुभगति, आदि आदि।

ग्रन्थारम्भ में ही कवि ने कह दिया है :—

आदिगुरु लायक विनायक चरन रज,
अंजन सो रंजित सुमति दृष्टि करि कै।
देखि कै अमरकोश तिलक अनेकनि सों,
बूझि कै बुधन जो सकत शेश सरि कै॥
संस्कृत नामनि के अर्थ निज जानि जानि,
औरौ नाम आनि भाषा ग्रंथन सों हरि कै।
वाही क्रम सब के समुझिबे को कारन,
प्रकाशो दास भाषा योग छन्द वृन्द भरि कै॥

इससे स्पष्ट है कि भिखारीदास ने प्रतिष्ठित विद्वानों की सहायता से संस्कृत नामों का अर्थ समझ कर उनका हिंदी में रूपांतर किया और साथ ही उन अनेक नामों का भी स्थान-स्थान पर संकलन किया जो भाषा में प्रचलित थे। जहाँ पर्यायों की संख्या अधिक है वहाँ

उन्होंने पर्यायों के नामों के साथ-साथ उस संख्या का भी निर्देश कर दिया है। विषय स्पष्टीकरण की दृष्टि से भिखारीदास कृत 'नाम प्रकाश' में से निम्नलिखित कुछ उद्धरण अवलोकनीय हैं :—

शय्या के पर्यायवाची देते हुए कहते हैं :—

मंच, शयन, पल्यंक अरु खट्वा पुनि पर्यंक।
शय्या, शयनीयो, पलंग खाट दु भाषा अंक॥

अर्थात् मंच, शयन, पल्यंक, खट्वा, पर्येक, शयूया और शयनीय जैसे शयूया के संस्कृत पर्यायवाची शब्दों के साथ वे भाषा के खाट और पलँग शब्दों का भी उल्लेख कर देते हैं। इसी प्रकार :—

यात्रा, प्रस्थानो, गमन, व्रज्या, अभिनिर्यान।
गम, छ नाम भाषा प्रगट चाला, गवन, पयान॥

इस दोहे में प्रस्थान के पर्यायवाची यात्रा, गमन, व्रज्या, अभिनिर्याण, तथा गम जैसे शब्दों के साथ वे इनके हिंदी पर्यायों, चाला, गवन और पयान को भी स्थान देते हैं। और, संवत्सर, वत्सर, शरद्, हायन्, समा और अब्द जैसे संस्कृत पर्यायों के साथ हिंदी के बरिस और बर्स को भी नहीं भूलते, यथा :—

संवत्सर, वत्सर, शरत्, हाय, समा अरु अब्द।
छहो संस्कृत हैं बरिस, बर्स सुभाषा शब्द॥

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो उन्होंने संस्कृत पर्यायों के साथ हिंदी के उन सभी पर्यायों का उल्लेख कर दिया है जो ग्राम-क्षेत्रों में व्यापक रूप से प्रचलित थे। इस दृष्टि से उनका निम्नलिखित एक उद्धरण अवलोकनीय है :—

आसा, काष्ठा, ककुभ, दिक, हरित, दिशा षट जानि।
कोंध, कोद, घा, कैति, दिसि, ओर छवो भाषानि॥

जिसमें दिशा के संस्कृत पर्यायों के साथ वे कोंध, कोद, घा, कैति, दिसि, ओर जैसे दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों को भी स्थान देते हैं।

क्रोध के पर्यायवाची शब्दों के साथ वे भाषा के रिस, कोह, और रोस को भी ले लेते हैं, यथा :—

कोप, रोष, क्रुध, क्रोध, रुट्, प्रतिघ, अमर्ष जु सात।
भाषा रिस अरु कोह कहि रोस नाम गनि जात।

इसी प्रकार भाषा में स्नेह के पर्यायों, अर्थात् प्रीत, सनेह, रति, नेह का भी उन्होंने इनके संस्कृत पर्यायों के साथ उल्लेख किया है।

प्रियता, प्रेमा, हार्दि अरु स्नेह, प्रेम जो पांचु।
भाषा, पीत, स्नेह, रति, नेह जानियो सांचु।

भिखारीदास के 'नाम प्रकाश' से इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वस्तुतः उन्होंने अपने काल में प्रयुक्त होने वाले अनेकानेक शब्दों को अपने उक्त

ग्रन्थ में स्थान दिया है, जैसे डबहा (कम पानी वाला तालाब), पेंठ, रकबा, पौसाला, सौरीघर, अंगनई, बरोठा, ठाउँ, फुलवारी, बंवरि (लता), गोंफा (गुच्छा), बकला (वल्कल), काठ आदि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य कवि भिखारीदास ने न केवल 'अमरकोश' का ही अनुवाद किया, अपितु उन्होंने अपने काल तक पाए जाने वाले अनेकानेक शब्दों का भी अपने ग्रन्थ में प्रसंगानुसार संकलन कर दिया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संकलन आज की स्थिति में हमारे लिए बड़ा उपयोगी है। हिन्दी पर एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि हमारे यहाँ पर्यायों का अभाव है, परन्तु यदि अनुसंधाता गाँव-गाँव जा कर वहाँ के प्रचलित शब्दों का संग्रह करें तो निश्चय ही हमारा शब्द-भंडार बहुत अधिक समृद्ध हो सकता है। डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने अपने एक लेख में रस्सी के एक सौ से भी अधिक ऐसे पर्यायों का उल्लेख किया है जो ग्रामक्षेत्रों में विशेष प्रचलित हैं। इस साधारण सी वस्तु के इतने अधिक पर्याय संसार की बहुत थोड़ी सी भाषाओं में मिलेंगे।

भिखारीदास के 'नाम प्रकाश' ग्रन्थ की उपयोगिता के विषय में एक बात और उल्लेखनीय है। यह प्रायः सर्वविदित है कि कंठाग्र करने की दृष्टि से पद्यात्मक शैली गद्य की अपेक्षा अधिक सरल पड़ती है। आज भी पुराने ढंग के गुरु अपने अल्पायु शिष्यों को सिद्धान्तकौमुदी और अमरकोष कंठाग्र कराने पर ही बल देते हैं। भिखारीदास का 'नाम प्रकाश' पद्य में होने के कारण सरलता से कंठाग्र किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में अधिकांशतः दोहे अथवा छोटे-छोटे छन्द हैं। अतः इसे कंठाग्र कर सकने में विशेष कठिनाई नहीं होगी, ऐसी मेरी धारणा है। जहाँ चंचरी, घनाक्षरी जैसे लम्बे-लम्बे छन्द आ गए हैं वहाँ भी भिखारीदास ने भाषा का प्रवाह प्रायः इतना अनुकूल रखा है कि पढ़ने में जरा भी असुविधा नहीं होती। एतदर्थ नीचे लिखे एक दो पद्यांश यथेष्ट होंगे।

शिव के नाम—

चंचरी छंदांश

पशुपति, शिव, शम्भु, ईश, शूली, शंकर, गिरीश,
ईश्वर, ईशान, चन्द्रशेखर, सितकंठो।
खंडपरशु, बामदेव, स्थानु, गिरिश, महादेव,
उग्र, भीम, कृत्तिवास, त्रिनयन, श्रीकंठो॥

अथवा

बलभद्र के नाम—

सवैया

संकर्षन, कालिन्दी भेदन, सीरपानि, मुसली, बलदेव।
कामपाल, बलभद्र, हलायुध, प्रलंबघ्न, नीलाम्बर एव।
राम, रेवतीरमन, हली, बल, रौहिणेय, तालांकहि सेव।
अच्युताग्रजो गनि सत्रह सब हैं बलभद्र नाम के भेव।

कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत के कोशों के अनुवाद की दिशा में भिखारीदास ने पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। जैसा कहा जा चुका है, यह कार्य उन्होंने पद्य के माध्यम से किया।

मेरा विचार है कि वे इसमें काफी सफल रहे हैं। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि पद्यात्मक शैली में विषय के व्यापक विवेचन के निमित्त न तो अधिक गुंजाइश ही रहती है और न स्थान ही। अतः यदि आचार्य भिखारीदास अपने विषय का उतना अधिक विवेचन न कर सके हों जितना गद्य के माध्यम से सम्भव हो सकता है तो उसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। वे हमारा मार्ग-दर्शन कर ही चुके हैं। शेष कार्य स्वयं हमें करना है। हमारा सौभाग्य है कि हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जब भाषा बहुत अधिक समृद्धि हो चुकी है, जब भावों के आदान-प्रदान का यह माध्यम वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अधिक स्थायी बन चुका है और जब हिन्दी को उसका चिर प्रतीक्षित राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त होने वाला है। ऐसी दशा में समय और आवश्यकता की माँग को देखते हुए हिन्दी में इस प्रकार के कोशों के अनुवाद की ओर सक्रियता के साथ कार्य होना चाहिए, जिससे हम अपने शब्द-भंडार को अधिक समृद्ध बना सकें।

हम्मीर रासो की ऐतिहासिकता

डा० टीकमसिंह तोमर, एम० ए०, डी० फिल्०, ब० रा० कालेज, आगरा

जोधराज कृत हम्मीर रासो में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता पर नीचे संक्षेप में विचार किया जा रहा है :—

हम्मीर और अलाउद्दीन में वैर के कारण : जोधराज के मतानुसार 'रूप विचित्रा' पर आसक्त होने के कारण मीर महिमा को अलाउद्दीन ने दिल्ली से निकाल दिया, उसने रणथंभोर के राव हम्मीर के पास जाकर शरण ली। इसी से कुपित हो कर दिल्ली सम्राट् ने रणथंभोर पर आक्रमण किया।

इस भयंकर युद्ध के उक्त कारण की कल्पना में कवि ने परम्परा का अनुसरण किया है। पृथ्वीराज रासो की 'हुसैन कथा' से प्रभावित हो कर उसने इस घटना का उल्लेख किया हो तो आश्चर्य नहीं। किसी प्राप्त प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ अथवा शिलालेख में इस कथानक का उल्लेख नहीं है। हम्मीर महाकाव्य भी इस सम्बन्ध में मौन है। उसमें युद्ध का यह कारण दिया है :—

'जैत्रसिंह हम लोगों को कर देता था, पर यह उसका बेटा हम्मीर न केवल कर नहीं देता, वरन् हम लोगों के प्रति अपनी घृणा दिखाने के लिए प्रत्येक अवसर ताकता रहता है।' इसके अतिरिक्त उसमें हम्मीर के दरबार में चार मुग़लों का वर्त्तमान होना भी युद्ध का कारण माना गया है।

फ़ारसी इतिहास में इस युद्ध के कारणों के सम्बन्ध में लिखा है :—

'गुजरात विजय (१२९७ ई०) के पश्चात् उलग़खां और नुसरतखाँ दिल्ली के लिए चल पड़े। जालौर में लूट की सामग्री का विभाजन किया गया। सैनिकों ने सामान को छिपाने का प्रयत्न किया। इस पर सेनापतियों ने कठोरतापूर्वक व्यवहार किया। सैनिकों में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। उन्होंने नुसरतखां के भाई मलिक ऐज़ुद्दीन तथा उलग़खां के धोखे में सुलतान के भांजे को मार डाला। उलग़खां और नुसरतखां ने विद्रोह शान्त कर लिया। विद्रोही भाग गए। मुहम्मदशाह और कांमरू ने रणथंमोर के राजा हम्मीर के यहाँ तथा यलहक़ एवं बुर्राक़ ने देवगिरि के सोमदेव के अतिथि, गुजरात के निर्वासित राय कर्ण के पास नन्दुरूवार में जाकर शरण ली।'

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जालौर में सेना ने विद्रोह किया था तथा मुहम्मद शाह एवं कामरू ने हम्मीर देव के यहाँ जा कर शरण ली थी। कोई भी तत्कालीन इतिहास लेखक इस घटना को रणथंभोर पर आक्रमण करने का कारण नहीं बतलाता, परन्तु उत्तर कालीन

इतिहासकारों द्वारा अनुमोदित अप्रत्यक्ष साक्ष्य से इसकी पुष्टि होती है। इसामी के अनुसार 'यह ज्ञात होने पर कि रणथंभोर के चौहान राजा के यहाँ मुग़ल शरणार्थी ठहरे हुए हैं उलग़खां ने सुल्तान के नाम से यह सन्देश भेजा कि यदि राय उन शरणार्थियों को मरवा दें अथवा उसके पास भेज दें तो सुल्तानी सेनाएं देहली को लौट जाएंगी। राणा को इस बात के लिए भी सावधान कर दिया गया था कि जब वे शरणार्थी, जिनको सुल्तान ने जीवन और सम्मान दिया उसके प्रति स्वामिभक्त न रह सके तो भला वे राणा के साथ कैसे सत्य व्यवहार रख सकेंगे। इस राजाज्ञा के विरुद्ध कार्य करने के दुष्परिणामों को सहने के लिए प्रस्तुत रहने की चेतावनी भी राव को दी गई थी।'

इस घटना (१३०१ ई०) के पचास वर्ष के उपरान्त इसामी ने अपने ग्रन्थ की रचना की (रचना-काल १३४६-५० ई०)। इससे और इसके पश्चात् की रचना हम्मीर-महाकाव्य से विदित है कि हम्मीर ने विद्रोहियों को आश्रय दिया था। मुहम्मदशाह और मीर कामरू ही 'हम्मीर-महाकाव्य' एवं हम्मीर रासो के मीर महिमाशाह तथा मीर गमरू प्रतीत होते हैं। फ़ारसी इतिहासों एवं हम्मीर-महाकाव्य के अनुसार जालौर से भाग कर उन्होंने रणथंभोर में आश्रय प्राप्त किया था। जोधराज के विचार में दिल्ली से निर्वासित हो कर केवल मीर महिमा हम्मीर के दरबार में पहुँचा था और उसका भाई मीर गमरू अलाउद्दीन की सेवा ही में रह गया था। इस अन्तर का कारण 'हुसैन कथा' का कवि पर प्रभाव और काव्य में शृंगार का समावेश करने की भावना से प्रेरित होना ही प्रतीत होता है।

यद्यपि अलाउद्दीन ने मुख्यतया विद्रोहियों के हम्मीर की शरण में चले जाने के कारण रणथंभोर पर आक्रमण किया था, पर इसके अन्य कारण भी थे। दिल्ली के निकटस्थ एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य को अलाउद्दीन अपनी सत्ता के लिए भय प्रद समझता था। इसके अतिरिक्त जलालउद्दीन ख़िलजी की रणथंभोर में पराजय होने से मुसलमानी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा था। इन्हीं कारणों से अलाउद्दीन ने रणथंभोर पर आक्रमण किया था। जोधराज द्वारा दिए हुए कारणों में से केवल इतना ही अंश सत्य है कि मीर महिमा हम्मीर की शरण में था और उसकी रक्षा करने के लिए हम्मीर ने युद्ध किया था।

आक्रमण : जोधराज के मतानुसार अलाउद्दीन स्वयं ससैन्य रणथंभोर की ओर चला, पर हम्मीर-महाकाव्य के मत में सर्व प्रथम उसके सेनापति उलगखां ने आक्रमण किया और वह स्वयं पीछे से गया। बरनी का कथन है कि ख़िलजी सुल्तान ने उलग़खां को उसके विरुद्ध चढ़ाई करने की आज्ञा दी। इस सेवा के उपलक्ष्य में उसे बयाना का प्रान्त दिया गया। कड़ा का प्रान्त प्राप्त करके और सेना ले कर नुसरतखां भी उलग़खां की सहायता के लिए जा पहुँचा।

मुसलमानी सेना 'मलहारणों गढ़' को विजय करती हुई बनास नदी के किनारे पर पहुँची, जहाँ पर राजपूतों ने बड़ी वीरता प्रदर्शित की, पर वे पराजित हुए। हम्मीर रासो में उल्लिखित इस 'मलहारणों गढ़' स्थान की स्थिति बताना कठिन है। पर इतना निश्चित है कि दिल्ली से रणथंभोर तक पहुँचने में मुसलमानों को मार्ग में अनेक स्थानों पर युद्ध करना पड़ा होगा। उन्हीं स्थानों में से किसी एक का उक्त नाम भी रहा होगा।

सरकार ने 'फ़ाल आव दि मुग़ल इंपायर' में रणथंभोर दुर्ग से १८ मील उत्तर में

अवस्थित मलारना नगर का उल्लेख किया है। संभव है जोधराज द्वारा उल्लिखित 'मलहारणों गढ़' यही नगर हो।

बनास (वर्णनाशा) नदी से युद्ध का उल्लेख करते हुए हम्मीर-महाकाव्यकार ने लिखा है कि इस युद्ध में भीमसिंह मारा गया और विजयी उल्लूखां (उलग़खां) दिल्ली को लौट गया। वह पुनः रणथम्भोर पर चढ़ आया। जोधराज ने उक्त दोनों युद्धों का वर्णन, जैसा कि ऊपर कह आए हैं किया है। इन युद्धों के संबन्ध में फ़ारसी इतिहासकार मौन हैं। सम्भवतः अलाउद्दीन की पराजय ही उनके इस मौन का कारण है।

वहाँ से चल कर उलग़खां एवं नुसरतखां ने झाँई पर अधिकार करके उसे अपने युद्ध का स्कंधावार बना कर रणथंभोर का घेरा डाला। इसामी के मतानुसार उलग़खां ने झाँई का 'शहरे नौ' नाम रखा। बदायूनी ने भी उसका समर्थन किया है। 'झाँई' अथवा 'शहरे नौ' का अब पता नहीं चलता। परन्तु रणथंभोर से पूर्व में कुछ दूर पर 'नयगाँव' नामक एक स्थान, जिसका अर्थ 'शहरे नो' होता है अवस्थित है। सम्भवतः यही झाँई नामक स्थान है।

हम्मीर रासो में प्रयुक्त 'छाड़गढ़' नामक स्थान की वास्तविक स्थिति का अनुमान लगाना कठिन है। हो सकता है कि इस स्थान से कवि ने झाँई की ओर संकेत किया हो। छाड़गढ़ पर पाँच वर्ष तक सेना पड़ी रहने और युद्ध होते रहने की ऊहात्मक उड़ान से यह ध्वनि निकलती है कि वह स्थान शाही सेना का पड़ाव स्थान था। अतएव छाड़गढ़ और झाँई अलाउद्दीन की सेना का स्कंधावार था। इस प्रकार छाड़गढ़ और झाँई एक ही स्थान की ओर संकेत करते पाए जाते हैं। परन्तु निश्चित मत निर्धारित करना दुष्कर है। यह भी हो सकता है कि वह कोई अन्य नगर रहा हो जिसका पता लगना इस समय कठिन है।

रणथंभोर में पहुँच कर उसके सेनापतियों ने सुरंगें एवं गरगच बनाने की आज्ञा दी। मुगूदर लगने से नुसरतखाँ के प्राण-पखेरू उड़ गए। पराजित हो कर उलग़खाँ झाँई की ओर लौट पड़ा। इस पराजय की सूचना पा कर सुल्तान स्वयं दिल्ली से रणथंभोर की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँच कर उसने 'रण' नामक पहाड़ी पर डेरा डाला। 'रण' और 'मदन' पहाड़ियों के मध्य घाटी को मुसलमानों ने घास-फूस आदि से भर दिया। राजपूतों ने अग्नि-वर्षा करके उसे भस्मसात् कर दिया। दोनों ओर की हताहत संख्या अपार थी।

यह युद्ध अधिक समय तक चलता रहा। नुसरतखाँ जैसा वीर सेनापति मारा गया, अलाउद्दीन के प्राण लेने का प्रयत्न हुआ, साम्राज्य में विद्रोह ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी, अपार सैन्य सहार हो रहा था; तो भी सुल्तान विचलित होने का नाम नहीं लेता था। कालान्तर में दुर्ग में खाद्य सामग्री का इतना अभाव हो गया कि स्वर्ण के दो दानों में चावल का केवल एक दाना मिलने लगा।

युद्ध का अन्त : खुसरो लिखता है कि 'मनुष्य हर एक दुःख सह सकता है पर क्षुधा-पीड़ा उसके लिए असह्य है।' अन्त में कष्ट, निराशा एवं भूख-पीड़ा से व्यथित हो कर जौहर कार्य किया गया। रानी रंगादेवी आदि महिलाओं ने अग्नि-प्रवेश किया। शेष शूर सामन्त सहित वीर हम्मीर केसरिया वस्त्र धारण करके युद्धार्थ निकल पड़े। मुहम्मदशाह तथा कामरू अन्त तक वीरतापूर्वक युद्ध करते रहे। इसामी का कथन है कि राणा के परिवार का

कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं पकड़ा गया। शिवपुर प्रान्त के गढ़ला स्थान के स्मारक के नामपट्ट से भी हम्मीर के १३०१ ई० में मारे जाने की पुष्टि होती है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार खाद्य सामग्री के अभाव में जौहर प्रथा का अनुसरण किया गया। जोधराज ने भी जौरा मौरा कोशों की सामग्री-समाप्ति की ओर संकेत किया है। जोधराज ने अपने नायक के शौर्य को द्विगुणित करने के लिए ही हम्मीर की विजय, उनके द्वारा पकड़ कर अलाउद्दीन को मुक्त करने तथा अन्त में शिवाजी को शिर समर्पित करने की कल्पना कर ली है। अलाउद्दीन को बन्दी बना कर छोड़ने की घटना का आधार पृथ्वीराज रासो में वर्णित पृथ्वीराज द्वारा गौरी को पकड़ कर मुक्त कर देने वाला कथन भी हो सकता है।

सुर्जन का विश्वासघात : राणा हम्मीर के दो मन्त्रियों, रणमल और रतनपाल के देशद्रोह के कारण रणथंभोर का पतन हुआ, इस बात की पुष्टि हाजीउद्दबीर और फ़रिश्ता दोनों ही करते हैं। हाजीउद्दबीर कहता है कि रणमल अलाउद्दीन के साथ संधि नियम निश्चय करने के लिए भेजा गया था। वह सुल्तान की ओर मिल जाने के लिए प्रस्तुत हो गया। उसने एक लिखित प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया और रतनपाल आदि के साथ दुर्ग छोड़ कर शाही सेना में सम्मिलित हो गया। फ़रिश्ता लिखता है कि दुर्ग पर अधिकार हो जाने के उपरान्त अलाउद्दीन ने देश द्रोही एवं कृतघ्न राजपूत रणमल एवं उसके अन्य साथियों को प्राण-दण्ड दिया।

जोधराज ने विश्वासघातक का नाम राव सुर्जनसिंह माना है जो अनैतिहासिक है। इस घटना के वास्तविक पात्रों के नामों से कवि अनभिज्ञ था, यह बात उक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

रणथंभोर निरंकुशतापूर्वक लूटा गया। 'हरदेव' का देवालय आदि मन्दिर पृथ्वी पर गिरा दिए गए। मकान नष्ट किए गए। 'कुफ़्र-केन्द्र' इस्लाम का आवास हो गया। उलग़ख़ाँ को झाँई तथा रणथंभोर का शासक नियुक्त करके अलाउद्दीन दिल्ली को लौट गया।

निज़ामुद्दीन और फ़रिश्ता ने एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि युद्ध भूमि में घायल पड़े हुए मुहम्मदशाह को देख कर अलाउद्दीन को दया आई। उसने मीर से पूछा कि यदि घावों की चिकित्सा करके मृत्यु से बचा दिया जाए तो वह उसके साथ कैसा व्यवहार करेगा। उसने तिरस्कारपूर्वक निर्भीकता से उत्तर दिया कि वह सुल्तान को मार कर हम्मीर-पुत्र को सिंहासनारूढ़ कराएगा। इस पर क्रोधोन्मत्त सुल्तान ने उसे गज-पद से कुचलवा दिया। अन्त में उसने उसका वीरोचित अन्त्येष्टि संस्कार कराया।

सम्भवतः उक्त घटना की ओर संकेत करते हुए ही जोधराज ने अलाउद्दीन द्वारा मीर महिमा को गोरखपुर परगना दे कर अपनी ओर फोड़ लेने के लिए विफल-प्रयत्न होने का वर्णन किया है।

अलाउद्दीन की मृत्यु : अलाउद्दीन का रामेश्वर में जा कर प्राण-विसर्जन करना भी जोधराज के मस्तिष्क की निराधार उपज है। अलाउद्दीन जैसे कट्टर मुसलमान द्वारा रामेश्वर में जा कर अर्चना करना साधारण समझ से बाहर की बात है। सन् १२९५ ई० में देवगिरि

विजय के पश्चात् अलाउद्दीन फिर कभी दक्षिण को नहीं गया और १३०३ ई० के उपरान्त तो वह दिल्ली को भी नहीं छोड़ सका था, पर उसके योग्य सेनापति विजय कार्य करते रहे थे। सन् १३०८ ई० तक मलिक काफूर दक्षिण के विविध स्थानों को विजय करता रहा था। वह २५ फ़रवरी, १३११ ई० को द्वारसमुद्र तक पहुँचा था।

संभव है कि अलाउद्दीन के सैनिकों के द्वारसमुद्र तक पहुँचने की इसी घटना से प्रेरित हो कर प्रमाद-वश जोधराज ने उपर्युक्त अनर्गल एवं भ्रमात्मक वर्णन कर दिया हो।

चन्द्रकला-नृत्य : कवि जोधराज ने हम्मीर महाकाव्य में चन्द्रकला नर्त्तकी के नृत्य का वर्णन भी किया है। इस काव्य के अनुसार उड्डानसिंह नामक व्यक्ति ने बाण द्वारा राधा नामक वेश्या को मार कर दुर्ग के नीचे उपत्यका में गिरा दिया था और मीर महिमा ने उड्डानसिंह को लक्ष्य करके काल-कवलित कर दिया था। जोधराज ने मीर गमरू के बाण से नर्त्तकी का घायल हो कर गिरना तथा मीर महिमा के बाण से अलाउद्दीन के मुकुट गिराने की बात कही है। इस पर तुलसी कृत रामचरित मानस में वर्णित राम द्वारा मन्दोदरी के ताटंक गिराने और अंगद द्वारा रावण के मुकुट फेंकने की घटनाओं का प्रभाव पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह परिणाम निकलता है कि हम्मीर रासो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। उसमें प्रयुक्त तिथियाँ एकदम अशुद्ध हैं और अधिकांश पात्रों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। कवि ने घटनाओं की वास्तविकता, सत्यता एवं प्रामाणिकता का बहुत कम ध्यान रक्खा है, जिसके फलस्वरूप इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त साधारण कोटि का हो गया है। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जोधराज ने अपनी कृति के लिए रोचक, शौर्य-प्रधान और इतिहास-प्रसिद्ध कथानक को चुन कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। ठोस ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से पूर्णरूपेण खरा न उतरने पर भी हम्मीर रासो अपने ढंग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।*

सहायक-ग्रन्थ—१. हम्मीर रासो। २. पृथ्वीराज रासो। ३. हम्मीर महाकाव्य। ४. अलाउद्दीन मुहम्मद खिलजी। ५. फ़ॉल आव दी मुगल इम्पायर। ६. रामचरित मानस।

डिंगल भाषा

प्रो० उदयसिंह भटनागर एम० ए०, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा

१. राजस्थानी का आरम्भिक सूत्रपात और डिंगल भाषा की आरम्भिक प्रवृतियाँ :

किसी भाषा और उसके साहित्य का विकास तत्सम्बन्धी समाज या जाति-विशेष की सांस्कृतिक, धार्मिक या राजनैतिक परिस्थिति पर निर्भर रहता है। ब्रजभाषा और उसके साहित्य का उद्गम, विकास और लोक-प्रियता का प्रधान कारण जिस प्रकार उनकी धर्मगत भक्ति-भावना है, उसी प्रकार राजस्थानी के डिंगल स्वरूप और उसके साहित्य के उद्गम, विकास और लोक-प्रियता का कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न वीरोल्लास की भावना है। विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों से ही देश की राजनैतिक परिस्थिति छिन्न-भिन्न होने लग गई थी और युद्ध जीवन का प्रधान अंग बन गया था। विभिन्न राज्यों की स्वतन्त्र सत्ताओं के लिए गृह युद्ध में संलग्न वीरों की वीर गाथाओं का व्यापक और साहित्यिक स्वरूप विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी के बीच देख पड़ता है। इसी समय मुस्लिम आक्रमण देश की राजनैतिक स्थिति में एक नया परिवर्तन उपस्थित करते हैं, युद्ध का क्षेत्र विकसित होता है और उससे उत्पन्न परिस्थितियाँ भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन उपस्थित करती हैं। विभिन्न युद्धों से उत्पन्न ये परिस्थितियाँ इन स्वतन्त्र राज्यों को जिस प्रकार अपनी सीमा में बांध देती हैं, उसी प्रकार उन राज्यों में सीमित समाज अपनी भावनाओं और चिन्तन के क्षेत्र में भी सीमित हो जाता है। समाज की भावना और चिन्तन का विकास एक विशिष्ट भाषा और विषय में बद्ध होने लगता है। अपने प्रारम्भिक काल में इन युद्धों का केन्द्र गुजरात से ले कर मध्यदेश तक विस्तृत था, इस पूरे भू-भाग की भाषा भी एक ही मानी जाती थी। साहित्य की काव्यगत भावनाएँ वीर रस प्रधान ही थीं, अतः उसकी अभिव्यक्ति का साधन भाषा भी एक ही थी। फिर भी यह बात सत्य है कि इस भू-भाग में भिन्न राज्यों की स्वतन्त्र सत्ताएँ थीं और साहित्यिक प्रवृत्ति एक होने पर भी प्रान्तीय रूपों का स्वतन्त्र विकास हो रहा था। इस कारण उनमें प्रान्तीय विशेषताएँ व्यक्त होने लग गई थीं। समाज और उसकी भाषा में दृष्टिगोचर होने वाली प्रान्तीय विशेषताओं के उदाहरण आज हमें उपलब्ध हैं। वि०सं० ८३५ में लिखित 'कुवलयमाला कथा' में ऐसे अट्ठारह रूपों और उनके बोलने वालों की विशेषताओं का सूत्र मिलता है। इस प्रकार मध्यदेश में 'तेरे मेरे आउ' अन्तर्वेद में 'कितो किम्मो जिअ' टक्क में 'एहं तेहं' मरु प्रदेश में 'अप्पा तुप्पा' गुजरात में 'णउ रे मल्लउ' लाट में 'अहम्म काइं तुम्हं मितु' और मालवा में 'भाउअ भइणी तुम्हें' आदि प्रान्तीय रूपों का प्रयोग होने लग गया था। यों तो इससे भी पूर्व अपभ्रंश के भेदों और उनकी विशेषताओं का उल्लेख

१. विशेष के लिए देखिए गायकवाड ओरिएंटल सीरीज द्वारा प्रकाशित, 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' की भूमिका, पृष्ठ ९१, ९४

हमें मिलता है[२], पर अपभ्रंश से विकसित देश भाषा में ये प्रान्तीय रूप और भी अधिक विकसित हो चुके थे, फिर भी भाषा और साहित्य के किसी स्वतन्त्र प्रान्तीय स्वरूप का प्रकाशन नहीं हुआ था। कबीर के समय (१४ वीं शताब्दी) तक भाषा के दो ही प्रमुख स्वरूप उपस्थित थे—एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। कबीर की साखी भाषा का पश्चिमी रूप है और उनकी रमैणी पूर्वी रूप। धीरे-धीरे इस बड़े पश्चिमी भू-भाग के विभिन्न राज्यों की सीमाबन्धी भी स्पष्ट होने लगी और वहाँ की स्थानगत विशेषताओं का प्रान्तीयकरण होने लगा। दिल्ली का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के पश्चात् वीर रस की भावनाओं के प्रवाह का क्षेत्र गुजरात, राजस्थान और बुन्देलखण्ड तक रह गया और फिर गुजरात तथा बुन्देलखण्ड भी अपनी भाषाओं का विकास करने लगे इस प्रकार गुजरात, राजस्थान और बुन्देलखण्ड में अपनी-अपनी भाषाएँ और साहित्य विकसित होने लगे।

अपने आरम्भिक काल में राजस्थानी का जो साहित्यिक रूप मिलता है उसी को विद्वानों ने जूनी गुजराती, जूनी राजस्थानी या जूनी हिन्दी कहा है। इसका प्रधान कारण यही है कि इतने बड़े क्षेत्र में जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसकी भाषा एक ही थी और विषय भी एक ही। नाथों की परम्परा और भाषा कबीर आदि के निर्गुण सम्प्रदायों में विकसित अवश्य हुई, परन्तु उसका विषय दूसरा हो गया। युद्ध और प्रेम उस समय के प्रधान विषय थे जो नाथों की परम्परा से दूर थे, यद्यपि भाषा की समानता वर्तमान थी। युद्ध और प्रेम इन दो विषयों ने राजस्थानी भाषा साहित्य की नींव डाली। ये दोनों विषय इतने लोक-प्रिय हुए कि आगे चल कर ये ही राजस्थान के जीवन के प्रधान अंग बन गए। इधर जैन परम्पराओं ने भी राजस्थान पर अपना प्रसार किया। इस प्रकार एक ओर वीर और शृंगार रसात्मक काव्य की रचना होने लगी और दूसरी ओर जैन धर्म की भावनाओं का साहित्य भी विकसित होने लगा। युद्ध और प्रेम के जीवन से दूर हटाए गए किसी निराश व्यक्ति का यह दोहा दोनों के प्रभाव को व्यक्त करता है :

एहु जम्मु निग्गहं गयउ, मड सिरि खग्गु न मग्गु।
तिक्खां तुरियां न मांडियां, गोरी गलइ न लग्गु।

इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है कि वीर और शृंगार रसात्मक प्रवृत्ति उस समय कितनी प्रबल थी। राजस्थानी भाषा और साहित्य का आरम्भिक स्वरूप भी इस दोहे में वर्तमान है। सर्वनाम 'एहु' से ही आधुनिक राजस्थानी 'यो' का विकास हुआ है। प्राकृत की सावर्ण्य प्रवृत्ति और डिंगल की द्वित्तवर्ण प्रवृत्ति में जो सम्बन्ध है उसके उदाहरण स्वरूप इसमें 'जम्मु', 'नग्गहं', 'खग्गु', 'भग्गु', 'लग्गु' वर्त्तमान हैं। विभक्ति के रूप में अनुस्वार का प्रयोग 'तिक्खां तुरिया', भूतकाल की क्रिया में आधुनिक 'गयो' का प्राचीन रूप 'गयउ' आदि प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान हैं। अनुस्वार द्वारा युद्ध के ध्वनि-प्रतीक उपस्थित करने की प्रवृत्ति 'तिक्खां तुरियां न मांडियां' में मिलती है। यह दोहा भोज के समय (वि० स० १०६० के लगभग) का है। यह उस समय की प्रचलित काव्य भाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि युद्ध और प्रेम की परम्पराएँ और उसके काव्य की भाषा बहुत परिमार्जित हो चुकी थीं। ये ही परम्पराएँ और भाषा राजस्थानी के मूल स्वरूप को व्यक्त करती हैं।

२. देखो शोध पत्रिका भाग १, अङ्क १, सन् १९४७ में प्रकाशित प्रस्तुत लेखक का 'अपभ्रंश', पृ० २०

२. *राजस्थानी का क्रमिक विकास और डिंगल का स्पष्टीकरण*

आगे चल कर ज्यों-ज्यों जन भावनाओं में परिवर्त्तन होता गया, त्यों-त्यों उसके साथ ही साहित्य के विषयों में भी परिवर्त्तन होने लगा। दक्षिण-पश्चिम से जिस प्रकार राजस्थान पर जैन प्रभाव का प्रसार हो रहा था, उसी प्रकार उत्तर-पूर्व से ब्रजभाषा के भक्ति साहित्य का प्रसार होने लगा। मुस्लिम आधिपत्य स्वीकृत हो जाने पर फारसी का प्रभाव गौण रूप में और खड़ी-बोली का प्रधान रूप में राजस्थानी पर पड़ने लगा।[३] राजस्थानी लोक साहित्य पर ब्रजभाषा साहित्य का प्रभाव पड़ने के कारण उसमें एक नया स्वरूप विकसित होने लगा जो अपने विषय और भाषा दोनों में अपने प्राचीन रूप की प्रतिक्रिया के रूप में देख पड़ता है। ब्रजभाषा ने जहाँ भक्ति की भावनाओं द्वारा जन सामान्य के हृदयों को आन्दोलित किया वहाँ उसकी भाषा के स्वरूप को भी सर्वथा बदल दिया। वीर काव्य के स्थान पर कृष्ण काव्य की रचनाएँ होने लगीं, भाषा में द्वित्तवर्ण, सानुनासिता और कठोर ध्वनियों के स्थान पर कोमल-कान्त पदावलि का प्रयोग होने लगा, भाषा में ओज के स्थान पर माधुर्य का प्रसार होने लगा। परन्तु फिर भी वीर रसात्मक रचनाओं की परम्परा भी चलती रही, पर जन सामान्य से दूर रह कर ही। केवल राज दरबारों में उसका सम्मान होता रहा, चारण, भाट, राव, ढाढी, मोतसर आदि राज्याश्रितों द्वारा उसको पोषण मिलता रहा। इन लोगों ने प्राचीन परम्पराओं के आधार और अनुकरण पर साहित्य की रचना और एक भाषा का स्वतन्त्र विकास कर लिया, जो केवल उनके साहित्य में ही प्रयुक्त होती थी और जन सामान्य से सर्वथा दूर थी। इस प्रकार विषयों और रचयिताओं के अनुसार भाषा की विभिन्न शैलियाँ राजस्थानी में विकसित होने लगीं। ब्रजभाषा के अत्यधिक प्रभाव से जैन शैली अधिक विकसित न हो सकी क्योंकि इसमें चारण शैली के समान ही भाषा की प्राचीनता वर्त्तमान थी और उसकी भावनाएँ अत्यधिक धार्मिक नियमों से बद्ध थीं। उसका विषय बौद्धिक अधिक था। अतः जैन शैली ने भी आगे चलकर अपना रूप परिवर्त्तित कर लिया। जन सामान्य के लिये लोक भाषा में जन सुलभ कथाओं के रूप में जीवन-चरित्र साहित्य की रचना हुई। इस प्रकार दो भिन्न भाषा शैलियाँ ही राजस्थानी में विशेष रूप में मिलती हैं। इन दो भिन्न भाषा शैलियों को व्यक्त करने वाला प्रामाणिक साहित्य वि०स० १४०० से बराबर मिलता है। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित समकालीन कवियों की रचनाओं की तुलना की जा सकती है :—

१. आसाइत कृत हंसावली, संवत् १४२७
२. छीहल कृत पंचसहेली रा दूहा, संवत् १५७५
३. हेमरतन कृत गोराबादल पदमणी चउपई, संवत् १६४५
४. लब्धोदय कृत पदमिणी चरित, संवत् १७०७
५. ओपा कवि की रचनाएँ, संवत् १८७५

१. श्रीधर रचित रणमल्लछन्द, संवत् १४५०
२. आशानन्द कृत उमादे भटियाणी री वार्त्ता, संवत् १५७५-१६००
३. पृथ्वीराज राठौड कृत वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, संवत् १६३७
४. डूँगरसी कृत शत्रुसाल रासो, संवत् १७१०
५. बाँकीदास की रचनाएँ संवत् १८७५

३. राजस्थानी ख्यात-बात संग्रहों मे जहां मुसलमान पात्रों की भाषा आती है वहाँ खड़ी बोली का ही प्रयोग मिलता है। विशेष रूप से देखिए हमीर हठीले की बात।

ब्रज भाषा के भक्ति साहित्य ने कब राजस्थानी भाषा और साहित्य को प्रभावित किया, यह कहना तो कठिन है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भक्ति की प्रबल भावनाओं ने ही इस परिवर्तन का सूत्रपात किया। राजस्थानी और ब्रज में जो ओकारान्त प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है उसने तथा व्याकरण के अन्य रूपों—लिंग, वचन, कारक, क्रिया आदि की कुछ समानताओं ने दोनों में सामंजस्य की स्थिति उत्पन्न कर दी। इससे आगे चल कर ब्रज और राजस्थानी इस प्रकार से मिश्रित हो गईं कि दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। इस समय चारण काव्य भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, यहीं पर डिंगल और पिंगल का भेद स्पष्ट होने लगता है, पर डिंगल भी ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। संवत् १६१० में रचित माधौदास का राम रासो ब्रज मिश्रित डिंगल का प्रथम रूप देख पड़ता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक राजस्थानी पर ब्रज का प्रभाव काफी प्रबल हो चुका था। इस प्रभाव के विकास में लगभग दो सौ वर्ष तो लगे ही होंगे। अतः यदि संवत् १५०० के लगभग ब्रजभाषा का प्रभाव आरम्भ हुआ हो तो मीरां के समय (१५५५) के पूर्व ही इस प्रभाव का विकास समझना चाहिए और संवत् १७०० के पश्चात् ही चारणी-भाषा का नाम डिंगल रखा गया होगा, क्योंकि इसके बाद डिगल के भी दो रूप मिलते हैं—एक ब्रज मिश्रित और दूसरा शुद्ध। संवत् १७५० के लगभग वृन्द कवि की वीर रसात्मक रचनाएँ ब्रज मिश्रित डिंगल में मिलती हैं। संवत् १७७५ के लगभग मुरली कवि की रचनाएँ ब्रज मिश्रित बोलचाल की राजस्थानी में हैं। संवत् १७९० में वीरमाण कृत राज रूपक में पिंगल के शुद्ध रूप मिलते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि संवत् १७५० के लगभग पिंगल से भेद बतलाने के लिए डिंगल नामकरण होना चाहिए, डिंगल और पिंगल के भेद को स्पष्ट करने के लिए ही किसी ने यह पद कहा है :—

"डिंगल गजब डोकरो डाकी, पिंगल पूगल नाजुक नार"

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति और डिंगल भाषा और साहित्य

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति और उसका उक्त भाषा के साथ अर्थ बैठाने लिए विद्वानों ने अनेकों कल्पनाएँ कीं, पर उनका कोई निश्चित परिमाण नहीं निकला। राजस्थानी भाषा का वैज्ञानिक अनुसंधान करने वाले प्रसिद्ध डा० तिस्सेतोरी ने इसका अर्थ 'अनियमित' तथा 'गँवारू' बताया। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी व्युत्पत्ति 'डगल' से मानी। किसी ने इसमें 'ड' की बहुलता होने का कारण इसका नाम डिंगल सार्थक समझा तो किसी ने डिंगल में डिम+गल सन्धि मान कर यह बताया कि गले से डमरू की आवाज जिसमें निकलती हो उसका नाम डिंगल। इसी प्रकार डिम्भ+गल=डिंगल, डिग्गी+गल=डिंगल आदि अनुमान भी प्रचलित हैं। इधर डा० मोतीलाल मेनारिया ने कल्पना की है कि डिंगल की व्युत्पत्ति डींग मारने से हैं, क्योंकि इस भाषा में अत्युक्ति और अतिरंजनापूर्ण साहित्य मिलता है, पर उनका यह मत ठीक नहीं है। 'डींग मारना' एक मुहावरा है और उससे अर्थ बैठाने के लिए तो यह ठीक जँचता है, पर शब्द की व्युत्पत्ति की ओर इससे कोई संकेत नहीं मिलता। डींग शब्द से गप्प मोटा, भद्दा आदि अर्थ लिए जाते हैं, परन्तु इस शब्द से सम्बन्धित इन सब अर्थों का इतिहास दूसरा ही है। इसके लिए हमें 'डींग मारणों', 'मोटो हारो डींगरो' आदि प्रयोगों को देखना होगा, यहाँ डींग और डींगरो शब्द क्रमशः गप्प और बेडौल-अनपढ़ के अर्थ में आए

हैं। अतः इससे यह स्पष्ट है कि डिंगल शब्द पहले से वर्त्तमान है और डिंगल भाषा में जब अत्युक्ति और अतिरंजनापूर्ण साहित्य रचना होने लगी तब से उसी अर्थ के द्योतक 'डींग मारणों' मुहावरे का प्रयोग आरम्भ हुआ है। डींग या डिंगल शब्द इस मुहावरे से प्राचीन है, अतः डींग या डिंगल की व्युत्पत्ति का प्रश्न इससे हल नहीं होता। इसके लिए डॉ० मेनारिया ने आगे चल कर अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में डींग में ल प्रत्यय जोड़ कर डींगल बनाया और डिंगल का डींगल से सम्बन्ध जोड़ने के लिए इनमें आने वाले ह्रस्व इकार और दीर्घ ईकार की व्याख्या इस प्रकार की : "यथार्थतः डिंगल शब्द डींगल का परिवर्त्तित रूप है। आरंभ में जिस समय मारवाड़ी के लिए इस शब्द का प्रयोग होना शुरू हुआ उस समय यह डींगल ही बोला जाता था। बाद में धीरे-धीरे डिंगल हो गया, जिसका मूल कारण डा० ग्रियर्सन आदि अंग्रेज लेखक हैं। डिंगल शब्द से अपरिचित होने के कारण उन्होंने पिंगल और डिंगल में कोई भेद नहीं किया और अपने ग्रन्थों में दोनों की हिज्जः एक ही तरह से लिखी Dingal और Pingal। Pingal का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल करने आ रहे थे। इसलिये यह समझ कर कि डींगल भी इसी तरह बोला जाता होगा, उन्होंने उसे डिंगल बोलना शुरू कर दिया। राजस्थान के पढ़े लिखे लोगों ने इसका अनुकरण किया और अब यह इसी रूप में चल पड़ा है। परन्तु राजस्थान के वृद्ध राजपूत चारणों में जिनमें डिंगल साहित्य का विशेष आदर और प्रचार है, इसका शुद्ध रूप आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित है। वे लोग इसका उच्चारण डिंगल कभी नहीं करते"। देखिए, राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २०, २१।

हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं में आए दिन डा० मेनारिया के इस मत को प्रामाणिक मानकर कई प्रकार से परीक्षोपयोगी सामग्री प्रस्तुत होने लगी है और हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचकों में भी इसको काफी मान्यता प्राप्त होने लगी है। इसने तथा डा० मोनरिया के इसी प्रकार के अन्य भ्रान्तिपूर्ण मतों ने डिंगल तथा अन्य राजस्थानी साहित्य के विषय में एक गलत धारणा बना दी है। यहाँ केवल हम डिंगल के विषय में ही सीमित रह कर सोचना चाहते हैं। डा० मेनारिया के इस मत में जो ध्यान देने की बात है वह यह है कि उनके अनुसार डा० ग्रियर्सन आदि डिंगल के सही उच्चारण से अपरिचित थे और इसलिये उन्होंने डींगल को पिंगल के समान डिंगल लिख दिया, जिससे अन्य लोग भी डींगल को डिंगल लिखने और बोलने लगे। हमें आश्चर्य होता है कि ग्रियर्सन जैसे भारतीय भाषाओं के विद्वान् को इस छोटी सी बात का भी परिचय न हो और उनके लिखने के अनुसार अन्य लोगों ने उसे वैसा ही स्वीकार कर लिया हो! फिर, उसको रोमन लिपि में न लिख सकने में उनकी असमर्थता का आरोप कितना उपहासास्पद है, जब कि उनके सर्वे ग्रन्थों में तथा उनके अन्य निबन्धों में भारतीय लिपि को रोमन लिपि में अनुलेखन करने के लिए विशेष चिन्हों की व्यवस्था दी गई है! डा० मेनारिया ने राजस्थानी की उच्चारण प्रवृत्तियों का अध्ययन नहीं किया मालूम होता है। भाषा के उच्चारण में यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि वह कठिनता से सरलता की ओर अग्रसर होता है। उत्तर-मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में यह एक सामान्य प्रवृत्ति रही है कि अपनी पूर्ववर्त्ती भाषा के किसी शब्द के मध्यम संयुक्त व्यञ्जन का लोप होने पर उसका पूर्व वर्ण दीर्घ हो जाता है, जैसे दिट्ठउ–दीठो, अन्तडी–आंतडी, पिंजरु–पींजरो, इसी प्रकार डिंगल–डींगल। इन दोनों नियमों के अनुसार डिंगल से डींगल बनता है। न कि डींगल से डिंगल, आज भी केवल वृद्ध

राजपूत चारण ही नहीं सभी लोग जिन पर प्रान्तीय भाषाओं या बोलियों का प्रभाव है विद्या को वीद्या, विन्ध्याचल को वींझाचल, हिमालय को हीमालो बोलते हैं। संस्कृत तत्सम शब्द के आदि ह्रस्व इकार को दीर्घ बनाने की यह प्रवृत्ति विक्रम की १६वीं शताब्दी के पूर्व से चली आती है।

डा० मेनारिया के कथन में दूसरा दोष यह है कि वे मारवाड़ी के लिए इस शब्द का प्रयोग होना मानते हैं। इसका आधार क्या है? कब और क्यों यह प्रयोग शुरु हुआ? और, फिर जब मारवाड़ी डिंगल हो गई तो फिर मारवाड़ी का अब भी अस्तित्व क्यों वर्तनान है? आदि प्रश्न ऐसे हैं जो सहसा ही इस आक्षेप के साथ उठने लगते हैं, और फिर, मारवाड़ी से डिंगल अधिक सीमित है अथवा व्यापक? क्या सारे मारवाड़ी साहित्य को वे डिंगल कहना चाहते हैं? (देखिए उनका 'डिंगल में वीर रस' भूमिका) डा० मेनारिया ने स्वयं इस भाषा के प्रयोग को कुछ जातियों से ही सम्बन्धित माना है और ये जातियाँ जब सारे राजस्थान में फैली हुई हैं तो फिर वह मारवाड़ी कैसे हो सकती है? न तो सारे राजस्थानी साहित्य को ही मारवाड़ी कहा जा सकता है और न सारे डिंगल साहित्य को ही।

डिंगल राजस्थान की कुछ विशेष जातियों की भाषा-शैली मात्र है, वह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। एक स्वतन्त्र भाषा के लिए यह आवश्यक है कि उसके रूपों का बोलचाल में प्रयोग हो। इस दृष्टि से डिंगल में कोई स्वतन्त्र रूप-योजना अथवा वाक्य-विन्यास नहीं देख पड़ता। उसकी रूप-योजना और वाक्य-विन्यास का आधार राजस्थानी बोलियों में रहा है। अतः डिंगल इन बोलियों से स्वतन्त्र नहीं है और न कोई स्वतन्त्र बोली ही है, इसका सम्बन्ध सदा से चारण, भाट, राव, ढाढी मोतीसर आदि जातियों से ही रहा है जिनका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट और पीछे से डा० मेनारिया ने अपने ग्रन्थ में किया है। ये जातियाँ सारे राजस्थान के राज-परिवारों से सम्बन्धित रहती आई हैं, इनका कार्य विरुद और गाथाएँ रचना और गाना है। इन्हीं के गीतों और उनकी भाषा की परम्परा काव्य के रूप में विकसित हुई और डिंगल साहित्य और भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राज दरबार से सम्बन्धित और प्रभावित अन्य लोगों ने भी इस शैली में रचना की है। परन्तु प्रधान रूप से डिंगल का सम्बन्ध इन्हीं जातियों से था। इस कथन के प्रमाण में डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति को खोजना होगा, जो इस प्रकार है :—

डिंगल शब्द गढ़न्त नहीं है, जैसा डा० मेनारिया मानते हैं। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति ऊपर दिए गए मुहावरे "मोटो हारो डींगरो" से स्पष्ट हो जाती है, डींगरो यहाँ किसी व्यक्ति विशेष के लिए आया है। एक लाक्षणिक प्रयोग है, जिसके लक्षण का आरोप किसी व्यक्ति पर किया गया है। यह 'डींगरो' क्या है? संस्कृत कोषों में एक डिंगर शब्द मिलता है जिसका अर्थ मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में पृष्ठ ४३० पर अमर सिंह, हलायुध, हेमचन्द्र आदि के कोशों के आधार पर दास, सेवक, गाने—बजाने वाला आदि दिया है। अतः डिंगर शब्द इन्हीं जातियों—चारण, भाट, राव, मोतीसर, ढाढी आदि से सम्बन्ध रखता है। डिंगर का अन्त्य 'र्' 'ल' मूर्धन्य 'ल्' के में परिवर्त्तित हो गया है। सम्भवतः डिंगर का भी तत्सम रूप डिंकर रहा हो। संस्कृत किंकर समानार्थी शब्द है। और, डिंगर किंकर का 'प्रतिध्वनि-शब्द' है, सम्भव है यह किंकर का विपर्यार्थी भी रहा हो, वैदिक में वणिक का विपर्यार्थी पणिक मिलता है, दोनों का अर्थ व्यापारी है, परन्तु दोनों की व्यापार क्रिया में अन्तर है, इसी

प्रकार किंकर और डिंकर का अर्थ समझना चाहिए। मुस्लिम युग तक की ख्यातों और बातों में चारणों के गाने बजाने सम्बन्धी कार्य का उल्लेख मिलता है।

४. *डिंगल भाषा और साहित्य की विशेषताएँ*

१. भाषा सम्बन्धी :—

क। डिंगल भाषा की प्रमुख विशेषता उसके शब्द चयन की है। इसमें द्वित्तवर्ण और सानुनासिकता ही प्रधान है। द्वित्तवर्ण दो प्रकार के मिलते हैं—एक तो प्राकृत और अपभ्रंश से आए हुए रूपों के आधार पर स्वीकृत, जैसे-मग्ग ∠ मार्ग, खग्ग ∠ खड्ग आदि और दूसरे अनुकरण पर बनाए हुए जैसे सहज्जि, बहक्कि आदि। सानुनासिकता में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का प्रयोग ही होता है, पर उच्चारण में ञ् का उच्चारण नहीं होता।

ख। युद्ध वर्णन में दृश्य का साक्षात्कार कराने के लिए सानुप्रासता, सानुनासिकता और ध्वनि प्रतीकों का प्रयोग, जैसे, सानुप्रासता – चलचलिय, मलमलिय, दलदलिय आदि। सानुनासिकता—चमंकि, टमंकि आदि और ध्वनि प्रतीक—ढमढप्रइ ढोल नीसाण ... आदि।

ग। भाषा में कर्कशता लाने के लिए टवर्गीय ध्वनियों का प्रयोग भी होता है।

घ। व्याकरण की दृष्टि से सर्वनामों में प्राचीन अम्ह, अम्हा, अम्हीणों, इय, इणि, इसउ, इसडउ आदि सर्वनामों का प्रयोग। विभक्तियों में ह, हंदा, याहं, तणाहं, चो, आदि का प्रयोग। क्रिया में इय प्रत्यय प्रधान क्रियाओं का प्रयोग, जैसे, चलिय, चुक्किय, आदि।

च। काव्य में पादपूर्त्ति के लिए स और सु का विशेषण के रूप में प्रयोग।

२. साहित्य सम्बन्धी :—

क। ऐसे काव्य विशेषकर नर काव्य ही होते हैं जिसमें कवि अपने आश्रयदाता से काव्य रचना की प्रेरणा अथवा आज्ञा प्राप्त करता है।

ख। इन काव्यों में कथात्मक होने पर कथा का पात्र कवि का कोई आश्रयदाता अथवा अन्य कोई ऐतिहासिक पुरुष होता है। इनमें एक ही पात्र की अथवा उसकी वंश परंपराओं से संबन्धित सभी ऐतिहासिक अर्ध-ऐतिहासिक, अनैतिहासिक तथा किंवदन्तीमूलक घटनाओं और तत्संबन्धी राज्य के इतिहास का समावेश होता है। छोटी रचनाओं, गीतों आदि में भी विरुद प्रवृत्ति ही देखी जाती है।

ग। इन काव्यों में पात्रों का चुनाव और रस की प्रधानता आश्रयदाता की प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है। ऐसे काव्यों में बहुधा वीर या शृंगार रस ही अधिक मिलता है, किसी रचना के महाकाव्य होने पर शास्त्रीय पद्धति के अनुकूल सभी रसों का समावेश उसमें किया जाता है। परन्तु प्रधान रूप से एक ही रस रहता है। ऐसे महाकाव्यों में षड्भाषा के प्रयोग का आदर्श मान्य है।

घ। छन्दों के प्रयोग के लिए डिंगल के अपने छन्द भी हैं, पर बड़े काव्यों या महाकाव्यों में छन्दों की विविधता देखी जाती है,

च। ऐसे काव्यों में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों का ही प्रयोग अधिक होता है।

पूर्वी हिन्दी के लोकगीतों में करुण रस

श्री भगवती प्रसाद शुक्ल, एम० ए०, दतिया, विंध्यप्रदेश

पूर्वी हिन्दी की समस्त बोलियों—बघेली, अवधी तथा छत्तीसगढ़ी के लोकगीतों में करुणा की भावना सर्वत्र मिलती है। हर्ष और उल्लास, प्रसन्नता और उत्साह के समय भी यहाँ करुण गीत गाए जाते हैं। पुत्र जन्म तथा विवाह प्रसन्नता सूचक संस्कार हैं, पर इन दोनों अवसरों के भी करुण गीत मिलते हैं। अतः इसके मूल मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

इन लोकगीतों में करुण-रस की व्यापकता का बोध कराने के लिए इस तरह का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) संस्कारों के गीतों में करुणरस

(क) सोहर (ख) दादर (ग) विवाह तथा (घ) सोहाग

(२) विशेष अवसरों में गाए जाने वाले गीतों में करुणा की भावना

(क) कजली (ख) हिंदुली

(३) आदि वासियों के गीतों में करुणा की भावना

(अ) करमा (आ) शैला (इ) नैनजुगानी (ई) दादर (उ) सुवा

(४) विविध गीतों में करुण रस

(क) भिखमंगों के गीत (ख) भगत

इस वर्गीकरण से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :—

ये गीत प्रसन्नता के अवसरों पर गाए जाते हैं, जैसे, पुत्र जन्म तथा विवाह, दुःखद तथा मार्मिक अवसरों पर गाए जाते हैं, जैसे लड़की की विदा के गीत कजली तथा हिंदुली और आदि-वासियों तथा भिखमंगों के द्वारा गाए जाते हैं। किंतु इनके गीतों में असाधारण अवसरों यथा अकाल, भुखमरी तथा व्याधि पर ही करुण—भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रसन्नता के अवसर पर करुणा से गीले गीत गाने के विशेष कारण हैं। पहले 'सोहर' को ही लें। 'सोहर' उन गीतों को कहते हैं जो पुत्र जन्म पर गाए जाते हैं। पुत्र जन्म के पूर्व करुणा के कई अवसर आते हैं, जिनका बार बार स्मरण इन गीतों में मिलता है :—

(१) वंध्या की विकलता; (२) पुत्र कामना की विकल अर्चना; तथा (३) प्रसव-पीड़ा

वंध्या की विकलता के गीतों में करुणा की भावना को जगाने के लिए उहीपन किस प्रकार दिए गए हैं, देखिए—

एक फूल फूलइ अजुधिया, दुसर मथुरा हो
अउ तीजे फूल फूलइ हो कासी, चउथ मोरे अँचलउ हो।
अँचला बिछाइ पइँया परितेउँ, अरज कछु करतिउँ हो
कोहू का दिहे राम दुइ चार, कोहू का दस पाँच हो।
कोहू का राखे ललचाइत, एक ललन बिन हो।
अमवा न फराहइ गउद बन, अमिली झपकि बन हो
रामा तिरिया का राखे ललचाइ, त एक ललन बिनु हो।

एक नारी देखती है कि फूल खिलते हैं, आम में फल लगे हैं। इमली झपक के फल चुकी है, सभी नारियों के दस पाँच पुत्र हैं? फिर भगवान् के राज्य में यह अन्धेर कैसा? वह निपुत्री क्यों? यह गीत बघेली अवधी तथा छत्तीसगढ़ी तीनों में समान रूप से मिलता है।

पुत्र कामना की विकल अर्चना के गीतों में वह गीत विशेष प्रसिद्ध है जिसमें एक स्त्री गंगा के किनारे-किनारे आँसू बहाती फिर रही है। उसने गंगा से कहा—एक लहर ला दो, मैं प्राण विसर्जन करूँगी। मुझे सास ससुर का दुख नहीं है। मेरा नैहर दूर नहीं है। मेरे प्रियतम भी परदेश में नहीं हैं, पर कोख सूनी है। इसी से मैं मरना चाहती हूँ। जीना नहीं। गंगा ने उसे पुत्र देने का वचन दिया। अवधी में यह गीत यहीं पर समाप्त हो जाता है पर बघेली में पुत्र प्राप्ति भी दिखाई गई है।

प्रसव-पीड़ा के अनेक 'करुण गीत' बघेली में मिलते हैं। एक गीत में, गोरे मुख की नारी जो देखने में सुन्दर लग रही थी, रंगमहल में विकल होकर कराह रही है। पतिदेव आए पत्नी ने कहा—

जो तुम रहिबा भमरबा, मधुर मुसकान मा हो
फिरि फिरि दया हो सुपरिया, त बिरिया लगाया हो।
जियरा परा हइ मोरउ गाढ़े, बेगाने होइ के बइठे हो।

पति ने कहा—छतिया त होती छाइ चढ़उतेउँ मरद बल बउतेउँ हो
विधि केरा बाँधी गठरिया, करइ कर छूटइ हो।

पुत्र प्राप्ति के बाद भी कुछ दुःखद दृश्य सामने आ जाते हैं या आ सकते हैं, जैसे, पुत्र वियोग का दृश्य तथा पुत्र या पिता की मृत्यु की आशंका या मृत्यु। पुत्र-वियोग पर अनेक गीत मिलते हैं। राम के बन-गमन पर कौशल्या के विविध चित्र इन गीतों में मिलेंगे। एक गीत में कौशल्या कहती है—

चौक के बिना आँगन सूना है, कलस के बिना चौक सूनी है और राम के बिना मेरी दहलान सूनी है।

चार कोने के सुन्दर महल में चारों ओर दीपक जल रहे हैं, पर एक राम के बिना मुझे सारा संसार अँधेरा दिखाई देता है।

यहाँ खाँड़ और चिरौंजी का भोजन तथा दूध का आचमन है, पर एक राम के बिना मुझे उपवास ही है। उसके बिना मुझसे खाया नहीं जाता।

पान का बीरा लगा है, पर राम नहीं, मैं कैसे खा सकती हूँ। सेज-सुपेती का बिस्तर लगा है, पर मेरी समझ में वह तुषार है, क्योंकि राम नहीं हैं।

इस तरह के अनेक लोक गीत पूर्वी हिन्दी में मिलते हैं।

पति की मृत्यु के वर्णन से संयुक्त सोहर गीत भी मिलते हैं। इस सम्बन्ध में 'हिरणी' का गीत विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

विवाह के समय करुण गीत कम गाए जाते हैं। दो ही ऐसे अवसर हैं। जिनमें इन गीतों के गाने का प्रचलन है—

(१) सोहाग देते समय तथा (२) विदा के समय

सोहाग के गीत करुण हैं पर अन्त में वे आंसू से गीले गीत बदल जाते हैं। उनमें प्रसन्नता की दीन आभा आ जाती है। एक गीत में बिकल बहन कामरू के देश सोहाग की खोज में गई पर जैसे ही उस पेड़ के समीप पहुँची, सोहाग समाप्त हो गया। बाँटने वाले ने कहा—"यदि पहले आती तो सिंदूर अवश्य मिल जाता। अब क्या हो सकता है?" वह मुरझा कर गिर पड़ी। उधर से उसका भाई आया। उसने मूर्छित बहन को उठा लिया, घर लाया और पत्नी से कहा—

अपनउ सोहाग बहिनिउ दइ राखा,
बहिनिउ सोहगैली होइ के जाय।
राजा के सोहाग मा।

विदा के गीतों में करुणा की भावना स्वाभाविक है। जिस बेटी को दूध पिला-पिला कर बड़ा किया, पाला-पोसा, वही आज पराए घर पराए की हो कर जा रही है, फिर माँ के आँसू कैसे रुक सकते हैं?

उपर्युक्त गीत हर्ष सूचक संस्कारों में गाए जाते हैं, किन्तु दुःखद दृश्यों और अवसरों की मार्मिक याद गीतों को गीला बना देती है।

कुछ ऐसे गीत हैं जिनका मूल आधार ही करुणा है। इनमें कजली विशेष महत्त्व-पूर्ण है। कजली में करुण रस का अक्षय भण्डार है। आदि से अन्त तक ये गीत मार्मिक होते हैं। कजली गीत बरसात में ही गाए जाते हैं; विशेष रूप से चार अवसरों में इनके गाने का प्रचलन है—

(१) श्रावण भादों में रोपा लगाते समय,
(२) बरसात में चक्की पीसते समय,
(३) झूला झूलते समय, तथा
(४) देढ़िया के समय।

कजली के इन सभी गीतों के मूल में भाई बहन का प्रेम है। यह प्रेम उस समय करुण हो उठता है, जब बरसात की रिमझिम बूँदों के साथ आने वाले रक्षा-बन्धन के समय बहन भाई से दूर रहती है। बहन ससुराल में है और भाई परदेश में। यह करुणा और भी अधिक दयनीय हो उठती है, जिस समय ससुराल में बहन को सब तरह के कष्ट दिए जाते हैं। इन कष्टों का दुःखद और मार्मिक विवरण इन गीतों में मिलता है। एक कजली में बहन

तड़प तड़प कर कह रही है—"एक पैला गेहूँ और नौ अतिथ हैं, उतने में ही कुत्ते और बिल्ली हैं, उसमें भी ननद के लिए कलेवा रखना है ! क्या करें ?"

सभी आते हैं, चले जाते हैं। सौत के भाई रोज आते हैं, पर हमारे भाई कभी न आए। इतने में घोड़ा हिहनाया, समझ गई कि उसका भाई आ गया पर वह भेंट करने कैसे निकले !

सास से कहा—'साड़ी दे दो, भाई से भेंट कर लूँ। उसने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। जेठानी से मांगा, उसने भी दुत्कार दिया। ननद से कहा तो वह बोली—"जा, अपने भाई से पगड़ी माँग ले, तब भेंट कर।"

भाई ने यह सुन लिया और चुनरी दे दी। बहन भेंट करने के लिए भाई के पास गई तो उसके नेत्रों से गंगा की बाढ़ उमड़ चली और भाई के नेत्रों से जमुना बह चली।

इस रोती-कलपती बहन को भाई घर ले गया।

कजली में इस भाव के भी करुण गीत मिलते हैं कि बहन घर में ही है, ससुराल नहीं गई। उसे भाभी तंग करती है। बाप की दुलारी, भैया की प्रिय बहन कहती है—

"भाभी फूल सदा नहीं खिलते, न हम सदा बच्ची रहेंगी, न सदा खेलने जाएँगी। हम बन की चिड़ियाँ हैं, आज बाप और भाई के राज में हैं, कल बिदेसिया के साथ जाने कहाँ उड़ जाएँगी। अतः आँख न दिखाओ।" वही हुआ। वह दूसरे दिन पराई हो गई। लंका के छोर में उसका विवाह हुआ। बिसूर-बिसूर कर तड़प-तड़प कर वह रास्ता काटने लगी।

अब हम आदिवासियों के लोकगीतों में 'करुण रस' की भावना पर विचार करेंगे। आदिवासियों ने करुणा की अभिव्यक्ति बहुत कम की है। वे विपत्ति में भी गा बजा कर समय काट लेना जानते हैं। जब भीषण अकाल की विभीषिका सामने आती है, वे भूख से तड़प उठते हैं, तभी दयनीय कल्पना मन में उठती है।

संवत् ५३ के अकाल में स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि एक भीलिनी ने अनुभव किया—

नाहीं मिलइ चार चाउर, नाहीं मिलइ रे कोदई
नाहीं मिलइ महुआ भाजी, नाहीं मिलइ दाऊसरई।
रानी बेंचइ नाक निथुनिया रे,
तिरपन के साल माँ।

आदिवासियों के लोक गीतों में भी कुछ विरह-वेदना के गीत मिल जाते हैं जिनमें उनकी निश्छल व्यथा स्पष्टतः सामने आती है।

भिखमंगों की करुण भावना के गीतों में याचना की दीनता अधिक रहती है। कहीं-कहीं आशीर्वादात्मक भावना प्रबल हो उठती है, जिससे करुणा का संचार कम हो पाता है।

अभी तक हमने करुण भावना की अभिव्यक्ति के अलग अलग कारणों पर विचार किया। समष्टि रूप से हम कह सकते हैं कि दो प्रमुख कारणों ने ही पूर्वी हिन्दी के लोक गीतों को करुण भावना की अभिव्यक्ति के लिए विवश किया है—

(१) बहिरंग तथा (२) अंतरंग

इस अभिव्यक्ति के बहिरंग कारण तीन हैं—

(१) पूर्वी हिन्दी भाषी क्षेत्र में राजाओं का प्रभुत्व रहा है जो ग्राम-वधुओं के अनिंद्य सौंदर्य को देख कर लुभा जाते थे तथा उन्हें किसी न किसी प्रकार पकड़ मँगाते थे। वे सम्मान रक्षा के लिए प्राण दे देतीं या कलपती पड़ी रहती थीं। विवश नारियों की विकल आहें अनेक गीतों में मिलती हैं।

(२) इस क्षेत्र में अनेक बार अकाल तथा भुखमरी के दृश्य आए हैं तथा आते रहते हैं। यही कारण है कि अकाल से व्यथित प्राणियों की पीड़ा और पुकार के अनेक गीत यहाँ मिलते हैं।

(३) बाह्य घटनाओं—पुत्र का वियोग या मृत्यु, पति या अन्य संबन्धियों का वियोग या मृत्यु के दृश्य भी गीतों में करुण अभिव्यक्ति के कारण हुए हैं।

अतंरग कारणों में दो का उल्लेख आवश्यक है—

(१) पुत्र न होने पर सांसारिक विगर्हणा के कारण मानसिक वेदना का अनुभव तथा तत्संबंधी भावना की निश्छल अभिव्यक्ति। वंध्या की विगर्हणा के गीत पूर्वी हिंदी में भरे पड़े हैं। पश्चिमी हिन्दी के लोक गीतों में इस तरह की भावनाएँ कम मिलती हैं।

(२) उद्योग के अभाव, अकालों की पुनरावृत्ति, राजाओं के अत्याचार और दयनीय तथा शोकप्रद घटनाओं की आवृत्ति के कारण यहाँ का मानसिक स्तर करुण प्रधान हो गया है। उत्साह आता है, पर क्षण भर के लिए। साहस का वह दुर्निवार स्रोत यहाँ नहीं है कि विपत्ति में भी मनुष्य मुस्करा उठे।

अतः पूर्वी हिन्दी की संस्कृति करुण है, सामाजिक जीवन करुण रस से गीला है, करुण लोक गीत उसी की अभिव्यक्ति हैं।

करुण रस और आनन्दानुभूति

प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए०, सेन्ट एंड्रूज कालेज, गोरखपुर

कतिपय आचार्यों ने करुण को सर्व प्रधान रस स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने करुण को विप्रलम्भ से भी बढ़ कर बताया है। इसमें मन क्रमशः माधुर्य तथा आर्द्रता की अधिकाधिक संप्राप्ति करता है।[1] तथापि सभी विद्वान् करुण से होने वाले आस्वाद के सम्बन्ध में भिन्न तर्कों का सहारा लेते हुए विमति प्रकट करते हैं। कुछ आचार्य करुण से भी आनन्द की ही अनुभूति स्वीकार करते हैं और कुछ उसे रौद्र, भयानक तथा वीभत्स के साथ दुःखात्मक मानते हैं। दुःखात्मक मानने वाले लेखकों में नाट्य-दर्पण के लेखक रामचन्द्र गुणचन्द्र प्रमुख हैं। करुण के सम्बन्ध में तो नहीं, किन्तु विप्रलम्भ शृंगार के सम्बन्ध में 'संगीत सुधाकर' के लेखक श्री हरिपालदेव[2] तथा 'रस कलिका' के रचयिता रुद्रभट्ट का भी यही मत है कि यह दुःखात्मक है, सुखात्मक नहीं।[3] भोजराज ने भी 'रसा हि सुख-दुःखारूपा' पंक्ति के द्वारा इसी पक्ष का अनुमोदन किया है। 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में आचार्य वामन ने गुण-विचार के अन्तर्गत करुण-प्रसंग में आह्लाद तथा दुःख दोनों की समकालिक अनुभूति को स्वीकार किया है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने एक स्थल पर रसों को दोनों प्रकार का और दूसरे स्थल पर उन्हें केवल आनन्दस्वरूप माना है। उनका मत है कि सत्व उद्रेक-शून्य होता है और क्रोध में रजोगुण तथा शोक में तमोगुण की प्रबलता रहती है। रज तथा तम के संस्पर्श के कारण उस सत्व को विशुद्ध तथा प्रबल नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि क्रोधमूलक रौद्र तथा शोकमूलक करुण रस में विशुद्ध आनन्द नहीं होता। रज तथा तम की मिश्रित स्थिति के अनुसार आनन्द में भी तारतम्य रहता है और सब रसों में एक-सा आनन्दानुभव नहीं होता।[4]

---

१. शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥ ध्व० द्वि० उ०, ८।

२. नम्बर आव रसज्, राघवन, पृ० १४४-६।

३. अ—आनन्दात्मकत्वं रतेः कैश्चिदुक्तम्, तच्चिन्त्यम्। विप्रयोगादेः आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात्।—र०क०, पृ० ७।
ब—करुणामया नामप्युपादेयत्वं सामाजिकानां, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते। अतएव तदुभय जनकत्वम्।.....वही, पृ० ५१-५२।

४. शृं० प्र०, द्वि० भा०, पृ० ३६६।

५. द्रवीभावस्य च सत्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासंभवात् सत्वगुणस्य सुखरुपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशाभिश्रणात् तारतम्यं अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवाः।.....भगवद्भक्ति रसायन, पृ० २२।

रामचन्द्र गुणचन्द्र का विचार है कि शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत् तथा शान्त रसों को सुखात्मक तथा करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक को दुःखात्मक मानना ठीक होगा। इन दुःखात्मक रसों के द्वारा हृदय उद्विग्न हो उठता है। उद्विग्नता को सुख की संज्ञा नहीं दी जा सकती; अतः इन रसों को सुखात्मक नहीं कहा जा सकता। तथापि, सामाजिक की इस ओर इसलिए प्रवृत्ति रहती है कि कवि अपनी शक्ति से वर्णन में चमत्कार उत्पन्न कर देता है तथा नट अपने अभिनय-कौशल के सहारे उस वर्णन को और भी चमत्कारक बनाता है। रसों की द्विविधता का एक प्रमाण यह भी है कि नाट्य लोक-वृत्त का अनुकरण है और लोक सुख-दुःखात्मक है। अतएव उसका अनुकरण करने वाला नाट्य भी द्विविध प्रभावकारी हुए बिना नहीं रह सकता। इन्हें सुखात्मक मान लेने में यह भी एक कठिनाई है कि तब अनुकरण सफल न होगा, उससे अभीष्ट प्रभाव न पड़ सकेगा। वस्तुतः होता यह है कि दुःखानुभव के पश्चात् सुखानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सुखद रूप धारण कर लेती है। तीक्ष्ण आस्वाद भी पानक-रस में सुखकारी ही लगता है। अतएव सुख-दुःख मिश्रित काव्य में दुःख की अनुभूति के अनन्तर सुख की हल्की रेखा भी अत्यधिक सुखकर प्रतीत होने लगती है।[६] दुःख तो दुःख ही रहता है।

इसके विपरीत आनन्द के पक्षधरों ने काव्य के विभावादि की अलौकिकता का सहारा लिया और उसे संसार-भिन्न बता कर दुःख से विरहित माना। साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुसार विशेष सम्बन्धाभाव के कारण करुण से भी आनन्द की ही सिद्धि मानी गई। स्वयं मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धान्त का पल्ला पकड़ कर यह स्वीकार किया कि यद्यपि लोकानुभूत भाव सुख-दुःख-मोहात्मक होते हैं, तथापि काव्य में प्रयुक्त होने पर वे ही पाठक अथवा प्रेक्षक को आनन्दात्मक प्रतीत होते हैं। सत्व आदि के तारतम्य के आधार पर लौकिक व्यवहार को त्रिविध मान कर भी उन्होंने काव्यगत रस को बोद्धृनिष्ठा के अनुसार सुखात्मक ही मान लिया है।[७]

'साहित्य रत्नाकर' के लेखक धर्मसूरि और आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रसंग में विप्रलम्भ तथा संयोग शृंगार की दुःखात्मक स्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करके इस तर्क का सहारा लिया है कि यदि विप्रलम्भ से दुःख में भी सुख का ही अनुभव होना स्वीकार्य है तो करुण से भी सुख की संप्राप्ति क्यों न मान ली जाय?[८] अथवा संयोग में भी तो नख-क्षतादि से कष्ट ही होता है, किन्तु जिस प्रकार उसके कारण उससे विरत न हो कर उसमें सुख का ही अनुभव किया जाता है, उसी प्रकार करुण से भी सुख की ही प्राप्ति मानने में क्या हानि है?[९] धर्मसूरि का यह कथन पर्याप्त युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रेक्षक विप्र-

६. नाट्यदर्पण, पृ० १५९।

७. बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदःखादि हेतवः।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैक हेतवः॥.....भ० भ० रा० पृ० ३, ५।

८. अथ यदि वेद्यान्तरविगलनस्यानन्दरूपतायां विवादः तत्कथं शृंगारस्यापि रसरूपता समर्थनम्। तस्य विप्रलम्भात्मकप्रभेदे कलयाप्यानन्दाविर्भावस्याभावात्।...तर्हि तस्माद्विभावादि महिम्ना वेद्यान्तरस्य वारणे चेत् निरतिशय पारवश्य लक्षणस्यानंद प्रादुर्भावस्य विप्रलम्भे सत्वांगीकारेणैव रसत्वस्य प्रसाधनीयत्वात्—सा० र० पृ० ३४०–१।

लम्भ के दुःखात्मक वर्णन से भी आनंद का ही अनुभव करता है, उसी प्रकार करुण से भी चित्त की द्रवीभूत स्थिति आनन्द का ही सर्जन करती है। किन्तु हमें इसमें एक त्रुटि दिखाई देती है। वियोग की अवस्था में प्रेमी के हृदय का राग और भी आवेग से प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार भक्ति में भी भक्त के हृदय की आकुल पुकार में श्रद्धा, विश्वास और अनुराग के बीज रहते हैं। यही प्रेम की उत्कटता सहृदय के हृदय को भी प्रभावित करती है। इसके विपरीत करुण में शोक ही प्रधान है, दूसरे शब्दों में निराशा, हतोत्साहपूर्णता तथा दुःख ही वहाँ देख पड़ता है। अतः शोकमूलक करुण के सम्बन्ध में वही बात नहीं कही जा सकती।

विश्वनाथ ने उक्त तर्क के अतिरिक्त सचेतस व्यक्तियों के अनुभव की दुहाई भी दी है और यह भी कहा है की अश्रुपातादि हृदय की द्रवणशीलता के परिणामस्वरूप होते हैं। द्रवणशीलता आनन्द में भी पाई जाती है अतएव इसे करुण की दुःखात्मकता का प्रमाण नहीं कहा जा सकता।[१०]

भोजराज ने विश्वनाथ के सुरत-सम्बन्धी तर्क के समान ही इस बात का समर्थन किया है कि प्रिय वस्तु दुःखद होने पर भी सुखद ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार काव्यगत विलक्षण करुण स्थिति भी प्रेय होने के कारण सुखात्मक ही है।[११]

विश्वनाथ के अश्रुपात सम्बन्धी तर्क की असंगति दिखाते हुए श्री द० के० केलकर 'काव्यालोचन' में लिखते हैं कि यदि सुख में भी अश्रुपात होता है तो रति-विषयक दृश्यों में भी अश्रुपात क्यों नहीं होता?[१२] इस प्रकार का तर्क उपस्थित करते हुए श्री केलकर यह भूल गए हैं कि अश्रुपात को विश्वनाथ ने सभी रसों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध नहीं माना है। जिस प्रकार अनेक संचारी एकाधिक रसों में प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार अश्रुपात भी हर्ष तथा दुःख दोनों में प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु यह आवश्यकता नहीं है कि वह अनिवार्यतः रहे ही। विश्वनाथ ने केवल एक संभावना का संकेत किया है, अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं किया। फिर भी हम इसे अपर्याप्त कारण मान सकते हैं, अनिश्चय की अवस्था मान कर शुक्ल जी के शब्दों में इसे 'बात टालना' कह सकते हैं।

श्री आगरकर तथा प्रो० जोग भी दुःख-पर्यवसायी नाटकों की दुःखात्मकता में ही विश्वास रखते हैं। आगरकर महोदय का विचार है कि कल्पनाशक्ति-जनित काव्य-वस्तु अपने स्वभाव के अनुकूल संवेदन उत्पन्न करती है। अतः दुःख-पर्यवसायी काव्य के पाठ के समय थोड़ी खिन्नता होती ही है और सुख-पर्यवसायी से सुख होता है।[१३] प्रो० जोग मिश्रित अनुभूति का पक्ष लेते हुए कहते हैं कि ऐसे स्थलों पर दुःख की अनुभूति भले ही क्षीण मानी जाय, दुःख का पूर्ण अभाव नहीं होता। अनुभव-तीव्रता में अन्तर संभव है, उसके स्वरूप में नहीं। कवि-कौशल, भाषा-विन्यास, प्रसंग-संगठन तथा नवीन संयोजन आदि के कारण अनुकूल

९–१०. साहित्य दर्पण, ३।४-८

११. दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितं नखदूयमानयो : विवर्धतेस्तनयोः रोमांचः। मृ० प्र०, पृ० ३५३।

१२. काव्यालोचन, पृ०१६९।

१३. काव्यालोचन, पृ० १६९।

भावोत्पत्ति हो कर सम्मिश्रित परिणाम ही दिखाई देता है।[१४] स्पष्टतः दोनों मत मिश्रित-अनुभूति को स्वीकार करते हैं, भले ही वह अनुभूति अपेक्षाकृत क्षीण हो। दूसरे रूप में, सुख की प्रधानता इन्हें अस्वीकार्य नहीं है।

श्री दा० ना० आपटे ने नितान्त नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे मन के अणु तथा विभु नामक दो भेद स्वीकार करते हैं। अणु सूक्ष्म तथा कारणरूप है और विभु व्यापक और कार्यरूप। यह प्रकार-भेद परमेश्वर के मूल तथा व्यापक प्रकार-भेद के सदृश है। जिस प्रकार वह बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता हुआ दुःखानुभव करता है, उसी प्रकार हम भी बाह्य मन से दुखी जगत् का दुःखानुभव करते हैं, किन्तु अन्तर्मन नित्य आनन्द का ही अनुभव करता है। अतः शोकमूलक वांग्मय का पाठ करते समय बाह्य मन को दुःख होता है और अन्तर्मन कवि-कृति-जनित आनन्द का अनुभव करता रहता है।[१५]

आपटे महोदय के इस प्रतिपादन में कई त्रुटियाँ हैं। मनोविज्ञान के विचार से अन्तर्मन नित्य आनन्दकारक नहीं माना जाता। उसमें सभी सहज प्रवृत्तियों और तत्सम्बन्धी सुख-दुःखात्मक भावनाओं का समावेश रहता है। दूसरे, अणु-विभु मन तथा मानस-शास्त्र के अन्तर्मन-बाह्यमन की व्याप्ति में भी अन्तर है। अन्तर्मन अणु के नहीं विभु के सदृश है। तीसरी बात यह, कि भारतीय दृष्टि रस को मन से नहीं आत्मा से सम्बन्धित मानती है, अतः उसी दृष्टि से उसकी समीक्षा करना उचित है।

प्रो० क्षीरसागर का समर्थन करते हुए श्री बेडेकर ने कहा है कि करुण-रसपूर्ण नाटक से भयानक की प्रतीति होती है और उस भयानक रस में भी अद्भुत का अंश मिला रहता है।[१६] अर्थात्, बेडेकर के विचार से वह स्थिति मिश्र-अनुभूति की स्थिति है। दूसरी ओर सुखात्मकता का निरूपण करते हुए वामन मल्हार जोशी करुण प्रसंगों की उदात्तता, पवित्रता तथा ध्येय की उच्चता को आनन्द का कारण मानते हैं। श्री द० के० केलकर ने भी करुण प्रसंगों के तीन भेदों का उल्लेख किया है। उनका मत है कि करुण के क्रमशः नियति कृत, व्यक्तिगत एवं आदर्शात्मक, तीन कारण हो सकते हैं। नियति कृत नियमों में राम-वनवास, द्रौपदी-वस्त्र-हरण आदि को गिनाया जा सकता है। व्यक्तिगत के अन्तर्गत पाण्डवों का संकट आएगा और ध्येयवादी अथवा आदर्शवादी के अन्तर्गत राम का लोकाराधन और सीता-त्याग का प्रसंग रखा जा सकता है। इन तीनों में से अन्तिम से निश्चय ही आनन्द की सिद्धि मानी जा सकती है। राम का ध्येयवाद, उनके चरित्र की उदात्तता, मन की पवित्रता सभी आनन्द-सर्जन में सहायक हैं।[१७]

हमारा विचार है कि यदि ध्येयवाद के कारण आनन्दानुभूति में विश्वास किया जा सकता है, तो अन्य उदाहरणों में भी नायक का संघर्ष, कष्ट-सहन आदि उसके व्यवहार को ग्राह्य और सहानुभूति-उत्पादक बना देते हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत कारणों से संकट में फंस कर भी कोई पश्चात्ताप से दग्ध हो और शक्ति के साथ आए हुए संकटों का सामना करे, तो वह

१४. अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० ६८।
१५. सौंदर्य शोध आणि आनंद बोध पृ० २१८।
१६. आलोचना, अंक ६, पृ० ४६।
१७. काव्यालोचन पृ० १७४-८।

भी हमें उतना ही प्रभावित करेगा। सभी उदात्त होने के कारण एक से प्रभावी हैं। इस दृष्टि से उक्त तर्क की संगति स्वीकार्य नहीं रह जाती।

डा० वाटवे ने आनन्द सिद्धान्त का विचार व्यक्ति-भेद के आधार पर किया है। उनका मत है कि जिन वाचकों को शोकान्त नाटकों में सौंदर्य नहीं दीखता तथा उन नाटकों में प्रदर्शित की गई सत्यता को ग्रहण करने की जिनकी बुद्धि में सामर्थ्य नहीं होती, उन्हें शोकान्त से आनन्द नहीं आता। करुण काव्यों में सौंदर्य तथा तत्त्व-ज्ञान, दोनों का उत्तम ज्ञान रखने की पात्रता होते हुए भी, जिनका हृदय इतना करुण है कि वैसे दृश्य को देखने, पढ़ने या सुनने की बात ही उन्हें विचलित नहीं कर देती, वे उसे देखने भी नहीं जाते। इसी प्रकार किसी को भीषणता या दुःखादि से ही शान्ति प्राप्त होती है, कुछ निर्विकार भाव से शत्रु-वध, फांसी आदि देखते हैं। पराक्रमी, आक्रामक तथा जयनशील इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। जिसे जगत् का व्यापक ज्ञान है, खोटा आशावाद, ईश्वर की दयालुता की भ्रामक कल्पना, मानव की सामर्थ्य का भ्रम जिसे नहीं है, जो अनमिल घटनाओं में भी सौंदर्य देखता है, वही करुण का भी आनन्द ले सकता है। किन्तु, ऐसे व्यक्तियों की संख्या थोड़ी है।[१८] दूसरे शब्दों में डा० वाटवे विश्वनाथ के समान ही सचेतस के हृदय को ही प्रमाण मानते हैं। आनन्द सिद्धान्त का तिरस्कार न करके वे उसकी सीमा ही निर्धारित करते हैं। साथ ही वे तत्त्व-जिज्ञासा की शान्ति तथा काव्य-सौंदर्य के समन्वय को शोक के आस्वादनीय बनाने का श्रेय देते हैं। हिन्दी में श्री गुलाबराय जी इसी मत को स्वीकार करते हैं।[१९]

इन सब मतों से एकांगी दृष्टिकोण ही अधिक सामने आता है। या तो व्यक्ति-वैचित्र्य के आधार पर रसास्वाद में तारतम्य या व्यक्ति-भेद मान लिया गया है और इस प्रकार रस की द्विविधता का ही प्रतिपादन हो सका है या फिर अलौकिकता आदि पर जोर दिया गया है, किन्तु भारतीय दृष्टि का विशद चिन्तन किसी में नहीं दिखाई देता। इसीलिए अभी भी डा० राकेशगुप्त आदि का विश्वास है कि किसी के दुःख-सुख में रुचि लेना मानव का स्वभाव है। किसी के दुःख से वह आनन्दित नहीं होता। अतएव आनन्द के स्थान पर रुचि ही काव्य-श्रवणादि में काम करती है। यदि काव्य से आनन्द ही प्राप्त हुआ करता तो हृद्रोग से पीड़ित व्यक्ति को डाक्टर करुणापूर्ण चित्रपट देखने का निषेध क्यों करता? क्षय रोगी को आशा का संचार करने वाली पुस्तकें ही क्यों दी जातीं?[२०]

डा० गुप्त का रुचि-सिद्धान्त तन्मयी-भवन-योग्यता सिद्धान्त के सामने कितना ओछा है, यह विद्वानों के समक्ष कहने की आवश्यकता नहीं। रुचि आनन्द का पर्याय नहीं है। रुचि तटस्थता का विलयन नहीं करा सकती। सम्बन्ध-परिहार में वह सर्वथा अशक्त है। रही यह बात कि क्षय रोगी को करुणापूर्ण पुस्तकें क्यों नहीं दी जातीं, सो इसलिए कि रोगी के लिए रोग प्रधान होता है, अपनी पीड़ा प्रधान होती है। वह उस समय स्व-निरपेक्ष रह कर काव्य का अध्ययन नहीं करता। अतः उसे दूसरे के दुःख की गाथा से अपने दुःख का विशेष

१८. रस विमर्श पृ० २०३-६।
१९. सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ५६।
२०. साइकलॉजिकल स्टडीज इन रस, पृ० ८०-८१।

स्मरण बना रह सकता है। दूसरी बात यह कि किसी के द्वारा पुस्तक न दिया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि रोगी को उन पुस्तकों से आनन्द नहीं आता। यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस प्रकार हम किसी करुण दृश्य को देख कर उसकी समाप्ति पर यह कह कर भी कि 'दृश्य बड़ा अच्छा रहा' यह भी कहते हैं कि 'संसार कितना निस्सार है', उसी प्रकार रोगी भी आनन्द ले कर यही कह सकता है या अन्त में उससे निराशा का संचार हो सकता है। किन्तु, इससे आनन्द का विरोध नहीं होता। तीसरे, सभी रोगी आशावादी पुस्तकों से आनन्द का अनुभव करते हों और रोगमुक्त हो जाते हों, ऐसा अनिवार्य नियम नहीं है।

डा० भगवानदास ने भी इस सम्बन्ध में व्यक्ति-वैचित्र्य पर बल दिया है और साथ ही आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि जो जीव तथा कथित दुःखात्मक भावों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते हैं, उनके लिए यह भाव पहले या तो दुःखात्मक न होकर नितान्त सुखद होते हैं अथवा वे उनके विरोधी भावों के उत्तेजन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।[२१] दूसरा कारण यह भी है कि आत्मा का प्रधान गुण एकता है। श्रेष्ठ जीव अपने से निम्न कोटि के जीव को कष्ट में देख कर उसका दुःख दूर करने की चेष्टा करता है। उस समय यही एकता स्थापित हो जाती है। इस अनुभव के उत्पन्न होने पर अनिवार्य रूप से आधिक्य, अभिवृद्धि तथा आनन्द का अनुभव होने लगता है। उस समय का कष्ट आनन्द की प्रधानता में लय हो जाता है।[२२]

डा० भगवानदास के इस दूसरे सिद्धान्त में सहानुभूति द्वारा आत्म-प्रसार के सिद्धान्त का संकेत मिलता है, किन्तु इस नियम के अपवादों की न्यूनता नहीं है। ठीक इसके विपरीत रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि दूसरे को कष्ट में देख कर उसकी हीनता पर हँसने की हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही करुण प्रसंगों को भी आनन्ददायी बनाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी आनन्दानुभूति की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाता। हमारा विचार है कि इसकी एक मात्र व्याख्या अभिनव के दृष्टिकोण के सहारे ही की जा सकती है।

अभिनवगुप्त ने शाकुन्तल नाटक से निम्न श्लोक उद्धृत करके इसकी व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्टतः स्वीकार किया है कि भयभीत मृग को देख कर प्रेक्षक धीरे-धीरे ऐसी मानस-स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ केवल विघ्न-विनिर्मुक्त, विशेष सम्बन्धाभाव वाले 'भय' स्थायी भाव की ही अनुभूति होती है।[२३] यह विशुद्ध भावानुभूति ही विश्रान्तिजनक होने के कारण रस रूप में आस्वाद्य बन जाती है। विश्रान्ति ही सुख है, अतएव इस अनुभूति को भी सुखात्मक कहते हैं। शाकुन्तल का यह श्लोक इस प्रकार है :

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ १ । ७ ।

---

२१. साइंस ऑव इमोशंस, पृ० ३६३।
२२. वही, पृ० ३६७।
२३. अ० भा०, पृ० २८१।

अभिनव का स्पष्ट मत है कि स्व-स्थ चित्त के द्वारा होने वाली सभी अनुभूतियाँ सुख-प्रधान होती हैं। हृदय की विश्रान्ति और अन्तराय-शून्यता ही आनन्द का कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के दृश्य उद्वेगजनक होते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम वस्तुतः भयभीत हो रहे हैं, अपितु शरीर की कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि अनायास ही वैसा अनुभव करने लगते हैं। यही चमत्कार का विधायक है।[२४] । अभिप्राय यह कि रसास्वाद का वास्तविक रूप यह नहीं है कि उसके द्वारा दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है, अपितु आचार्य का मत यह है कि हम अनुभव तो प्रदर्शित भाव का ही करते हैं, किन्तु उस भाव की अनुभूति के समय क्योंकि हमें स्व-पर का कोई बोध नहीं रहता, भौतिक सीमाओं से हमारी आत्मा मुक्त हो जाती है और हम पूर्ण तन्मय अथवा तल्लीन हो कर उसी भाव का अनुभव कर पाते हैं, अतः उतनी देर के उस अनुभव की उस शान्ति को भी आनन्द ही कहना चाहिए। दुःख भी यदि पूर्ण तल्लीनता के साथ सहन कर लिया जाता है, तो वह दुःख नहीं रहता। दुःख तो पार्थक्य-बोध में होता है, अद्वैत-सिद्धि में दुःख या सुख कहाँ, वह तो विशुद्ध आत्मानन्द की स्थिति है। अतः भारतीय जब करुण से भी आनन्द की अनुभूति की ही बात कहते हैं तो उनका अभिप्राय केवल इतना ही होता है कि हम प्रदर्शित भाव का निर्विघ्न एवं विश्रान्तिपूर्ण अनुभव करते हैं, उस भाव के कष्ट से भागते नहीं, अपने को पृथक् नहीं रखते। दूसरे शब्दों में कष्ट का सा अनुभव करते हुए भी विरति का कोई विवेक जाग्रत् नहीं होता, अतः वह भी सुखात्मक ही है। इसीलिए रस-सिद्धान्त में पानक-रस की कल्पना की गई है, जो मिर्च की तीक्ष्णता रख कर भी स्वादनीय एवं आनन्ददायी हो जाता है। इसी बात को समझ कर डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'आत्म-संप्राप्ति' के द्वारा आनन्द की अनुभूति स्वीकार करते हुए कहा है कि जो वस्तु हमारे मन पर जबर्दस्त छाप छोड़ जाती है, उसका प्रभाव भी बड़ा प्रबल होता है। जिस वस्तु का हम विशेष रूप से अनुभव करते हैं, उसके द्वारा हम अपने आपको ही प्राप्त करते हैं। यह आत्म-संप्राप्ति ही आनन्द है।[२५]

सारांश यह है कि भारतीय दृष्टि केवल विशुद्ध भावानुभूति पर जोर देती है और आनंद का तात्पर्य विश्रान्तिपूर्ण अनुभव ही है।

---

२४. तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्यप्रकाशस्यानन्द सारत्वात्। तथाहि एकघन शोक संविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्री लोकस्य हृदय विश्रान्तिरन्तराय शून्य विश्रान्ति शरीरत्वात्, अविश्रान्ति रूपतैव दुःखम्। तदेव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम् रजोवृत्तिम् वदद्दिभरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।—अ० भा०, भा० १, पृ० २८३।

२५. समीक्षायण, पृ० ८६-८७, कन्हैया लाल सहल।

फ़ारसी और उर्दू के तज़्किरों एवं अन्य ग्रन्थों में हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री

श्री गोपाल चंद्र सिंह

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री के मुख्य स्रोत अब तक केवल हिन्दी भाषा और नागरी या कैथी लिपि में लिखे ग्रन्थ ही रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमने फ़ारसी लिपि में लिखे ग्रन्थों की ओर अभी तक ध्यान ही नहीं दिया, यद्यपि उस ओर प्राप्य सामग्री किसी प्रकार भी नगण्य नहीं है।

यह तो हम सभी जानते हैं कि पुरानी प्राकृतों के बाद उस भाषा के जिसे हम हिन्दी कहते हैं, साहित्यिक इतिहास का आरम्भिक काल लगभग वही है जो इस देश में मुसलमानी शासन के प्रारम्भ का समय है। मुसलमानों ने इस देश में आ कर हमें अनेक अच्छी चीज़ें दीं और बुरी चीज़ें हमारे गले मढ़ीं। इन्हीं अनेक अच्छी और बुरी चीज़ों में फ़ारसी और उर्दू भाषा एवं फ़ारसी लिपि भी है। उन्होंने साथ ही साथ अनेक अच्छी चीज़ें हमसे ग्रहण भी कीं और केवल साधारण रूप से ग्रहण ही भर नहीं कीं, उन्हें अपनाया और बढ़ाया भी। इस प्रकार की चीज़ों में यहाँ के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में ईसा की बीसवीं शताब्दी के पूर्व मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना के कोई विशेष लक्षण नहीं देख पड़ते, यद्यपि उर्दू के उत्कर्ष के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य-सर्जन की ओर उनका झुकाव धीरे-धीरे कम अवश्य होता गया। फिर भी, मुसलमानी शासन काल भर इने गिनों को छोड़ कर ऐसा शायद ही कोई अमीर-उमरा या शासक रहा हो जिसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, स्वयं लिख-लिखा कर या दूसरे कवियों या विद्वानों को प्रश्रय या प्रोत्साहन दे कर, हिन्दी साहित्य की सेवा न की हो। किन्तु जहाँ वे हिंदी काव्य और साहित्य की ओर इतने उदार रहे, वहीं फ़ारसी भाषा और फ़ारसी लिपि के प्रति अपना मोह न त्याग सके, जिसके फलस्वरूप जब तक मुसलमानी शासन रहा तब तक फ़ारसी भी इस देश की राज भाषा बनी रही। उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि कम से कम शासन से संबद्ध हिन्दुओं ने भी फ़ारसी लिखने पढ़ने में सदा गौरव का अनुभव किया और नागरी लिपि एक प्रकार से भुला ही बैठे। मुसलमानों और ऐसे हिन्दुओं ने हिन्दी सम्बन्धी जितने परिचयात्मक, या विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे, वे सब उर्दू या फ़ारसी में ही, अधिकतर फ़ारसी में, लिखे हैं और उन्होंने हिन्दी में जो कुछ लिखा उसे फ़ारसी लिपि का ही कलेवर धारण करना पड़ा।

अरबी-फ़ारसी और उर्दू में एक विशेष प्रकार के साहित्य का सदा से ही बड़ा चलन रहा है और वह है वार्त्ता या परिचय साहित्य जिसे तज़्किरा कहते हैं। तज़्किरा बहुवचन है ज़िक्र का और ज़िक्र का अर्थ है परिचयात्मक उल्लेख, जैसा उसके बहुवचन रूप से ही स्पष्ट है। ये तज़्किरे व्यक्तिगत होते हुए भी एकोद्दिष्ट नहीं होते। कोई तज़्किरा तो किसी काल विशेष के, कोई किसी स्थान विशेष के, कोई किसी शासन या राज्य विशेष के और कोई किसी वर्ग विशेष के लगभग सभी विशिष्ट या संस्मरणीय जनों की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का एक संग्रह सा होता है। ये संस्मरण मात्र होते हैं और कभी उनमें उल्लिखित व्यक्तियों की पूरी जीवनी की जीवनी होती है। यह सभी जानते हैं कि इस प्रकार के साहित्य का हिन्दी में एक प्रकार से अभाव सा है, किन्तु अरबी-फ़ारसी और उर्दू का— विशेषकर फ़ारसी का भारतीय साहित्य भंडार इस प्रकार के ग्रन्थों से भरा पड़ा है। हिन्दी संसार को शायद यह नहीं मालूम कि इन तज़्किरा संज्ञा प्राप्त कई ग्रंथों में बहुत से ज्ञात एवं अज्ञात हिन्दी साहित्यिकों के भी परिचय यत्र-तत्र निहित हैं और इसलिए इन तज़्किरों का हमारे लिए बड़ा महत्त्व है। हिन्दी में भक्तमाल, चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता, दो सौ बावन वैष्णवों को वार्त्ता आदि कुछ इने-गिने ग्रन्थों को छोड़ कर इस प्रकार का साहित्य है ही नहीं और इसीलिए हमें अपने साहित्यिकों की स्फुट या ग्रन्थाकार कृतियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु उनके जीवन के सम्बन्ध में हम उनके ग्रन्थों से ही, जिसे अन्तःसाक्ष्य कहते हैं थोड़ा-बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ कर निकाल लें तो निकाल लें, नहीं तो बिल्कुल अंधकार में ही रह जाते हैं। किन्तु ये तज़्किरे हमारे जिन साहित्यिकों से हमें परिचित कराते हैं उनकी कृतियों के नमूने ही दे कर नहीं रुक जाते, अपितु उनके जीवन पर भी काफ़ी प्रकाश डालते हैं। इस दृष्टि से इन तज़्किरों का महत्त्व हमारे लिए और भी अधिक है। मैं संक्षेप में कुछ फ़ारसी और उर्दू के तज़्किरों का उल्लेख करके अपनी बात को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

इस देश में अरबी और फ़ारसी के एक बहुत बड़े विद्वान् हो गए हैं, मौलाना मीर ग़ुलाम अली आज़ाद। आज़ाद विद्वानों और कवियों की पुरानी खानि, हमारे विख्यात कवि रसलीन की जन्म भूमि, बिलग्राम, ज़िला हरदोई के एक उज्ज्वल रत्न थे। ये केवल अरबी और फ़ारसी के ही विद्वान् नहीं थे, हिन्दी के भी पूर्ण ज्ञाता थे। इन्होंने अरबी और फ़ारसी में अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त कई तज़्किरे लिखे हैं। उनमें से इस स्थान पर मैं केवल दो या तीन का ही उल्लेख करूंगा। आज़ाद के इन तज़्किरों में जो सबसे अधिक विख्यात है वह है उनका "सर्वे आज़ाद"।

"सर्वे आज़ाद" प्रकाशित हो चुका है। इसकी रचना आज़ाद ने सन् ११६६ हिजरी में, जो विक्रमाब्द १८०६-१८१० में पड़ता है की थी। पूरा ग्रन्थ दो भागों में है और दूसरा भाग भी दो खंडों में विभक्त है। दूसरे भाग के प्रथम खंड में १४३ फ़ारसी कवियों के और द्वितीय में बिलग्राम के ही ८ हिन्दी कवियों के संस्मरण दिए गए हैं और साथ ही साथ उन सब की कविताओं के नमूने भी अंकित हैं। इन हिन्दी कवियों में से बहुत से फ़ारसी के भी कवि हो चुके हैं। इसलिए उनका कुछ परिचय प्रथम खंड में भी दिया हुआ है। जिन ८ हिन्दी कवियों का इस ग्रंथ में वर्णन है, वे ये हैं—

१. शेख शाह मोहम्मद और उनकी स्त्री चम्पा,

२. सैयद निज़ामुद्दीन उपनाम मधनायक,

३. दीवान सैयद रहमतुल्ला,
४. मीर अब्दुल जलील,
५. सैयद ग़ुलाम नबी रसलीन,
६. सैयद बरकतुल्ला प्रेमी,
७. मीर अब्दुल वाहिद ज़ौकी,
और ८. मोहम्मद आरिफ़

जहाँ तक मैं जानता हूँ, हिन्दी संसार ने अभी तक इनमें से मीर अब्दुल जलील, सैयद ग़ुलाम नबी रसलीन और सैयद बरकतुल्ला प्रेमी को छोड़ कर औरों के नाम तक नहीं सुने हैं। केवल मिश्रबन्धु विनोद के संक्षिप्त इतिहास प्रकरण के अन्तर्गत प्रौढ़ माध्यमिक कालीन कवियों के वर्णन में शेख़ शाह मोहम्मद और चम्पा के विषय में इतना भर लिखा है कि "बिलग्राम के शाह मोहम्मद और उनकी स्त्री चम्पा ने भी इसी समय में कविता की"। चम्पा का उल्लेख 'गार्सां द तामी' ने भी किया है पर केवल एक उर्दू कवयित्री के रूप में और उसे शेख़ शाह मोहम्मद की नहीं, बल्कि नवाब हिसामुद्दौला की पत्नी बतलाया है। या तो वह चंपा दूसरी चम्पा है या यह परिचय ही ग़लत है।

आज़ाद का ही एक दूसरा तज़्किरा है "यद बैजा"। इसमें दो ऐसे हिन्दी कवियों का उल्लेख है जिनके अभी तक किसी ने नाम ही नहीं सुने हैं। इनमें से एक है ईरान निवासी "ज़मीर" और दूसरा है "दाना"। ये दोनों आलमगीर औरंगज़ेब के शासन काल में यहाँ थे और "ज़मीर" तो मनसबदारों में भी था। ज़मीर के विषय में कहा गया है कि वह यद्यपि भाषा और संस्कृत के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता था, तथापि हिन्दी में निहायत बर्जस्ता अशआर कहता था। उसका उपनाम था पथी या पन्थी। लिखा है कि उसने हिन्दी से फ़ारसी में यार जातक का अनुवाद भी किया था। यह पता नहीं कि यार जातक कौन सा ग्रन्थ था और उसमें क्या लिखा था। दाना के विषय में भी लिखा है कि नज़्म "हिन्दी बिमियार ख़ूब गुफ़्ता" अर्थात् हिन्दी में प्रचुर मात्रा में और सुन्दर कविता कह गया है।

आज़ाद का ही लिखा एक और तज़्किरा है "सोहबतुल मरजान"। यह फ़ारसी में नहीं अरबी भाषा में है। इसमें एक और हिंदी कवि का उल्लेख है, जिनका नाम "शेख़ ग़ुलाम मुस्तफ़ा" और उपनाम "इनसान" था। "सोहबतुल मरजान" में आज़ाद ने इनके कई हिंदी छंदों का फ़ारसी अनुवाद दिया है।

फ़ारसी में एक और सुविख्यात तज़्किरा है, "तज़्किरे शोअरा।" इसके रचयिता मीर हसन नामक एक विद्वान् थे। इन्होंने अपने "तज़्किरे शोअरा" में सम्राट् जहाँगीर के शासन काल के एक कवि का उल्लेख किया है, जिसका नाम था "ग़वासी।" लिखा है कि "ग़वासी" ने "तूती नामा" नामक एक ग्रंथ लिखा था जिसकी एक पंक्ति फ़ारसी में थी और और दूसरी हिन्दी में।

फ़ारसी में एक और बहुत बड़ा तज़्किरा है जिसका नाम है "तबसीरतुन्नाज़िरीन"। इसके रचयिता थे हिन्दी के सिद्धहस्त कवि मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी के पुत्र सैयद मोहम्मद और इसका रचना काल है सन् ११८२ हिजरी या सम्वत् १८२५। इस ग्रन्थ की केवल एक ही हस्तलिखित प्रति प्राप्त है और वह है पटना के प्राच्य लोक पुस्तकालय या खुदाबख़्श लाइ-

ब्रेरी में। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। पहले में, जिसका नाम "मुक़द्दमा" है, बिलग्राम के विशिष्ट सैयदों की, जिनमें बहुत से हिन्दी कवि भी आ गए हैं जीवनियाँ हैं, दूसरे में, जिसका नाम "मक़ाला" है, बिलग्राम के सुविख्यात निवासियों के ऐतिहासिक संस्मरण हैं और तीसरे में, जिसका नाम "ख़ातिमा" है, सूर्यग्रहणों आदि के अभिलेख हैं।

उर्दू तज़्किरों में मुझे इस समय केवल दो ही के नाम याद आ रहे हैं, वैसे हैं तो बहुत। एक है मुन्शी अमीर अहमद मीनाई का "यादगार इन्तिख़ाब" और दूसरा है सैयद "वसीउल हसन बिलग्रामी" का "नसब व हालात सैयादात ज़ैदी अलवास्ती बिलग्राम"। पहले में रियासत रामपुर के हिन्दू और मुसलमान विशिष्ट जनों के तज़्किरे हैं और दूसरे में बिलग्राम के ख्यातनामा सैयदों के। अमीर मीनाई के "यादगार इन्तिखाब" में निम्नलिखित हिंदी कवियों के सोदाहरण परिचय दिए गए हैं—

१. पंडित बिंदी चन्द,
२. बलदेव दास तेवारी उपनाम बलदेव चौबे,
३. मौलवी हफ़ीज़ुल्ला उपनाम बन्दा,
४. प्राणसुख उपनाम प्राण,
५. साहेबज़ादा इमदादुल्ला ख़ां उपनाम ताब,
६. सैयद हुसेन शाह हुसेन,
७. पं० दत्तराम उपनाम दत्त,
८. पं० धनसिंह तेवारी,
९. रघुनाथ प्रसाद तेवारी उपनाम रघुनाथ चौबे,
१०. पं० सत्यनारायण,
११. पं० धनसिंह तेवारी के पिता चौबे किशोर दास तेवारी उपनाम किशोर, और
१२. प्रसिद्ध कवि ग्वाल राय कवीश्वर उपनाम ग्वाल।

ग्वाल के जीवन चरित के विषय में यदि कहीं कुछ मिलता है तो केवल इसी ग्रन्थ में। इस ग्रन्थ की एक विशेषता और है कि इसमें उदाहरणस्वरूप जितने छन्द दिए गए हैं उनके साथ ही साथ उर्दू में उनकी व्याख्या भी दे दी गई है।

उपर्युक्त दूसरे तज़्किरे अर्थात् 'नस्ब व हालात सैयादात ज़ैदी अलवास्ती बिलग्राम' में हमें हिन्दी के निम्नलिखित कवियों के उल्लेख मिलते हैं—

१. हिन्दी में पूर्ण रस के रचयिता सैयद रहमतुल्ला,
२. सैयद ग़ज़न्फ़र हुसेन,
३. सैयद अब्दुल जलील,
४. सैयद निज़ामुद्दीन मधनायक,
५. सैयद बरकुतुल्ला प्रेमी,

और ६. सैयद ग़ुलाम हुसेन उपनाम क़दर बिलग्रामी।

इनमें से सैयद रहमतुल्ला, मीर अब्दुल जलील, सैयद निज़ामुद्दीन मधनायक और सैयद बरकतुल्ला प्रेमी के इससे अधिक विस्तृत उल्लेख "सर्वे आज़ाद" में विद्यमान् हैं। किंतु सैयद ग़ज़न्फ़र हुसेन और सैयद ग़ुलाम हुसेन क़दर के नाम उसमें नए मिलते हैं।

ऊपर जो चन्द तज़्किरों का ज़िक्र किया गया है उसे केवल स्थालीपुलाक न्यायेन ही समझना चाहिए। फ़ारसी और उर्दू में तज़्किरे अगणित हैं। उनमें से कुछ प्रकाशित हैं और अनेक अप्रकाशित। आवश्यकता सभी की छान-बीन करने की है।

तज़्किरों के अतिरिक्त फ़ारसी और उर्दू में और भी ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें हिन्दी साहित्य और हिन्दी साहित्य सेवियों के विषय में अनेक ज्ञातव्य किन्तु अद्यावधि अज्ञात बातें उपलब्ध हैं। ये ग्रन्थ तज़्किरों की भाँति वर्णनात्मक न हो कर अधिकतर विवेचनात्मक हैं, जिनमें हिन्दी भाषा एवं हिन्दी काव्य-साहित्य के पिंगल, रस, नायिका भेद, आदि विविध अंगों की विवेचना की गई है। इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्व प्रथम उल्लेखनीय है मिर्ज़ा मोहम्मद का "तोहफ़तुल्हिन्द", जिसे औरंगज़ेब के शासन काल में औरंगज़ेब के ही पठनार्थ उसके धाय भाई और वज़ीर कोकलताश ख़ाँ के आग्रह पर फ़ख़रुद्दीन के पुत्र, मिर्ज़ा मोहम्मद ने निर्मित किया था। ग्रन्थ में नागरी वर्णमाला और लिपि एवं व्याकरण, अलंकार, पिंगल, रस, नायिका भेद आदि अनेक विषयों का वर्णन और विवेचन है और अनेक हिन्दी कवियों के छन्द भी उदाहरणस्वरूप उद्धृत किए गए हैं। ग्रन्थकार हिन्दी और संस्कृत के प्रकांड पंडित होने के अतिरिक्त हिन्दी के अच्छे कवि भी थे।

"तोहफ़तुल्हिन्द" के ही समान किन्तु उससे अपेक्षाकृत अधिक नया और छोटा एक दूसरा फ़ारसी ग्रन्थ है "मुफ्ताहलिहन्द"। "तोहफ़तुल्हिन्द" की भाँति यह ग्रन्थ भी अभी तक अप्रकाशित ही है और इस समय तक इसकी केवल एक ही हस्तलिखित प्रति मिल सकी है, जो मेरे पास है। ग्रन्थ गुलाम मोहम्मद ख़ाँ 'वासिल' बिलग्रामी द्वारा मुंशी करम हुसेन जी के पठनार्थ लिखा गया था और २८ मार्च सन् १२८४ हिजरी या १८६८ ई० को समाप्त हुआ था। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल ७ अध्याय हैं जिनमें से पहले के अध्याय तो देवनागरी लिपि, हिन्दी भाषा, रस, पिंगल, अलंकार आदि से सम्बन्ध रखने वाले हैं और अन्तिम, अर्थात् सातवें अध्याय में अनेक हिन्दी कवियों के छन्द दे कर फ़ारसी में उनका अर्थ समझाया गया है। उदाहरण के रूप में विविध कवियों के अनेक छन्द ग्रन्थ के अन्य अध्यायों में उद्धृत हुए हैं। ग्रन्थकार के स्वरचित छन्दों को छोड़ कर ग्रन्थ में निम्नलिखित कुल २७ कवियों के छन्द उद्धृत हैं—

१. शिवदयाल राय बिलग्रामी,
२. निज़ामुद्दीन मधनायक,
३. दयानिधि,
४. शिवनाथ बिलग्रामी,
५. घसीटेराम बिलग्रामी,
६. शाह मोहम्मद,
७. चम्पा,
८. सैयद रहमतुल्ला पूर्णरस,
९. मोहम्मद आरिफ़ उपनाम जान,
१०. राय बेनीराम बिलग्रामी,
११. भूपसिंह ठाकुर, सेमर झाला निवासी,

१२. प्रेमदास, शृंगारी कवि,
१३. मौलवी मक़बूल अहमद गोपामवी,
१४. सुब्बा राय बिलग्रामी, बाद फ़रोश.
१५. उमराव सिंह,
१६. मिसिर दिवाकर,
१७. राय हरप्रसाद बिलग्रामी,
१८. प्रवीणराय
१९. राम लाल, उपनाम राम, शाहबादी,
२०. उत्तमदास, उपनाम उत्तम, बदायुनी,
२१. सुखदेव,
२२. नासिर,
२३. बसन्त बदायुनी,
२४. मोहन, सुलतानपुरी,
२५. निहाल कवि, साकिन निगोहाँ, जिला कानपुर,
२६. दयानिधि अज़ीमादादी,
और २७. फेरन कवि।

इनमें २८ वां नाम स्वयं वासिल का जोड़ कर कुल २८ कवि हो जाते हैं। इनमें से शिवदयाल राय, दयानिधि, घसीटे राम बिलग्रामी, राय बेनीराम बिलग्रामी, भूपसिंह ठाकुर, प्रेमदास, राय हरप्रसाद बिलग्रामी, प्रवीणराय, राम लाल राम और सुखदेव, कुल १० कवियों को छोड़ कर शेष १८ के नाम अभी तक न तो किसी खोज रिपोर्ट में आए हैं और न किसी पुराने संग्रह ग्रन्थ या हिन्दी साहित्य के इतिहास में पाए जाते हैं।

इसी सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु वह फ़ारसी में नहीं, उर्दू में है। इस ग्रंथ का नाम है "क़वायदुल उरूज" और इसका विषय है पिंगल या छंदःशास्त्र। इसके रचयिता सैयद गुलाम हसनैन 'क़दर' भी बिलग्राम के ही रहने वाले थे और कैनिंग कालेज में फ़ारसी के प्राध्यापक रह चुके थे। सैयद गुलाम हसनैन 'क़दर' के विषय में सैयद बसी उल हसन ज़ैदी महोदय ने अपने ग्रन्थ "नसब व हालात सैयदात बिलग्राम" में जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है : "आप बहुत बड़े फ़ाज़िल और शायर थे। ग़ालिब देहलवी से शायरी में तलमज़ था और हर एक को दूसरे से बहुत ख़ुलूस था। कैनिंग कालेज लखनऊ में फ़ारसी के प्रोफ़ेसर थे। सर सालार जंग अव्वल जब तशरीफ़ लाए तो क़दर की क़ाबिलियत देख कर हुज़ूर निज़ाम की तालीम और तदरीस के लिए आप को हैदराबाद ले गए। मगर अफ़सोस, वहाँ पहुँच कर आप की जिन्दगी ने वफ़ा नहीं की और थोड़ी मुद्दत के बाद आप का इन्तिक़ाल हो गया।" "क़वायदुल उरूज" दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में अरबी, फ़ारसी और उर्दू के छन्दों का तथा दूसरे में हिन्दी के छन्दों का शास्त्रीय वर्णन और विवेचन है।। इस स्थान पर हिन्दी खंड की भूमिका उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

"काव्य यानै इल्म शेर ज़बान संस्कृत और ब्रजभाषा में अरबी व फ़ारसी के तरह चन्द फ़नून से मुरक्कब है। मिस्ल पिंगल याने इल्म उरूज और अनुप्रास याने क़ाफ़िया और

अलंकार याने इल्म बदीय और नायिका भेद याने हालात व मामलात आशिक़ ओ माशूक़ और संगीत यानी इल्म मूसीक़ी। लेकिन यहाँ सिर्फ़ पिंगल का बयान मंज़ूर है। लेहाज़ा जो कुछ हम को ज़बाँदाँ सहरुलबयान आलिम गिरामी उस्ताद नामी जनाब पंडित जटा शंकर पांडे भट्टाचार्ज ने तालीम फ़रमाया ओ रिसाला हाय पिंगल मिस्ल छन्द महोदधि और छन्दःसार और छन्दार्णव और छन्द-विनोद और भाषा भास्कर और बानी भूषण पोथी और सुखदेव पिंगल और तोहफतुलहिन्द से पढ़ाया और समझाया वह हमने एक रिसाले में जमा किया हम अब उसी का ख़ुलासा इस मोकाम पर दस फ़सलों में नक़ल करते हैं।" इस ग्रन्थ में स्वयं लेखक के स्वरचित छन्दों के अतिरिक्त निम्नलिखित १५ कवियों के छन्द उदाहरण स्वरूप उद्धृत हैं—

१. रामलाल राम शाहाबादी
२. मीर अब्दुल जलील
३. उत्तमदास बदायुनी
४. भिखारी दास
५. गिरिधर कविराय
६. सुखदेव
७. नासिर
८. सैयद मुबारक, मुहद्दिस बिलग्रामी
९. अंगने लाल रसाल
१०. बसन्त बदायुनी
११. मोहन सुलतानपुरी
१२. सैयद निज़ामुद्दीन मधनायक
१३. निहाल कवि साकिन निगोहाँ, ज़िला कानपुर
१४ दयानिधि अज़ीमाबादी
१५. फ़ेरन कवि

इनमें से पं० रामलाल राम, मीर अब्दुल जलील, भिखारी दास, गिरिधर कविराय, सुखदेव और अंगने लाल रसाल को छोड़ कर लेखक सहित शेष दसों कवियों में से किसी का भी नाम अभी तक किसी ग्रन्थ या खोज रिपोर्ट में नहीं आया है।

यहाँ मैंने उन अनेक ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया है जो स्वयं हिन्दी भाषा में होते हुए फ़ारसी लिपि में लिपि बद्ध हैं। इन में कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ हैं और कुछ संग्रह ग्रंथ, कुछ उपलब्ध और अनेक अद्यावधि अनुपलब्ध।

ग्रंथानुसंधान

रुद्रपल्लीय पृथ्वीचन्द्र रचित रस-विलास

श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी की फुटकर जैन रचनाएँ बहुत अधिक परिमाण में पाई जाती हैं। ये अधिकतर संग्रह-ग्रंथों में लिखी मिलती हैं। इन प्राचीन रचनाओं का महत्त्व भाषा के विकास को जानने के लिए तो है ही परवर्ती काव्य रूपों की परम्परा पर भी उनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बीकानेर के बृहद् ज्ञान-भंडार में १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ की लिखी हुई एक विशिष्ट संग्रह प्रति है जिसके पत्रांक २३० तक प्राप्त हैं। इसके बाद भी कुछ पत्र अवश्य होंगे। बीच-बीच के भी कई पत्र अब प्राप्त नहीं हैं। यह प्रति मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोधक जैन शासन के महान् प्रभावक विद्वान् ग्रंथकार जिनप्रभसूरि जी की परम्परा की है। जिनप्रभसूरि बादशाह मुहम्मद तुगलक से सम्मानित थे। इसलिए उन्हें शाही सभा में अनेक बार जाना पड़ता था। अतएव फ़ारसी भाषा का अभ्यास करना उनके लिए आवश्यक हो गया। इस प्रति में नागरी अक्षरों में लिखे हुए २०० से अधिक फ़ारसी शब्दों का संस्कृत में लिखा हुआ अर्थ भी पाया जाता है। 'तत्त्व विचार' नामक प्राचीन गद्य ग्रन्थ भी इसी में है, जिसे राजस्थान भारती में हमने प्रकाशित किया है। इस प्रकार यह प्रति बड़े महत्त्व की है।

इसी प्रति में से २०-२२ वर्ष पूर्व हमने कुछ रचनाओं की प्रेस कापियाँ की थीं जिनमें रुद्रपल्लीय गच्छ के अभय सूरि के शिष्य पृथ्वीचन्द्र रचित 'रस विलास' नामक 'मातृका प्रथमाक्षर दोहका' रचना भी है। इसके ५८ पद्यों में प्रारंभ के २ और अन्त के २ दोहों को छोड़ कर अवशेष ५४ दोहे, वर्णमाला के विभिन्न अक्षरों से प्रारंभ होते हैं।

वर्णमाला के अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले पद्य संग्रह वाली अनेक रचनाएँ अपभ्रंश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, संस्कृत और फ़ारसी की प्राप्त होती हैं। इनमें से कुछ प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह आदि में प्रकाशित हो चुकी हैं, पर अप्रकाशित रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। इन रचनाओं की विविध संज्ञाएँ हैं और वे विविध प्रकार की भी हैं। ककमातृका बत्तीसी, बावनी, बारह खड़ी; ककहरा अखरावट आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं और उनके अनेक प्रकारों में से कुछ केवल व्यंजन अक्षर से युक्त हैं, और कुछ में क्रम से बारह-खड़ी वाले प्रथमाक्षर हैं। ऐसी रचनाओं में गुजराती भाषा की सबसे बड़ी रचना बुद्धिसागर रचित कक्कावलीहाबोध है और हिन्दी रचनाओं में दिगम्बर कवि दौलत राम की आध्यात्म बारहखड़ी। ये दोनों रचनाएँ क्रमशः श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन कवियों की हैं। इनका रचना काल सं० १६८० और १७१६ है। पहली रचना आध्यात्मिक ज्ञान प्रसारक मंडल

पादरा से प्रकाशित भी हो चुकी है, दूसरी रचना की प्रति जयपुर के जैन (दिगम्बर) भंडारों में है।

इन रचनाओं की परम्परा कब से प्रारंभ हुई यह कहना कठिन है। पर १३ वीं शताब्दी से अब तक की परम्परा तो स्पष्ट है। 'रस विलास' के रचयिता पृथ्वीचन्द्र के गुरु रुद्रपल्लीय अभयसूरि का सं० १२८५ में रचित 'जयंत विजय' काव्य प्रकाशित है। अतः इस रचना का समय भी विक्रम की १३ वीं शती का अंत समझना चाहिए।

कवि श्री पृथ्वीचन्द्र रचिता

मातृका प्रथमाक्षर दोहका

अप्पइं अप्पयउ बुझि करि, जो परप्पइ लीणु।
सुज्जि देव अम्हह सरणु, भवसायर पारीणु ॥ १ ॥
माई अक्खर धुरि धरिवि, वर डूहय घंदेण।
रस विलास आरंभियउ सुकवि पृहवि चन्देण ॥ २ ॥
ओकारु न किज्जइ, वाहिरि घर चरियस्स।
लीह पहिल्ली सज्जणहं, निम्मणगुणगरुयस्स ॥ ३ ॥
नयणह रुच्चइ सो मणहं, इउ निच्छइ परमत्थु।
तसु जइ अप्पुणु रुच्चियइ, तउ उब्भि (झि) जगहत्थु ॥ ४ ॥
मम्मु जु माणुसि वुल्लियइ, पिम्महराहु विणासु।
चउमण च्छंदइ चुल्लियइ तिमरं गुल्लासु ॥ ५ ॥
सिज्झ हि कज्ज झडत्ति तसु जसु मित्तडा सहाय।
पासा सिद्धा होहि धुडु आवहि चिंतिय दाय ॥ ६ ॥
धन्धोला मणवल्लहउ जिम जिम सूहव अंगु।
तिम तिम चोलमजिट्ठ जिम नवल नवल्लउ रंगु ॥ ७ ॥
अप्फारउ जउ वुल्लियइ तउ नूसंति गमार।
जउ पुणु कज्जि पयट्टियइ तउ रच्चहिं सु विचार ॥ ८ ॥
आसंघिया जि ठाय तहिं मण छंदइं ववहरइ।
ठवि जा मेली ज पाय जउ लगि हाथ न पावियइ ॥ ९ ॥
इच्छा ऊरी नारि धरि सो किम्व बाहिरि ठाइ।
अंगणि फलियइ केलि वणि बोरकु वीणए जाइ ॥ १० ॥
ईसरु अरु दातारु मणवल्लहु अरु विणय परु।
सामिउ अउ सुविचारु तिन्निउ पुनह पावियहि ॥ ११ ॥
उम्माहउ नितु जसु तणउं पिम्मुत भणियइ चंगु।
कारणि होइ जु संघणउ तहिं निव्विव्वडइ न अंगु ॥ १२ ॥
ऊलटियउ जउ नेहु तउ ऊवहि घरि जाइ जइ।
घणु कणु कंचणु गेहु अप्पिवि तसु वसि थाइयइ ॥ १३ ॥

ऋणु जिम दिवसति पारियहिं जहिमण वव वल्लहु दूरी।
लच्छिन नव परि विलसियहि उग्गइ उग्गइ सूरि ॥ १४ ॥
ऋणा पंथि कि होइयइ जउ पिउ माणुसु सत्थि।
पम्हल नयणिहि जोइयइ पलोइयइ चलइ विलर जउ हत्थि ॥ १५ ॥
लृवि विहि तणी निलाडि लिहियउ तं चालइ नहि।
जइ किरि रडियइ राडि त काहू (मू) सूहव थाइ पइ ॥ १६ ॥
लृणउ जसु जहि चित्तु सो तिणि दिट्ठइ रंजियइ।
घणु अंधारउ तोई मोरु लवहिं तिणि गज्जियइ ॥ १७ ॥
एरिसि अवसरि पावियइ मणह मणोरह पूरी।
लच्छि मयच्छि घरंगणइ जुघणु जाव सरीरि ॥ १८ ॥
ऐयत माणुसु लोहमउ निवसइ इहिं संसारि।
पिम्मु परघसु लुच्छु घणु जसु दुज्जणु घरवारि ॥ १९ ॥
ओसहि वाहि निवारियइ खलु बुद्धिहि टली जाइ।
दैवायत्तउ जं पडइ तहि कायउं न वसां ॥ २० ॥
(औ) अघउ जसु मणि माणुसह वस ओइ विणउ उवयारु।
सो जम्महं विन रंजियइ किं खिज्जहि सयवारु ॥ २१ ॥
अंमी पिम्मु तस लहियइ जहि मनइक्कंकारु।
तंपुण थुक्क वि लोवणउं जहिं नितु नवउ विचारु ॥ २२ ॥
(अः) अह किम करिते विण गमहि जहि घरि वहइ कुसुत्तु।
थोडउ दधु कुटंबु सलि कलि थकइ न मुहुत्तु ॥ २३ ॥
कलिजुगि जसु गुण निघिडइ पुरिसु सुलीह लहेइ।
अंगो अंगि जु भिडइ रणि सुहडु सुनाउं वहेइ ॥ २४ ॥
खणु विन चित्तह उत्तरइ गउ जु चमक्कउ लाइ।
मलु मधु कि चउहुट्टइ कंचणहं जइ वरिसा मउ जाइ ॥ २५ ॥
गयणंगणि तारायणहं संख कु लहइ गणंतु।
तिम गरुयहँ सज्जण तणहं गुणह कु जाणइ अन्तु ॥ २६ ॥
घणु वरिसइ सीयलु सलिलु सोइ वि मल्हइ वज्जु।
गरुयइ तुट्टइ जीवियइ रुट्ठइ विणसइ कज्जु ॥ २७ ॥
(ङ्ङउ) उङ्कउ जिम जइ आंवलयइ सिद्ध उ कज्जु कुमित्तु।
गरुयारंभेह सुपुरिसहं तु इन चमक्कइ चित्तु ॥ २८ ॥
चप्परि करहि न कज्जु दीहि वहंतइ अप्पणइ।
तेकु पुस निलज्ज पच्छइ पडिसिहिं मूरणइ ॥ २९ ॥
छप्परि थक्कइ थलि चडइ विसमउंसामि जु होइ।
सो तिणि परि आराहियइ दिट्ठउ दाउ जु देइ ॥ ३० ॥
जउ कुपुरिसु भत्तारु कि मसूहव साइ तणउं।
जउ असवार गवारु तुक्खारु वि अउ कर करइ ॥ ३१ ॥

झल्लरि जिम जे वज्जणा कज्जु न सिज्झइ तेहि ।
आवसरु जाणि जिववह रहिं जणु वसि किज्जइ तेहि ॥ ३२ ॥
अ अइ जेहि चुल्लिजइ दीहू धिगती अछइ ।
तोई न सक्कइ मिल्लि माणुसु कारण अप्पणइं ॥ ३३ ॥
टहटह सहि हसंति दुज्जण पिक्खवि परवसणु ।
छिल्लिरु जेम सु संतिजउ घरि दैवाइ तु पडइ ॥ ३४ ॥
ठणकइ तूटइ नेहु जउ धण धण दिसि दक्खवइ ।
(जउ) जसु वसि जीविउ देहु अवरु कि काइउं तसु परइ ॥ ३५ ॥
डसइ अहरु अरु धणह सइ पिक्खवि पियह विचारु ।
किवि दिण रुसंतउ गमइ के विफिरंतु गमारु ॥ ३६ ॥
ढड्टसु तियह गणिज्ज तसु मीलु ज पालइ मित्त ।
पिय विरहिय रंगग्गलिय अरु जुघण मयमत्त ॥ ३७ ॥
णक्कारिण जिम जे पुरिस तिन्नि विलीह लहंति ।
विहव विलास विवेय पुणु चंदिति नाउ लिहंति ॥ ३८ ॥
तह मह मणि तुह गुण सुयण नीली रंग वइट्ठ ।
पिसुण वयण जल धोइ यहि तुइ ऊसरिय न दिट्ठ ॥ ३९ ॥
(थड्ढि) थट्टि मत उलगि अंग पर जउ चितइन मिलंति ।
जउ छुडुलीणा रंगि नर कंचणु जेम नमंति ॥ ४० ॥
दवि दड्ढा खड पल्हुयहि जिम वड्ढेण घणेण ।
विरह पलित्त मणो हरइं तिम दिट्ठेण पिएण ॥ ४१ ॥
धवलइ दस दिसि नियजसिण जइ सुप्पुरिसु फिरंतु ।
तो इसु मणिहिंअ धारियइ निय सज्जण सुमरंतु ॥ ४२ ॥
नह घट्टा घर चित्तिया अणु दिणु दिंती लीह ।
सुयणगणे विणु तुम्ह गुण पूरि पुरी न समीह ॥ ४३ ॥
पहिलइ पाउसि मुक्कु घरु हा परवस हिएण ।
(हु) धन्नह धण मंगलु करइ (हु) दूघक्खय दहिएण ॥ ४४ ॥
फरु (मु) सुवुय जंबुल्लियइ पिम्मि अमिउ पडिहाइ ।
विणु रंगह जं जंपियइ भरिया उप्परिजाइ ॥ ४५ ॥
बढ सीयालइ स घण नर खणु जिम रयणि गमंति ।
पुन्नह हीन निपंगु रण दंत वीण वायंति ॥ ४६ ॥
भरि जुघणु घरि पवरु धणु अरु सामी सम्माणु ।
तिहु गधिहि जुन गंजियउ तसु पुरिसह सु विहाणु ॥ ४७ ॥
मयण सुहउ धयवड सरिस फुल्लिय केलि वणेहि ।
पत्ति वसतिण झत्ति किय तरुणि सरणु रसिराहि ॥ ४८ ॥
यउ मइं वुड्ढी अक्खियउ पिय सहु के हा माणु ।
धिरि अप्पुण मन्ना वियउ रा हा हुया नियाणु ॥ ४९ ॥

रक्खिज्जइ सरु घरि फरिय जलु रक्खिज्जइ पालि।
मणु फिरंतु किम रक्खियइ लीण उ माया जालि ॥ ५० ॥
लच्छिहि मंडणु दाणु परदाणह गिर अणुकूल।
दिंतह पुणु जु-न बारियइ इह मंडण सिरचूल ॥ ५१ ॥
वसहिं कि उघ सि ठाय इक्कु वि पुरिसु न सकलु जहिं।
तारिहिं होई कि भाइ विणु चंदिण चंदिणउ महिं ॥ ५२ ॥
शक्कारिण जिम कुट्टडी वंकी वालिउ जोइ।
अग्गेइ जर पच्छइ मरणु सरणु धम्मु पर होइ ॥ ५३ ॥
पक्खउ जिम अप्पुणु हियइ इक्कइ लीह धरिज्ज।
इंदियालु संसारु इहु जाणिउ पाउ ठविज्ज ॥ ५४ ॥
सरल सहावा जीव जउ तउ कम्मिहि ते गंजियहि।
जउ निम्मल नयणाइ मसि कज्जलि तउ अंजियहिं ॥ ५५ ॥
हक्कि वि कम्म महारि वलु अप्पा गउ निघाणि।
तउ आवण गमणह तणी थक्की भाणो आणि ॥ ५६ ॥
रुद्दपल्लिगच्छह तिलय अभयसूरि सीसेण।
रस विलासु निप्पाइय उपाइय कघरसेण ॥ ५७ ॥
पुहविचंद कवि निम्मविय पढि दूहा चउपन्न।
तसु अणु सारिहिं ववहरहिं पसरइ कित्ति रवन्ना ॥ ५८ ॥

॥ इति मातृका प्रथमाक्षर दोहकाः समाप्ता ॥

परिषद् सूचना

भारतीय हिंदी परिषद् का त्रयोदश अधिवेशन

नागपुर

खुला अधिवेशन

पहली बार परिषद् का वार्षिक अधिवेशन दक्षिण भारत में हुआ। यह २८, २९, ३० दिसंबर १९५५ को नागपुर विश्वविद्यालय के दीक्षांत सभागृह में संपन्न हुए तेरहवें अधिवेशन की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। किन्तु मराठी भाषी क्षेत्र होते हुए भी नागपुर हिन्दी का एक ऐसा सुविख्यात केंद्र है जहाँ हिन्दी को राज भाषा पद पर अधिष्ठित करने के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य हुआ है। अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष और नागपुर विश्वविद्यालय के कुल गुरु पं० कुंजीलाल दुबे ने विश्वविद्यालय द्वारा की गई हिन्दी की प्रगति का उल्लेख करते हुए बताया कि बी० ए० की गत वर्ष की परीक्षा के १४०० उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में केवल ४३४ अंग्रेज़ी माध्यम वाले परीक्षार्थी थे। विश्वविद्यालय ने इन्टरमीडिएट तक की सभी विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार करा दी हैं। आगामी वर्ष में बी० एस-सी० की ६४ पाठ्य पुस्तकों को प्रकाशित करने की योजना है। हिन्दी के लिए यह सौभाग्य की बात है कि नागपुर विश्वविद्यालय में मराठी और हिन्दी की प्रगति समान रूप से और परस्पर सहयोग एवं सौहार्द के साथ हो रही है। पंडित दुबे ने अपने स्वागत भाषण में यह भी सूचना दी कि नागपुर विश्वविद्यालय गत दो वर्षों से इस के लिए प्रयत्नशील रहा है कि अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम का स्थान प्राप्त हो जाए।

अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए पं० रविशंकर शुक्ल, मुख्य मन्त्री, मध्यप्रदेश ने हिन्दी भाषा के सर्वमान्य रूप, पारिभाषिक शब्द-निर्माण के मूलाधार, देवनागरी लिपि-सुधार और हिन्दी अध्यापन के स्तर को उठाने के संबन्ध में मूल्यवान् रचनात्मक सुझाव दिए। हिन्दी के संस्कृत-निष्ठ रूप के विषय में अनावश्यक प्रवाद का उल्लेख करते हुए पं० शुक्ल ने संस्कृत के आधार पर नवीन शब्द-निर्माण के लिए 'प्रयोगात्मक समन्वय' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। भारतीय हिन्दी परिषद् के सदस्यों को हिन्दी के प्रति उनके महान् उत्तरदायित्व का स्मरण दिलाते हुए पं० शुक्ल ने उनसे कहा कि उन्हें विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के लिए श्रेष्ठ साहित्य का निर्वाचन करते समय सदैव प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर रहना चाहिए तथा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नवीन साहित्य-रचना के दिशा-निर्देश का

बहुत बड़ा भार उन्हीं पर है तथा हिन्दी को पूर्ण रूप से आधुनिक भाषा बनाने में योग देना उनका परम कर्त्तव्य है।

खुले अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण में परिषद् के सभापति डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन समस्त समस्याओं पर अपने अत्यन्त संतुलित और चिंतनपूर्ण विचार प्रकट किए जो आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्मुख उपस्थित हैं। भारतीय हिन्दी परिषद् मुख्य रूप से हिन्दी प्राध्यापकों की संस्था होते हुए भी अन्य विषयों के प्राध्यापकों की ऐसी संस्थाओं से भिन्न है और उसका कर्त्तव्य अधिक विस्तृत है, क्योंकि हिन्दी प्राध्यापक और शोध-कर्त्ता भारत के साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के संवाहक हैं। डा० द्विवेदी ने अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी के प्रति बढ़ती हुए सद्भावना की सराहना करते हुए हिन्दी आन्दोलन की नवीन रचनात्मक प्रवृत्ति का स्वागत किया और कहा कि जो लोग अब भी हिन्दी भाषा और साहित्य को हीन कहते हैं वे या तो जान बूझ कर हिन्दी से अपरिचित हैं या उनके मन में हिन्दी के प्रति सद्भावना का अभाव है। राष्ट्रभाषा हिंदी के स्थान पर अँग्रेजी को राज भाषा बनाए रखने अथवा संस्कृत को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देखने वालों की आलोचना करते हुए डा० द्विवेदी ने कहा कि संस्कृत की तो हम कभी उपेक्षा कर ही नहीं सकते और अँग्रेज़ी का अध्ययन भी हमें कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए जारी रखना पड़ेगा।

हिन्दी की उन्नति के लिए विविध दिशाओं में क्या-क्या कर्त्तव्य हैं तथा उन्हें किस प्रकार पूर्ण किया जा सकता है इसका डा० द्विवेदी ने विस्तारपूर्वक निर्देश किया। उन्होंने केन्द्रीय शासन की हिन्दी सम्बन्धी कार्य-विधि की खरी आलोचना करते हुए हिंदी के लिए एक पृथक् मंत्रालय की स्थापना की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई। मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश के शासनों द्वारा की गई हिन्दी की प्रगति की उन्होंने सराहना की तथा हिन्दी की विभिन्न संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों द्वारा इस दिशा में सहयोग द्वारा कार्य कराने का सुझाव दिया। भावी कार्य की रूपरेखा उपस्थित करते हुए डा० द्विवेदी ने बताया कि हमें लगभग बीस हज़ार नवीन शब्दों, छः सौ नवीन वाक्यांशों, एक सौ मसविदों के हिन्दी रूपांतरों और दो हज़ार पृष्ठों की कानूनी कार्यवाही सम्बन्धी सामग्री को प्रतिवर्ष प्रकाशित करना है। हिंदी में उपयोगी विषयों—वैज्ञानिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों के दो हज़ार मौलिक और अनूदित ग्रन्थों की हमें तत्काल आवश्यकता है तथा ऐसे दो सौ ग्रन्थों को प्रति वर्ष प्रकाशित करने की योजना के कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त विभिन्न भाषा भाषी क्षेत्रों के लिए तथा अँग्रेज़ी जानने वालों के उपयोग के लिए शब्द-कोशों और व्याकरणों की रचना भी तत्काल आवश्यक है। पचास हज़ार शब्दों वाले एक बीस जिल्दों के विश्वकोश की योजना भी तुरंत हाथ में लेना चाहिए और उसे दस वर्ष में पूर्ण कर देना चाहिए। यह सब कार्य केंद्रीय शासन के तत्त्वावधान में विभिन्न विश्वविद्यालयों और संस्थाओं द्वारा कराया जा सकता है। स्वयं हिन्दी प्राध्यापकों और शोध-कर्त्ताओं का कर्त्तव्य है कि वे हिन्दी का परिनिष्ठित रूप तथा उसका व्याकरण अहिन्दी भाषी विद्वानों के समक्ष रखें, तथा उन्हें बताएँ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य किन नवीन प्रेरणाओं से संचालित हुआ है और हमारे साहित्य ने विश्व के चिंतन में क्या योग दिया है। यह हमारा ही कर्तव्य है कि हम हिन्दी के रचनात्मक तथा सूचनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में फैले भ्रम का निवारण करें। डा० द्विवेदी ने अहिन्दी

भाषियों के लिए हिन्दी के पाठ्यक्रम में केवल आधुनिक साहित्य को सम्मिलित करने का सुझाव दिया और कहा कि मध्ययुग के साहित्य का परिचय इतिहास और आलोचन के द्वारा देना चाहिए। अपने अध्यक्षीय भाषण को समाप्त करते हुए डा० द्विवेदी ने अपना दृढ़ विश्वास प्रकट किया कि कोई कारण नहीं कि हम हिन्दी को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष न बना सकें। हम महान् देश के निवासी तथा महान् साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

संदेश

अधिवेशन की सफलता के लिए प्रधान मन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, गृह मंत्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत, शिक्षा मंत्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, पंजाब के शिक्षा मन्त्री श्री जगतनारायण लाल, हैदराबाद के शिक्षा मंत्री श्री ताँबे, प्रयाग के वयोवृद्ध साहित्य सेवी पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल तथा पंडित देवी प्रसाद शुक्ल, परिषद् के भूत पूर्व सभापति डा० दीनदयाल गुप्त, पटना के साहित्यिक श्री लक्ष्मी नारायण सुधांशु तथा कतिपय अन्य विद्वानो शिक्षा-शास्त्रियों और मंत्रियों से शुभ कामनाओं के संदेश प्राप्त हुए थे।

परिसंवाद १ : उपयोगी साहित्य निर्माण की योजनाएँ

परिषद् की यह विशिष्ट गोष्ठी प्रो० विनयमोहन शर्मा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में हुई और उसका विषय प्रवर्तन डा० माताप्रसाद गुप्त, विशेषाधिकारी राज भाषा आयोग ने अपनी व्यक्तिगत हैसियत से किया।

प्रो० शर्मा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी में उपयोगी साहित्य के तथा कथित अभाव, अहिंदी प्रदेशों—विशेष रूप से दक्षिण भारत में हिन्दी साहित्य की लोक-प्रियता तथा उसके प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा कि भारतीय हिंदी परिषद ही एक ऐसी संस्था है जो हिन्दी में उपयोगी साहित्य के निर्माण के लिए विविध विषयों के विद्वानों से स्वेच्छा-सहयोग प्राप्त कर सकती है।

डा० गुप्त ने अपने लिखित भाषण में दो प्रकार के उपयोगी साहित्य का उल्लेख किया। एक के अंतर्गत साहित्यक संकलन, विविध स्तरों की पाठ्य पुस्तकें, व्याकरण, अनुवाद ग्रन्थ, रचना और प्रबन्ध की पुस्तकें, हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास तथा द्विभाषी कोश आदि आते हैं, जिनकी रचना विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के उपयोग की दृष्टि से होनी चाहिए। इसके साथ ही अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का इसी प्रकार का साहित्य हिन्दी भाषियों के लिए भी सुलभ होना चाहिए। दूसरे प्रकार के उपयोगी साहित्य में विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षाओं तक के पाठ्य ग्रन्थों के अतिरिक्त मार्ग निर्देशक ग्रंथ (गाइड्स), भूमिका ग्रन्थ (इंट्रोडक्शन्स), कोश ग्रन्थ, पद और वाक्य संदर्भ ग्रन्थ (इंडेक्सेज और कनकार्डेंसेज़), विश्वकोश, पूर्ण सूचना ग्रन्थ (हैंडबुक्स), इतिहास ग्रन्थ, लेखकों और विचारकों के चरित ग्रन्थ, सांख्यकी ग्रन्थ (स्टैटिस्टिक्स), मानचित्र ग्रन्थ, अब्द कोश (इयर बुक्स) तथा पुस्तक-सूचियाँ और पुस्तक परिचय ग्रन्थ सहायक साहित्य के रूप में निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। डा० गुप्त ने बताया कि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा तक की पुस्तकें तो हिंदी में काफी लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं तथा प्रथम स्नातक कक्षाओं तक का साहित्य भी कला और वाणिज्य विषयों के लिए विद्यार्थियों की मांग से प्रेरित हो कर तेज़ी से प्रस्तुत किया जा रहा है। किन्तु

वैज्ञानिक विषयों के प्रथम स्नातक कक्षाओं के साहित्य तथा समस्त विषयों के स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए उपयोगी साहित्य का भारी अभाव है। यह स्पष्ट है कि हमारे सामने कितना अधिक कार्य है। अब तक जो भी कार्य हुआ या हो रहा है उसके पीछे कोई निश्चित योजना और सर्वांगीण उद्देश्य नहीं है। आवश्यकता यह है कि हिन्दी प्रदेश के समस्त राज्य, समस्त विश्वविद्यालय और केंद्रीय शासन मिल कर योजना बद्ध करके तथा परस्पर विषय विभाजन के द्वारा यह कार्य करें। डा० गुप्त ने आशा प्रकट की कि सहायक साहित्य को छोड़ कर पाँच वर्ष के भीतर विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च परीक्षाओं तक का समस्त विषयों का आवश्यक साहित्य प्रस्तुत किया जा सकता है। सहायक ग्रन्थों का निर्माण भी दस वर्ष में पूरा किया जा सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब समस्त कार्य निश्चित आयोजना बना कर किया जाए।

इस परिसंवाद में डा० शम्भूनाथ सिंह, काशी, डा० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग, प्रो० ना० नागप्पा, मैसूर, डा० रघुवंश, प्रयाग, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, प्रो० श्री० ना० बनहट्टी, पूना, डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, और प्रो० इंद्रदेव आर्य, नागपुर ने भाग लिया तथा अपने बहुमूल्य सुझाव प्रस्तुत किए। अन्त में डा० गुप्त ने परिसंवाद का उपसंहार करते हुए विविध वक्ताओं के सुझावों का स्वागत किया। किन्तु उन्होंने अनुवादों की अपेक्षा मौलिक ग्रन्थों के निर्माण पर अधिक ज़ोर दिया और कहा कि अनुवाद कार्य केन्द्रीय शासन के अनुवाद विभाग द्वारा ही संचालित होना चाहिए।

परिसंवाद २ : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का संबन्ध

यह गोष्ठी प्रो० ना० नागप्पा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में हुई।

विषय प्रवर्तन करते हुए ब्रजेश्वर वर्मा, साहित्य मंत्री, भारतीय हिंदी परिषद् ने सबसे पहले कुछ लोगों के इस विचार का उल्लेख किया कि देश की एकता के लिए यह आवश्यक है कि हिंदी वही स्थान ग्रहण करे जो आज अंगरेज़ी को प्राप्त है, अर्थात् उच्चतम शिक्षा, उच्च न्यायालय, प्रदेशों के उच्च शासन और समस्त केन्द्रीय और अंतरप्रादेशिक कार्यों का माध्यम हिंदी ही हो। किंतु वक्ता ने कहा कि इस विचार को उपस्थित करने वाले लोगों में कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य हैं जो हिंदी को अन्य प्रादेशिक भाषाओं से हीन घोषित करने में संकोच नहीं करते तथा उसे इतने व्यापक अखिल भारतीय उत्तरदायित्व को सँभालने में अयोग्य बता कर उस समय तक अँग्रेज़ी को बनाए रखने का समर्थन करते हैं जब तक हिन्दी इसके योग्य न बन जाए। स्वयं वक्ता महोदय ने इस विचार का समर्थन नहीं किया और प्रशासन, न्यायालय, विधान मण्डल और शिक्षा के विविध क्षेत्रों में हिंदी तथा अन्य भाषाओं की पृथक् स्थिति के औचित्य को स्पष्ट किया। अहिन्दी प्रदेशों के प्रादेशिक शासनों में हिंदी को उतना ही स्थान मिलना चाहिए जितना अंतरप्रादेशिक और केन्द्रीय व्यवहार के लिए आवश्यक है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों या उनके अधिकृत अनुवादों को छोड़ कर, न्यायालयों की भाषा प्रादेशिक ही रहे। केंद्रीय लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम अंततोगत्वा हिंदी ही हो। इसके लिए प्रत्येक प्रदेश के विश्वविद्यालयों में उच्चतम कक्षाओं तक माध्यम तथा स्वतंत्र विषय के रूप में हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था हो। कम से कम प्रत्येक प्रदेश में कुछ महाविद्यालय या एक विश्वविद्यालय हिन्दी माध्यम का अवश्य हो। विधान मण्डलों की भाषा

प्रादेशिक ही रहे, किंतु सदस्यों को हिंदी में बोलने का अधिकार हो तथा हिंदी भाषणों के अनुवाद की व्यवस्था की जाए। वक्ता ने आगे कहा कि देश की स्वतंत्रता अँग्रेजी भाषा की अधीनता दूर किए बिना अधूरी है। किंतु स्वतंत्रता की यह भावना सभी प्रदेशों के निवासी तभी अनुभव कर सकते हैं जब उन्हें अपनी भाषा के माध्यम से अपने वैयक्तिक और सामूहिक विकास तथा उसके सबल माध्यम अपनी भाषा और उसके साहित्य के पूर्ण विकास का अवसर मिले। अतः देश की एकता की दृष्टि से हिन्दी के सार्वदेशिक व्यवहार को इस रूप में नियोजित करने की आवश्यकता है जिससे किसी भाषा के विकास को क्षति न पहुँचे, प्रत्युत बल प्राप्त हो। हिंदी का कोई सच्चा समर्थक कभी भी अन्य प्रादेशिक साहित्यों को दबाने की कल्पना भी नहीं कर सकता।

इस परिसंवाद में वंगीय हिन्दी परिषद् के प्रतिनिधि श्री रामशरण पांडेय, श्री हिरण्मय कर्णानट, डा० हरिवंश लाल शर्मा, अलीगढ़ विश्वविद्यालय और श्री जयंत त्रिवेदी, भावनगर (सौराष्ट्र), ने भाग लिया और अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत किए। अंत में प्रो० नागप्पा ने अपना मुद्रित भाषण पढ़ कर सुनाया। दक्षिण भारत में हिंदी की स्थिति उसके संबंध में विविध प्रकार की ग़लत-सही धारणाओं तथा हिन्दी के प्रचार-प्रभाव का महत्त्वपूर्ण परिचय देते हुए प्रो० नागप्पा ने बताया कि अहिंदी प्रदेशों में अब यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि माध्यमिक शिक्षा में हिंदी सीखना आवश्यक कर दिया जाए तथा विश्वविद्यालयों में उसे वैकल्पिक रखा जाए। सम्पूर्ण शिक्षा प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से ही दी जाए। राज भाषा आयोग की प्रश्नावली के उत्तर में मैसूर विश्वविद्यालय ने जो उत्तर भेजे हैं वे भी इन्हीं विचारों के आधार पर दिए गए हैं। शिक्षा, प्रशासन, न्यायालय, प्रादेशिक सेवा आयोग-सभी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं का ही व्यवहार होना चाहिए। किंतु न्यायालयों की कार्यवाही का हिंदी अनुवाद केंद्रीय न्यायालय को अवश्य प्रेषित किया जाय। अंतरप्रादेशिक तथा केन्द्र के साथ पत्र-व्यवहार में हिंदी का ही प्रयोग आवश्यक है। प्रो० नागप्पा ने बताया कि सर्व सम्मत धारणा यह जान पड़ती है कि लोग उन पर ज़बर्दस्ती हिंदी लादे जाने का विरोध करते हैं। अतः उच्च से उच्च हिंदी शिक्षण और अध्ययन की सुविधाएँ देते हुए भी उसे ऐच्छिक रखना ही उचित है। साथ ही उन्होंने सुझाव दिया कि दक्षिण के विद्यार्थियों को उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में भेजने की व्यवस्था होनी चाहिए और छात्र-वृत्तियों के रूप में सुविधाएँ प्रदान करना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में दक्षिण की किसी भाषा का सीखना आवश्यक कर दिया जाए। अंत में प्रो० नागप्पा ने बताया कि हिंदी साहित्य किस प्रकार दक्षिण में मूल तथा अनुवादों के रूप में लोक-प्रिय हो रहा है और उसके द्वारा भारतीयता की व्यापक भावना पैदा हो रही है।

निबन्ध गोष्ठी

परिषद् के अधिवेशनों का एक महत्त्वपूर्ण अंग शोध-निबंधों के पाठ और उन पर विचार विमर्श की गोष्ठियों का आयोजन है। समयाभाव के कारण इस बार केवल एक निबंध-गोष्ठी हो सकी। मनोनीत सभापतियों—डा० सत्येन्द्र, आगरा तथा डा० धर्मेंद्र-ब्रह्मचारी, पटना के उपस्थित न हो सकने के कारण डा० सोमनाथ गुप्त, जोधपुर ने इस गोष्ठी की अध्यक्षता का कार्य भार सँभाला। प्रारम्भ में डा० गुप्त ने इस कार्यक्रम की महत्ता पर प्रकाश

डाला तथा हिंदी शोध की विभिन्न दिशाओं का निर्देश करते हुए हिन्दी के विद्यार्थियों और शोध-कर्त्ताओं को अनेक सुझाव दिए। गोष्ठी में निम्नलिखित निबंध पढ़े गए :—

(१) अपभ्रंश में रासक का विकास : डा० दशरथ ओझा, दिल्ली,
(२) पद्माकर का वीर काव्य : प्रो० भारतेंदु सिनहा, बड़ौदा
(३) राम साहित्य का एक विस्मृत कवि : डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, लखनऊ
(४) संत रज्जब दास : डा० शिवशेषर मिश्र, लखनऊ
(५) रासो की परम्परा : प्रो० उदय सिंह भटनागर, बड़ौदा
(६) ज्ञानू जू और उनका वीर विलास : डा० टीकमसिंह तोमर, आगरा
(७) रामानन्द सम्प्रदाय के हिन्दी कवि : डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव फ़ैज़ाबाद
(८) विभिन्न भाषा-साहित्यों में चंद्रगुप्त-चाणक्य की कथा : प्रो० श्री० ना० बनहट्टी, पूना
(९) नागपुरी हिन्दी : प्रो० विनय मोहन शर्मा, नागपुर। इनके अतिरिक्त डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी, प्रो० आनंद प्रकाश दीक्षित, गोरखपुर, श्री गोपालचंद्र सिंह, लखनऊ तथा डा० सरनदास भणोत के शोध-निबंध भी प्राप्त हुए थे। पठित निबंधों पर अनेक विद्वानों ने विचार-विमर्श तथा शंका-समाधान किया।

कार्य समिति, प्रतिनिधि मण्डल, और साधारण सभा

वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर परिषद् की कार्य समिति, प्रतिनिधि मंडल और साधारण सभा की भी बैठकें कार्य संचालन संबन्धी विषयों पर विचार और निर्णय करने के लिए होती हैं। सबसे पहले कार्य समिति की बैठक हुई और उसमें अधिवेशन के कार्य-क्रम, व्यवस्था तथा प्रस्ताव के संबध में निर्णय किए गए। प्रतिनिधि मंडल और साधारण सभा की बैठक सम्मिलित रूप में हुई और उसमें प्रधान मंत्री ने परिषद् का वार्षिक विवरण उपस्थित करते हुए क्षमा-याचना की कि परिषद् का वार्षिक लेखा और आगामी वर्ष का आय-व्यय अनुमान-पत्र कोषाध्यक्ष के आकस्मिक अस्वस्थ हो जाने के कारण प्रस्तुत नहीं किया जा सका। वह यथा शीघ्र 'हिन्दी अनुशीलन' में प्रकाशित कर दिया जाएगा। प्रधान मन्त्री ने सदस्यों और प्रतिनिधियों को अधिवेशन में उपस्थित होने के लिए धन्यवाद दिया तथा आशा प्रकट की कि वे परिषद् को अधिकाधिक व्यापक और उपयोगी बनाने के लिए पूर्ण सहयोग देते रहेंगे। यह चिन्ता और क्षोभ का विषय है कि हिंदी प्राध्यापकों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था होते हुए भी अभी तक परिषद् को कोई सरकारी सहायता नहीं मिली है। अतः परिषद् के प्रतिनिधियों और सदस्यों को उसे शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय करना चाहिए। इस बैठक में आगे दिए हुए प्रस्ताव भी पारित हुए।

समापन

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन की समाप्ति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में खुले अधिवेशन के रूप में हुई और उसमें प्रस्तावों को अंतिम रूप में स्वीकृत किया गया। अनेक वक्ताओं ने अधिवेशन की सफलता पर संतोष प्रकट किया तथा उसके संयोजकों को धन्यवाद दिया। धन्यवाद देने वालों में स्वागत समिति के प्रधान मंत्री प्रो० विनयमोहन शर्मा, परिषद् के प्रधान मन्त्री डा० श्रीकृष्णलाल, उप-सभापति डा० रामकुमार वर्मा तथा सभापति

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। सभापति और उप-सभापति महोदय ने विशेष रूप से नागपुर विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश सरकार और उसके भाषा-विभाग तथा प्रो० विनयमोहन शर्मा, प्रो० गोपाल गुप्त और प्रो० इन्द्रदेव आर्य को अधिवेशन को आमंत्रित करने, उसके लिए समुचित धन की व्यवस्था करने, सदस्यों के ठहराने का सुंदर प्रबंध करने तथा अत्यन्त आकर्षक और रोचक नृत्य, संगीत, अभिनय आदि के सांस्कृतिक आयोजन करने के लिए आभार प्रकट किया।

परिषद् के उपर्युक्त तीनों अधिकारियों ने अपनी ओर से तथा सम्पूर्ण परिषद् की ओर से केंद्रीय रेल मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को हार्दिक धन्यवाद दिया जिनकी कृपा से परिषद् को उन अखिल भारतीय संस्थाओं की सूची में सम्मिलित कर लिया गया है जिनके अधिवेशन में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों को एक ओर के किराए की छूट मिलती है। परिषद् को अब तक इस छूट के लिए प्रति वर्ष प्रार्थना पत्र भेजना पड़ता था और छूट मिलने में विलंब होने के कारण परिषद् के कार्यालय तथा प्रतिनिधियों को बहुत असुविधा होती थी। अब श्री लालबहादुर शास्त्री की कृपा से परिषद् को सदा के लिए इस अनावश्यक असुविधा से मुक्ति मिल गई है। यह अत्यन्त संतोष का विषय है।

प्रस्ताव

परिषद् ने दो शोक प्रस्ताव तथा तीन तथा अन्य प्रस्ताव स्वीकृत किए, जो क्रमशः कार्य समिति, प्रतिनिधि मंडल और साधारण सभा तथा खुले अधिवेशन में पारित हुए।

पहले शोक प्रस्ताव में संस्कृति और साहित्य के मनीषी, हिंदी के महान् व्रती तथा भारतीय हिन्दी परिषद् के प्रथम संरक्षक डा० अमरनाथ झा के आकस्मिक निधन पर, जिससे समस्त हिंदी क्षेत्र का नेतृत्व शिथिल पड़ गया है हार्दिक शोक प्रकट किया गया तथा डा० झा के परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हुए उनकी आत्मा के लिए शांति की कामना की गई। दूसरे शोक प्रस्ताव में प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा हिंदी साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने वाले श्री गांगेय नरोत्तय शास्त्री के निधन पर हार्दिक दुःख प्रकट करते हुए उनके परिवार के लिए धैर्य तथा उनकी आत्मा के लिए शान्ति की कामना की गई।

इंडिया आफ़िस पुस्तकालय के सम्बन्ध में स्वयं परिषद् के सभापति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसमें उक्त पुस्तकालय को प्राप्त करने में केंद्रीय शासन को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है उन पर चिन्ता प्रकट की गई तथा केन्द्रीय शासन से अनुरोध किया गया कि वह भारत की इस बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि को प्राप्त करने का अविलंब प्रत्येक संभव उपाय करे तथा इस सम्बन्ध में हुई प्रगति से देश को अवगत करता रहे।

दूसरा प्रस्ताव परिषद् के प्रधान मन्त्री डा० श्रीकृष्णलाल ने उपस्थित किया और डा० सोमनाथ गुप्त ने उसका समर्थन किया। इसमें केन्द्रीय तथा राज्य शासनों से अनुरोध किया गया है कि वे देश और विदेश में बिखरी हुई हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज तथा उनके संग्रह की योजना बनाएँ और अप्राप्य पुस्तकों की माइक्रोफ़िल्म प्रतियाँ लेने की व्यवस्था करें। प्रस्ताव में देश के प्रमुख स्थानों पर अनुसंधान संग्रहालय स्थापित करने की भी मांग की गई।

तीसरा प्रस्ताव प्रो० ना० नागप्पा ने उपस्थित किया और उसका समर्थन डा० माता प्रसाद गुप्त ने किया। इस में कहा गया है कि समस्त विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान के स्तर में समानता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी और अहिन्दी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के हिन्दी तथा हिन्दी माध्यम से विविध विषयों का अध्यापन करने वाले अध्यापकों में संबंधित विश्वविद्यालयों की स्वेच्छा के अनुसार आदान-प्रदान किया जाए। इस आदान-प्रदान की अवधि दो से तीन वर्ष तक रहे तथा इस आयोजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए भारत सरकार से विश्वविद्यालयों को विशेष अनुदान दिया जाए।

—साहित्य मंत्री

सन् १९५५ का आय-व्यय का लेखा

(कार्य समिति की २०-१-५६ की बैठक में स्वीकृत)

आय

	रु०	आ०	पा०
गत वर्ष का शेष	२५९	३	७
सदस्यता-शुल्क	६५५	८	०
आजीवन स० शुल्क	२००	०	०
आजीवन स० शुल्क	१००	०	०
'अनु०'-ग्राहक शुल्क	८४	९	०
'अनु०' की फुटकर बिक्री	१०२	१०	०
सभासद-शुल्क	४८	११	०
हिंदी माध्यम पा० ग्र० तथा कोष की बिक्री	७०	२	३
जयपुर अधिवेशन शुल्क	४	०	०
नागपुर अधिवेशन शुल्क	२८	०	०

व्यय

	रु०	आ०	पा०
'अनुशीलन' की छपाई			
जिल्द, कागज, आदि	७६२	२	०
डाक-व्यय, टाइपिंग आदि और प्रबंध	२८९	१	०
मंत्री का अग्रिम			
लिपिक और चपरासी	५७	८	०
भूतपूर्व मंत्री द्वारा व्यय	७२	०	०
रजिस्टर, लैटर पैड, मुहर आदि	५३	१४	०
भाषा आयोग के संबंध में	१६	६	०
अधिवेशन के संबंध में	३१	१०	०
बैंक चार्जेज़	११	८	०
योग =	१२९४	१	०

आय				व्यय			
				रोकड़ी :—			
				दिसंबर तक बैंक में २००) का चेक जो दिसंबर में दिया गया, किंतु जो अभी भुनकर नहीं आया [इसमें से ॥) कटेंगे तो ऊपर बैंक चार्जेज़ में दिखा दिए गए हैं]	१७	२	१०
					१६६	८	०
'अनु०' में विज्ञापन (प्र० वि०हिंदी परिषद्)	८६	७	०	हाथ में [१००) का एक चेक और रु० २४-४-३ नकद]	१२४	४	३
भूतपूर्व मंत्री द्वारा वापिस	११	०	०				
साहित्य-मंत्री द्वारा वापिस	०	१३	३	डाकखाने में	५	०	०
योग =	१६४०	०	१	योग =	१६४०	०	१

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
कोषाध्यक्ष

सन् ५६ के आय-व्यय का अनुमान-पत्र

आय

	रु०	आ०	पा०
गत वर्ष का शेष	३४५	१५	१
सदस्यता शुल्क	१०००	०	०
'हिंदी अनुशीलन' से आय	५००	०	०
संभवित अनुदान	५०००	०	०
नागपुर अधिवेशन शुल्क	१५०	०	०
योग =	६९९५	१५	१

व्यय

	रु०	आ०	पा०
'हिंदी अनुशीलन' की छपाई आदि के लिए	१०००	०	०
पत्र-व्यवहार	४००	०	०
चपरासी और लिपिक	३००	०	०
मार्ग-व्यय	१००	०	०
वार्षिक अधिवेशन	१००	०	०
साहित्य का इतिहास	३०००	०	०
योग =	४९००	०	०

	रु०	आ०	पा०
शेष :	२०९५	१५	१

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
कोषाध्यक्ष

विज्ञप्ति

'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष ८ अंक १—२ में प्रकाशित 'हिंदी शोध के पचीस वर्ष' शीर्षक लेख संशोधित और परिवर्द्धित रूप में पृथक् प्रकाशित किया गया है। जिन्हें आवश्यकता हो वे चार आना मूल्य तथा दो आना डाक व्यय भेज कर मँगा सकते हैं।

संपादकीय

स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव

आचार्य नरेन्द्रदेव के निधन द्वारा देश के राजनीतिक जीवन से भी अधिक विद्वज्जीवन की अपार क्षति हुई है। भारत के प्राचीन इतिहास—विशेष रूप से बौद्ध धर्म और दर्शन के आचार्य जी प्रकांड पंडित थे। किन्तु मूल रूप से विद्या-व्यसनी और विचारक होते हुए भी अन्य अनेक प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों की भाँति वे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के आह्वान पर स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े थे और अध्ययन और लेखन को उन्होंने अधिकतर जेल-जीवन के अवकाश के लिए ही सुरक्षित रख पाया था। कारावास में ही उन्होंने वसुबंधु के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिधर्म दर्शन' का विस्तृत अध्ययन किया था जिसके फल स्वरूप वे उसका अनुवाद प्रस्तुत करके हिंदी को एक स्थायी संपत्ति प्रदान कर सके। विरोधी दल की राजनीति के अत्यंत संघर्षमय जीवन में आजीवन अस्वस्थता की अतिरिक्त बाधा के होते हुए भी वे अपनी 'बौद्ध धर्म दर्शन' नामक मौलिक विवेचनापूर्ण कृति समाप्त कर सके यह हमारे लिए थोड़े बहुत संतोष की बात हो सकती है। किन्तु वास्तव में हमें यदि भारत की सर्वग्राही राजनीति से उन्हें अवकाश मिल सकता तो लोगों का अनुमान है कि उनका असामयिक देहावसान न हुआ होता और हमें विश्वास है कि वे निश्चय ही हिंदी को धर्म, दर्शन, समाज-शास्त्र और शिक्षा-शास्त्र संबंधी उपयोगी साहित्य से अधिकाधिक समृद्ध करते। आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय पुरातत्त्व के उस अंग के विशेषज्ञ थे जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारी राजनीति को महान् आदर्शों द्वारा सबसे अधिक अनुप्राणित किया है। यह आकस्मिक संयोग की बात नहीं है। भावी भारत के प्रथम निर्याता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 'हिंदुस्तान की कहानी' में स्वीकार किया है कि आचार्य नरेन्द्र देव से उन्हें अहमदनगर जेल में इस पुस्तक के लिखने में बहुमूल्य सहायता मिली थी। हिन्दी के लिए यह कितने गौरव की बात होगी यदि हमारे देश के गौरव, नेहरू जी की यह पुस्तक मूल रूप में हिंदी में प्रकाशित होती। किंतु, हिंदी प्रदेश के इस दुर्भाग्य को कि वहाँ के नेता और विचारक अंग्रेज़ी में ही लिखना उचित समझते रहे हैं आचार्य नरेन्द्रदेव ने मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। उनके उपयुक्त ग्रंथ निश्चय ही हिंदी की गौरव वृद्धि में सहायक होंगे। उनकी 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' नामक कृति भी न केवल विचार और चिंतन की दृष्टि से एक अमूल्य कृति है, वरन् उसके द्वारा हिंदी में राजनीतिक और समाज शास्त्रीय विषयों की रचना को भी प्रगति प्राप्त हुई है।

हिंदी में उपयोगी साहित्य के निर्माण के लिए आचार्य जी बहुत चिंतित थे। भारतीय हिंदी परिषद् के अप्रैल १९५३ में हुए विशेष अधिवेशन के अवसर पर आचार्य जी की प्रेरणा से ही परिषद् ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हीं की अध्यक्षता में एक समिति

बनाई थी। यद्यपि अपनी व्यस्तता और अस्वस्थता के कारण आचार्य जी समिति के कार्य में अधिक योग नहीं दे सके, किंतु उनकी प्रारंभिक प्रेरणा और गहरी दिलचस्पी के ही कारण समिति ने विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले समस्त विषयों के हिंदी में उपलब्ध तथा उपलब्ध किए जाने योग्य पाठ्य ग्रन्थों की एक संपूर्ण सूची तैयार करके 'हिंदी माध्यम के पाठ्य ग्रंथ' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित की तथा पाठ्य ग्रंथ प्रकाशन को एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करके उत्तर प्रदेश तथा केन्द्र की सरकारों के सामने प्रेषित की। आचार्य जी का विचार था कि विश्वविद्यालय की शिक्षा में हिंदी माध्यम को व्यवहार में लाने तथा उसके लिए उपयोगी साहित्य को प्रस्तुत करने का कार्य साथ साथ होना चाहिए और इसके लिए पारिभाषिक शब्द-निर्माण की प्रतीक्षा उतनी अपेक्षित नहीं है। शब्दों का वास्तविक मूल्य उनके व्यवहार से निर्धारित होता है।

भारतीय हिन्दी परिषद् के कार्यों में आचार्य जी की स्वाभाविक अभिरुचि थी, क्योंकि उच्च शिक्षा के साथ उनका घनिष्ट संबंध था। मार्च १९५० के आठवें वार्षिक अधिवेशन के सभापति पद से दिए भाषण में आचार्य जी ने हिंदी संस्थाओं को अपनी भाषा संबंधी नीति स्थिर करने में उदारता और व्यावहारिकता का दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी थी तथा पारिभाषिक शब्द निर्माण, पाठ्य ग्रंथ निर्माण आदि रचनात्मक कार्यों के लिए हिन्दी की संस्थाओं को धन की यथेष्ट सहायता देने के लिए सरकार से अनुरोध किया था। उस समय आचार्य जी एशिया के पूर्वीय देशों का दौरा करके लौटे थे। उन्होने बताया था कि भारत की भाषा और संस्कृति ने उन देशों को कितना प्रभावित किया है। यह संभव है कि भविष्य में हिन्दी भी एशिया की एकता में योग-दान करे, किन्तु हमें अपनी ओर से इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता की गौरवपूर्ण चर्चा नहीं करना चाहिए। परिषद् के १९५३ के विशेष अधिवेशन का ऊपर उल्लेख किया गया है। आचार्य जी ने इस अधिवेशन का उद्घाटन किया था तथा उस गोष्ठी का सभापतित्व भी किया था जिसमें परिषद् ने 'हिन्दी और शिक्षा' संबंधी विषय पर उसके प्रत्येक पक्ष और स्तर के संबंध में अपनी नीति की विस्तार के साथ घोषणा की थी। आचार्य जी द्वारा उद्घाटित परिषद् का यह विशेष अधिवेशन उस समय तक स्मरणीय रहेगा जब तक शिक्षा और शासन के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी का स्थान निश्चित् और स्थिर नहीं हो जाएगा तथा उसका अन्य भाषाओं के साथ क्या संबन्ध होना चाहिए इस विषय में मतैक्य नहीं हो जाएगा। इन महत्वपूर्ण प्रश्नों के संबंध में भारतीय हिन्दी परिषद् के उदारता और व्यावहारिकतापूर्ण सुनिश्चित और विस्तृत निर्णय जिनका कुछ महानुभावों ने हिन्दी के 'चार्टर' के नाम से अभिनंदन किया है, आचार्य जी के आशीर्वाद और शुभ कामनाओं से परिपोषित थे। अतः इस संबंध में भी हम आचार्य जी का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते रहेंगे।

हम आचार्य जी के असामयिक देहावसान से अत्यन्त दुखी हैं। ईश्वर उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करे।

राज भाषा आयोग की प्रगति

राज भाषा आयोग ने देश के विभिन्न भागों का दौरा करके सरकारी और ग़ैर सरकारी उन समस्त संस्थाओं तथा विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के उन समस्त व्यक्तियों के मतों को एकत्र

कर लिया है जो इस विषय में अभिरुचि रखते हैं तथा जो अपना मत आयोग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे। पत्रों में प्रकाशित समाचारों के द्वारा हमें इस संबंध में जो ज्ञात हुआ है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि आयोग के सम्मुख कहीं भी यह मत नहीं व्यक्त किया गया कि हिन्दी के स्थान पर किसी अन्य भाषा को राज भाषा बनाया जा सकता है। इस प्रकार की साक्षियां भी लगभग नगण्य हैं जिनमें हिन्दी के राज भाषा रूप में प्रयुक्त होने की अवधि बढ़ाने की मांग की गई हो। अतः यह निश्चित् है कि राज भाषा आयोग के सम्मुख यह प्रश्न नहीं है कि हिन्दी राज भाषा हो या न हो। उसका कार्य इससे गुरुतर है और वह यह कि नियत अवधि के भीतर हिन्दी को किस प्रकार सक्षम बनाना चाहिए जिससे कि वह उसके बाद पूर्ण रूप से अपना राज भाषा का पद सँभाल सके। इसी धारणा से मद्रास के एक अपवाद के साथ आयोग का देश भर में सर्वत्र स्वागत किया गया है।

मद्रास में हिन्दी के विरोध के कारण शुद्ध राजनीतिक हैं, किन्तु हैं वे वस्तुतः भ्रम-पूर्ण और निराधार। उनके संबंध में उत्तर भारत के प्रतिक्रियावादी, अंग्रेज़ी के अंध भक्त प्रायः जो अतिशयोक्ति करने लगते हैं उसका कोई औचित्य नहीं हैं। मद्रास के राजनीतिक क्षेत्र में असंतुष्ट और कुंठित थोड़े से वर्गों और व्यक्तियों के हिन्दी-विरोध को बढ़ा चढ़ा कर दक्षिण भारत को हिन्दी-विरोधी समझना स्वेच्छापूर्ण कल्पना मात्र है। इस स्वेच्छापूर्ण कल्पना के पीछे वही अनुदार और विफल मनोवृत्ति है जिसके कारण स्वराज्य का विरोध करते हुए कहा जाता था कि यदि अंग्रेज़ चले गए तो अराजकता फैल जाएगी। राज्य पुनर्गठन की योजना के फलस्वरूप जो यत्र-तत्र उपद्रव हुए हैं उन्हें भी राज भाषा हिंदी के विरुद्ध भय का वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से उद्धृत किया जाता है। किन्तु वास्तव में उपर्युक्त उपद्रवों से यदि कोई शिक्षा मिलती है तो यही कि देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए हमें एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो जन-जीवन में प्रवेश करके उसकी संकीर्ण प्रांतीयता की प्रवृत्तियों को मिटा सके तथा देश की विभिन्न भाषाओं और उनके बोलने वालों के बीच एक सामान्य शृंखला बन सके। देश के समझदार लोगो ने इसे अच्छी तरह महसूस किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि राज्य पुनर्गठन योजना के बाद इस आशय की साक्षी कहीं अधिक मात्रा में आई है जिसमें सर्वत्र उच्च शिक्षा के माध्यम तथा प्रादेशिक उच्च न्यायालयों की भाषा के रूप में हिन्दी की ही मांग की गई है। किन्तु इस संबंध में यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यदि हिन्दी को प्रादेशिक शिक्षा और न्याय व्यवस्था में स्थान देने के लिए राज भाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग की अवधि को बढ़ाने का कोई भी संकेत किया जाता है तो उसे देश कदापि स्वीकार न करेगा और इसे वह पुराने अंग्रेज़ी भक्तों का स्वार्थ और कुचक्र ही समझेगा।

आयोग के सम्मुख सबसे अधिक कठिन समस्या संघीय लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के माध्यम की है। कांग्रेस का यह सुझाव कि संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित सभी भाषाएँ उक्त परीक्षाओं की माध्यम बनाई जाएँ कदाचित् किसी प्रकार व्यावहारिक अथवा वांछनीय नहीं समझा जा सकता। इसके विरुद्ध तर्क इतने स्पष्ट और प्रबल हैं कि उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, यह डर किसी अंश में स्वाभाविक कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषी प्रतियोगियों को हिन्दी माध्यम हो जाने पर एक विशेष

सुविधा रहेगी और वे सरकारी नौकरियों में अन्य भाषा भाषियों की अपेक्षा अधिक संख्या में पहुँच जाएँगे। इसके उत्तर में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। कहा जा सकता है कि इतने दिनों से अंग्रेज़ी माध्यम के कारण हिन्दी तर भाषा-भाषियों—विशेष रूप से दक्षिण के निवासियों को सरकारी नौकरियों में प्रविष्ट होने के लिए जो विशेष सुविधा रही है उसके विरुद्ध तो हिंन्दी भाषी प्रदेशों ने कभी शोर नहीं मचाया, प्रत्युत वे अंग्रेज़ी की योग्यता को बढ़ाने की चेष्टा करते हुए ही प्रतियोगिताओं में सम्मिलित होते रहे हैं। किन्तु यह तर्क उपस्थित करना उचित नहीं है। अ-हिन्दी भाषियों को इतना विश्वास हम अवश्य दिलाना चाहते हैं कि उन्हें उचित सख्या में सरकारी नौकरियां दिलाने के लिए जो भी अनुबंध या प्रतिबन्ध लगाए जाएँ उनका हिंदी भाषी हृदय से समर्थन करेंगे। इस उद्देश्य से यदि केन्द्रीय नौकरियों के लिए प्रदेशों की जन संख्या के आधार पर अनुपात स्थिर किया गया तो अ-हिंदी भाषी प्रदेशों का क्या हित होगा यह हम नहीं समझ पाते। क्या यह सच नहीं है कि पारिभाषिक शब्दावली समान होने पर अ-हिन्दी भाषी प्रदेशों के प्रतियोगियों की असुविधा की मात्रा बहुत कम हो जाएगी? और, क्या यह भी सच नहीं है कि हिंदी प्रदेशों के मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बुंदेली, कनौजी, ब्रज, खड़ी बोली, मेवाड़ी, मालवी, मारवाड़ी, और पहाड़ी बोलियां बोलने वाले इस भ्रम में कि हिन्दी अर्थात् परिनिष्ठित हिंदी उनकी मातृ-भाषा ही है उसके व्याकरण की चिंता नहीं करते और सर्वोच्च कक्षाओं तक बोलियों के प्रभाव से मुक्ति नहीं पा सकते? बोलियों के प्रभावों से मुक्त रह कर परिनिष्ठित हिंदी को व्याकरण के द्वारा सीखने वाले अ-हिंदी भाषी निश्चय ही हिंदी के प्रयोग में हिंदी भाषियों से अधिक व्युत्पन्न हो जाएँगे इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए। प्रश्न केवल मनोवृत्ति को बदल कर यह स्वीकार कर लेने का है कि हिन्दी हमारी भाषा है उस पर हमारा सबका समान अधिकार है।

किन्तु हिन्दी पर सबका समान अधिकार हो जाने का यह तात्पर्य कदापि न समझा जाए कि सबको समान रूप से उसमें मनमाने परिवर्तन करने का अधिकार है। भाषा भी एक जीवित प्राणी के समान परम्परा और परिस्थिति दोनों के सम्मिलित आधार और प्रभाव से विकसित होती है। उसकी परिस्थिति का विस्तार निश्चय ही संपर्क की घनिष्ठता के अनुरोध से उसे प्रादेशिक भाषाओं के प्रभावों को अधिकाधिक ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त करेगा। किन्तु इन प्रभावों को आरोपित करने की कोई चेष्टा अथवा उसके लिंग-प्रयोग आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की छूट स्वीकृत नहीं की जा सकती। एक जीवित भाषा को बिगाड़ने से किसी का लाभ न होगा। राज भाषा हिन्दी के रूप के संबन्ध में आयोग के सम्मुख सरल हिन्दी का प्रश्न भी उठाया गया है। उत्तर प्रदेश सरकार ने अत्यन्त परिश्रम और योग्यता से तैयार किया हुआ जो ज्ञापन (मेमोरेंडम) आयोग के सम्मुख उपस्थित किया है वही इस प्रश्न का व्यवहारिक उत्तर है। उस ज्ञापन में हिन्दी की उन विविध शैलियों के नमूने दिए गए हैं जो विभिन्न राजकीय कार्यों में—विधान सभा के भाषणों, राजकीय पत्र-व्यवहार, विधेयकों, अध्यादेशों आदि में—प्रयुक्त होती हैं। हिन्दी को अनावश्यक रूप से संस्कृत-निष्ठ बनाने के पक्ष में कोई समझदार व्यक्ति नहीं है; किन्तु उसकी संस्कृत-निष्ठ होने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आवश्यकता पड़ने पर हम उधार लेने के पहले अपना गड़ा धन ही तो खोद कर निकालते हैं?

राज भाषा आयोग जब आगामी नौ वर्षों की अवधि में हिन्दी को राज भाषा पद के योग्य सम्पन्न और समर्थ बनाने के लिए अपेक्षित कार्यक्रम पर विचार करेगा तो स्वभावतया वह इस निश्चय पर पहुँचेगा कि इतना अधिक कार्य किसी मन्त्रालय के एक विभाग द्वारा नहीं कराया जा सकता। इसके लिए एक पृथक् मन्त्रालय की अनिवार्य आवश्यकता है। हिन्दी की सभी ज़िम्मेदार संस्थाओं ने उसकी माँग की है। भले ही कुछ लोगों ने उसे उपस्थित करते हुए भावावेश में आकर किन्हीं मान्य महानुभावों पर अनुचित आक्षेप कर दिए हों, किन्तु उस माँग के पीछे मूलतः भाव यही है कि हिन्दी का यह गुरु गम्भीर कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब उसे संचालित करने का भार उसके प्रति स्वाभाविक सहानुभूति रखने वाले, अधिक क्रियाशील व्यक्ति को एकांत रूप से दिया जाए, साथ ही उस कार्य को करने वाले व्यक्तियों में सरकारी अफ़सरी या काग़ज़ी काम से संतुष्ट होने वाले कर्मचारियों की मनोवृत्ति के स्थान पर पवित्र कर्तव्य की भावना हो। हिन्दी का कार्य भारत के पुनर्निर्माण का ही एक अभिन्न अंग है, अतः उसके लिए हार्दिक उत्साह और अथक परिश्रम की आवश्यकता है। हिन्दी के कार्य कर्ताओं में ऐसे योग्य उत्साही, परिश्रमी और निष्ठावान व्यक्तियों की कमी नहीं है। आवश्यकता केवल उन्हें कार्य में लगाने की है।

शिक्षा का स्तर और अँग्रेज़ी

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूनीवर्सिटीज़ ग्रांट्स कमीशन) ने विश्वविद्यालय की शिक्षा के गिरते हुए स्तर को देख कर यह अनुमान किया कि इसका मुख्य कारण यह है कि इधर जब से उत्तरोत्तर हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जा रहा है, अँग्रेज़ी का महत्त्व घट गया है तथा उसके अध्ययन-अध्यापन की ओर उदासीनता बढ़ रही है। इसी अनुमान के आधारों और प्रमाणों की खोजें करने के लिए एक समिति बनाई गई है जिसके अध्यक्ष डा० हृदय नाथ कुंज़रू हैं। इस समिति ने भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में जा कर साक्षी एकत्र की है। यह कार्य ठीक उस समय हो रहा है जब राज भाषा आयोग भी हिन्दी की प्रगति की जाँच कर रहा है। अनुदान आयोग की समिति की जाँच के परिणाम और निर्णय कदाचित् आयोग की रिपोर्ट के आस-पास ही प्रकाशित किए जाएँ।

आश्चर्य है कि अनुदान आयोग ने यह धारणा पहले से ही क्यों बना ली कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है और उसका मुख्य कारण कदाचित् अँग्रेज़ी के अध्ययन की उपेक्षा है। पूर्वाग्रह के साथ प्रारम्भ करके सत्य को प्राप्त करना कभी सम्भव हुआ है? यदि अनुदान आयोग को स्तर के गिरने न गिरने के प्रश्न पर विचार करना था तो उसे एक ऐसी समिति बनानी चाहिए थी जो इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि शिक्षा का स्तर क्या वास्तव में गिर रहा है और यदि गिर रहा है तो उसका रूप क्या है, यह जाँच करती कि स्तर गिरने के वास्तविक कारण क्या हैं? उसके अंतर्गत अँग्रेज़ी के अध्ययन का प्रश्न भी आ सकता था। किन्तु हमारे उन थोड़े से बुज़ुर्गों को जिन्होंने प्राथमिक कक्षाओं से अँगरेजी में ही पढ़ा-लिखा और उस भाषा में ऐसी दक्षता प्राप्त की कि बोल-चाल और व्यवहार में बड़े-बड़े अँगरेज़ों को मात कर दिया, आज अँगरेज़ी स्पेलिंग, ग्रामर और ईडियम की भयंकर भूलों को देख कर हार्दिक क्षोभ होता है। किन्तु हमें दुःख यह है कि वे अँग्रेज़ी शासन के वफ़ादार होते हुए भी उस समय प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति को न रोक सके जब वे क्रमशः प्राथमिक से माध्य-

मिक शिक्षा तक अँग्रेजी को अपदस्थ करती आ रही थीं। आज हमारे वे सम्माननीय बुजुर्ग क्या यह चाहेंगे कि प्रारंभिक शिक्षा में भी अँग्रेज़ी को वही स्थान फिर से मिल जाए जो उनके समय में उसे प्राप्त था? इसके बिना कदाचित् अँगरेज़ी के अध्ययन का स्तर विश्वविद्यालय में उठाया नहीं जा सकता। किन्तु उनके समय में शिक्षा विशिष्ट वर्गों का विशेषाधिकार थी; आज वह जन-गण का जन्म सिद्ध अधिकार है, हमारे अँगरेज़ी भक्त बुजुर्ग यह तथ्य प्रायः भूल जाते हैं। स्तर के गिरने का—अँगरेज़ी के स्तर के गिरने का भी—कोई समझदार व्यक्ति समर्थन नहीं कर सकता, शर्त यह है कि उस स्तर का सामान्य रूप सोच समझ कर स्थिर किया गया हो। अँगरेज़ी के स्तर के सम्बन्ध में चिंतित, अनुदान आयोग की समिति को यह भी विचार करना चाहिए था कि शिक्षा में अँगरेज़ी का स्थान और गौरव जिन प्रादेशिक भाषाओं के कारण घटा है, क्या उनका अध्ययन-अध्यापन उचित ढंग से, उचित स्तर का हो रहा है? कहीं शिक्षा का स्तर गिरने का वास्तविक कारण शिक्षा संचालकों की भाषा-नीति की द्विविधा तो नहीं है?

शिक्षा का स्तर निःसंदेह बहुत सीमा तक भाषा-ज्ञान पर आधारित है। किन्तु फिर भी भाषा साधन है, और यह कठोर सत्य है कि कोई भी विदेशी भाषा, शिक्षा का माध्यम हो कर साध्य बन बैठती है और जीवन का बहुमूल्य समय उसी को सीखने में नष्ट हो जाता है। यदि अँग्रेज़ी के ज्ञान और विविध विषयों के ज्ञान में परिमाण का परस्पर क्या अनुपात है, इस विषय के आंकड़े भी उपर्युक्त समिति ने एकत्र किए हों तो उसे मालूम हुआ होगा कि यह आवश्यक नहीं है कि जो अँग्रेज़ी का अच्छा जानकार है वह उसी अनुपात से रसायन या अर्थ-शास्त्र का भी जानकार हो। फिर भी, भाषा-ज्ञान शिक्षा की आधार-शिला है। वह आधार शिला अँग्रेज़ी नहीं रह सकती। अनुदान आयोग के योग्य सदस्यों को यह भली भाँति समझ लेना चाहिए और उन्हें मान लेना चाहिए कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन के स्तर को उठाने तथा उनमें विविध विषयों के उच्च से उच्च साहित्य की रचना कराने से ही शिक्षा के स्तर में वास्तविक सुधार किया जा सकेगा। अँग्रेजी को लौटाने के प्रयत्न केवल द्विविधा, संशय और अन्त में क्षोभ की भावना पैदा करने में ही सहायक होंगे। अनुदान आयोग विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच विषय-विभाजन तथा उचित आर्थिक व्यवस्था करके हिन्दी में विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए साहित्य-निर्माण की दिशा में अग्रसर हो तभी हम समझेंगे कि वह अपने दायित्व को समझ सका है।

भाषा-विज्ञान का ग्रीष्म कालीन सत्र

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी डेकन कालिज पूना के पोस्ट ग्रेजुएट और रिसर्च इंस्टीट्यूट के तत्त्वाधान में ३० अप्रैल से २३ जून १९५६ तक ग्रीष्म कालीन सत्र का आयोजन किया गया है। इसमें चार प्रकार के पाठ्य क्रम रहेंगे: (क) प्रारम्भिक पाठ्य-क्रम जिसमें (१) भाषा-विज्ञान की भूमिका पर व्याख्यान (२) ध्वनि-विज्ञान पर व्याख्यान और अभ्यास तथा फ़ोनेमिक्स पर व्याख्यान होंगे; (ख) विवरणात्मक भाषा-विज्ञान का उच्च पाठ्य-क्रम, जिसमें (४) उच्च फ़ोनेमिक्स पर व्याख्यान और अभ्यास, (५) पद-विज्ञान पर व्याख्यान, (६) उच्च ध्वनि-विज्ञान पर व्याख्यान और अभ्यास, (७) बोलियों के भूगोल पर व्याख्यान

तथा व्यावहारिक क्षेत्रीय कार्य का अभ्यास जिसका उपयोग भारत के भाषा सर्वे के लिए किया जा सके, (८) क्षेत्रीय कार्य की पद्धतियों अर्थात् जीवित भाषा को लिपि बद्ध करने और उसके विश्लेषण करने का अभ्यास तथा (९) यांत्रिक ध्वनि-विज्ञान अर्थात् भाषा की प्रयोगशाला की पद्धतियों का अभ्यास सम्मिलित है ; (ग) ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का उच्च पाठ्य-क्रम, जिसमें (१०) तुलनात्मक पद्धति का व्यावहारिक अध्ययन (११) आर्य भाषा (भारत-योरुपीय) के तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन की पद्धतियों और समस्याओं का अध्ययन, (१२) संस्कृत के ऐतिहासिक व्याकरण का अध्ययन, (१३) भारतीय आर्य भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण का अध्ययन, (१४) द्रविड भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण का अध्ययन, (१५) किसी आधुनिक आर्य भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण का अध्ययन तथा (१६) किसी आधुनिक द्रविड भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण का अध्ययन सम्मिलित है; (घ) भाषा विज्ञान का प्रयोग, जिसमें (१७) भाषा-शिक्षा की पद्धतियों के अध्ययन , (१८) ऐतिहासिक और विवरणात्मक भाषा विज्ञान पर ट्यूटोरियल और (१९) किसी आधुनिक भारतीय भाषा के गठन पर सेमिनार व्याख्यानों की व्यवस्था की गई है।

नए विद्यार्थियों के लिए (१), (२) और (३) पाठ्य-क्रम अनिवार्य हैं। यदि वे चाहें तो (११) से (१७) तक के पाठ्य-क्रमों में से कोई एक और ले सकते हैं। उच्च विद्यार्थियों के लिए (४) और (५) पाठ्य-क्रम अनिवार्य हैं (यदि उन्होंने विगत सत्रों में इन्हें न पढ़ लिया हो)। इनके अतिरिक्त वे (६) से (१७) तक के पाठ्य-क्रमों में से कोई दो पाठ्य-क्रम और ले सकते हैं। उच्च विद्यार्थी अधिक से अधिक चार पाठ्य-क्रम ले सकता है।

यह ग्रीष्म कालीन सत्र सन् १९५९ तक प्रति वर्ष हुआ करेगा। भाषा और भाषा-विज्ञान के स्नातकों और अध्यापकों को इस सत्र से लाभ उठाना चाहिए।

उत्तर प्रदेश के ज़िला गज़ेटियर

उत्तर प्रदेश शासन का यह निर्णय स्तुत्य और अभिनंदनीय है कि वह प्रदेश के ज़िलों के गज़ेटियर संशोधित और अधुनातन सामग्री से परिवर्धित करके प्रकाशित करने का विचार कर रहा है। साहित्य और संस्कृति के शोध-कार्य के लिए ज़िला गज़ेटियरों की सामग्री कितनी मूल्यवान् है इसे कहने की आवश्यकता नहीं। गज़ेटियरों के संशोधन का कार्य माल विभाग के तत्त्वावधान में संपन्न होगा और सम्भवतः उनकी सामग्री माल विभाग के कर्मचारियों द्वारा ही संकलित की जाएगी। किंतु यह न भुला देना चाहिए कि वर्तमान समय में विभागीय सरकारी कर्मचारी नवीन योजनाओं और लोक तांत्रिक व्यवस्था के दैनिक व्यावहारिक कार्यों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि वे इस ऐतिहासिक महत्त्व के कार्य को पूर्ण संतोषजनक रीति से नहीं निभा सकते। कदाचित् इस कार्य के लिए इस विषय के जानकार अधिकारियों की देख रेख में पृथक् विभाग का संगठन करना अनुचित न होगा। किंतु इसके पूर्व संपूर्ण योजना पर विचार करने तथा उसे व्यवस्थित करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति के निर्माण

की आवश्यकता भी जान पड़ती है। इस समिति में पुरातत्त्व, मानव-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, भाषा और लोक साहित्य के विशेषज्ञों को रखना आवश्यक है। विशेषज्ञों की समिति ही यह निर्णय कर सकती है कि वर्तमान गज़ेटियरों की कितनी सामग्री रखी जाए तथा उनमें किन-किन नवीन विषयों का समावेश किया जाए। आशा है उत्तर प्रदेश की सरकार इस महद् आयोजन में विद्वानों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करेगी।

हिन्दी-अनुशीलन

सम्पादक—हजारीप्रसाद द्विवेदी
सहकारी सम्पादक—ब्रजेश्वर वर्मा

वर्ष ८
अंक ४
अक्टूबर-दिसम्बर १९५५ ई०
प्रकाशन तिथि—२० सितम्बर १९५६ ई०

भारतीय हिन्दी परिषद्
प्रयाग

वार्षिक ३) विद्यार्थियों से २) एक अंक का १)

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—पद्मावत में वस्त्र-वर्णन	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	१३६
२—देशी शब्द तत्त्व	डा० हरदेव बाहरी	१४२
३—पाणिनि के कुत्सार्थक सूत्र	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	१५१
४—आगरा जिले की ग्रामीण ब्रजभाषा के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति	श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी	१५८
५—नागरीदास	श्री तारकनाथ अग्रवाल	१६०
६—अलीमुराद कृत 'कुंवरावत'	डॉ० सरला शुक्ल	१६४
७—रासो की परम्परा	प्रो० उदयसिंह भटनागर	१६८
८—ग्रंथानुसंधान—अंबिका देवी पूर्व भव वर्णन तलहारा	श्री अगरचन्द नाहटा	१७५
९—प्रबन्ध-परिचय—रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव	डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव	१८०
१०—शोध प्रकाशन—'ब्रजभाषा'	डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा	१८३
११—सम्पादकीय		१८६

मुद्रक—आजाद प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्,
विश्वविद्यालय प्रयाग

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष ८] अक्टूबर–दिसम्बर, १९५५ ई० [अंक ४

पद्मावत में वस्त्र-वर्णन

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय

जायसी ने दोहा क्रमांक ३२९ [=शुक्ल जी २७।४४] में वस्त्रों का निम्नलिखित वर्णन किया है—

पटुवन्ह चीर आनि सब धारे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे। १।
फुँदिया और कसनिआ राती। छाएल पंडुआए गुजराती। २।
चँदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल की सारी। ३।
चिकवा चीर मेघौना लोने। मोंति लाग और छापे सोने। ४।
सुरँग चीर भल सिंघल दीपी। कीन्ह छाप जो धन्नि वै छीपी। ५।
पेचमा डोरिआ औ बीदरी। स्याम सेत पियरी औ हरी। ६।
सातहुँ रंग जो चित्र चितेरी। भरि कै डीठि जाहिं नहिं हेरी। ७।

पुनि अभरन बहु काढ़ा अनबन भाँति जराउ।
फेरि फेरि निति पहिरहि जैस जैस मनभाउ॥ २७। ४४॥

(१) वस्त्र बुनने वालों ने अनेक प्रकार के वस्त्र लाकर खोले। उनमें साड़ी, कंचुकी और लहर पटोर नामक लहँगे थे। (२) फुंदने लगी हुई नीली और लाल कसनी या अंगियाँ थीं। पंडुआ (बंगाल) के और गुजरात के बने हुए छाएल या छपे वस्त्र थे। (३) चंदनौटा और खीरोदक नामक वस्त्रों की फरिया थीं। बाँस पोर और झिलमिल वस्त्रों की महीन साड़ियाँ थीं। (४) चिकवा, चीर और सुन्दर मेघौना नामक वस्त्र थे, जिनमें मोती लगे थे और जो सोने से छापे गए थे। (५) सिंहल द्वीप के सुन्दर लाल चीर थे। उनकी छपाई करनेवाली छीपी धन्य है। (६) पेमचा, डोरिया, और बीदर की बनी साड़ियाँ काली,

सफेद, पीली, और हरे रंग की थीं। (७) वे सातों रंगों के चित्रों से चित्रित की गई थीं। उनकी ओर आँख भर कर देखा न जाता था। (८) फिर बहुत से गहने निकाले गए जिनमें भाँति-भाँति के जड़ाव थे। (९) जैसा मन को आता था वह नित्य बदल बदलकर पहिनती थीं।

(१) पटुवन्ह—सं० पट्टवाय = वस्त्र बुनने वाले, बुनकर। लहरि पटोरे—विवाह में वर पक्ष की ओर से कन्या के लिये भेजा जाने वाला भारी लहँगा, (अवधी में चालू शब्द है)। यह रेशम का बनता है।

(२) फुंदिया—सम्भवतः फुंदने लगा हुआ नीवीबन्ध।

(३) कसनिया—२८०।४ में बंद लगी हुई कसनी का उल्लेख है, वही यह ज्ञात होती है, आँगी, चोली। इसके पाठान्तर कनसिनिआ, कनीसिआ, कलसनिया हैं। पृथ्वीचन्द्र चरित्र में उससे मिलता जुलता ताकसीनिया नामक वस्त्र आया है।

(४) छाएल—श्री मोतीचन्द्र जी ने मुझे सूचित किया है कि गुजरात में छपे सूती कपड़े अब भी छायल कहलाते हैं। उनके मत में ये बाँधनू की रँगाई के वस्त्र होने चाहिए, जिन पर अनेक भाँति की आकृतियाँ बनी होती हैं और जिनके लिये गुजरात—काठियावाड़ सदा से प्रसिद्ध रहा है। कवि प्रेमानन्द ने वस्त्रों की सूची में लाल और सफेद भातों से अलंकृत छायल का उल्लेख किया है (छबीली बहु ने छायल भारे भात ते राती धोलीजी, कुंवरबाई नुं मामेरूं, पंक्ति ५६५)। पंडुआए—बंगाल की राजधानी पंडुआ में बने वस्त्र। माताप्रसाद जी की प्रति में पंडु आए अलग छपे हैं, उन्हें एक शब्द समझना चाहिए। ४७८।६ में पंडुआ का उल्लेख है (काँमरू कामता औ पंडुआई)। पंडुआए छाएल से बंगाल के छपे वस्त्रों का तात्पर्य है।

(३) चँदनौटा—सं० चन्दनपट्ट, चंदन के रंग का वस्त्र। जायसी ने चंदन चीर का कई बार उल्लेख किया है (२९६।१, ३९९।२, ३२७।३, ३३५।२, ३५४।१)।

खीरोदक—सं० क्षीरोदक। इस नाम का वस्त्र हर्षचरित (उच्छ्वास ७; पृ० २०८) और वर्ण रत्नाकर में आया है (वर्ण० वस्त्र सूची, पृ० २१)।

फारी—फरिया, एक विशेष प्रकार का लहँगा जो सामने की ओर सिला नहीं रहता (शब्द सागर)। सम्भवतः इसी के सामने की ओर लहँगे के ऊपर लटकती हुई पटली होती थी जिसे अब फड़का कहते हैं। जैन और राजस्थानी चित्रों में स्त्रियाँ इसे पहने दिखाई जाती हैं। इस पटली के दोनों ओर नीचे से ऊपर तक खुले तार छूटे रहते हैं। प्रायः लड़कियाँ और नई उम्र की स्त्रियाँ इसे पहनती हैं। बुंदेलखंडी और ब्रजभाषा में फरिया ओढ़नी है (जैसे लहँगा न फरिया मेरी को लाज ही लाज, ब्रज की लोकोक्ति)।

बाँसपोर—ढाके की बहुत महीन तंजेब जिसका थान बाँस की पतली नली में आ जाता था (पं० रामचन्द्र शुक्ल)। पृथ्वीचन्द्र चरित्र में जिसे नली बद्ध कहा है वह यही वस्त्र ज्ञात होता है (पृथ्वी० पृ० १३६)।

झिलमिल—बढ़िया मलमल की तरह का बारीक और मुलायम कपड़ा (शब्द सागर)।

चकत्ता वंश प्रकाश की वस्त्र सूत्री में तथा और भी पुरानी सूचियों में झिलमिल वस्त्र का नाम आता है।

(४) चिकवा—चीकट नाम का रेशमी वस्त्र (शुक्ल जी)। विवाह में नेग के रूप में दिए जाने वाले वस्त्र चीकट कहलाते हैं (शब्द सागर)। मुझे अभी तक इसकी ठीक पहचान नहीं मिली। चीर—आईन की सूची में चीर संज्ञक वस्त्र का उल्लेख सोने के काम किए हुए कपड़ों में आया है। जायसी ने भी उन्हें 'मोति लाग औ छापे सोने' लिखा है।

मेघौना—वर्णरत्नाकर की वस्त्र सूची में मेघवर्ण और पृथ्वीचन्द्र की वस्त्र सूची में मेघवना इसी वस्त्र का नाम है।

(५) सुरंग चीर—सिंघल द्वीप के लाल चीर जो बहुत बढ़िया छपाई के आते थे सम्भवतः मसुली पत्तन के छपे वस्त्र थे। मसुली पत्तन कलिंग का बन्दरगाह था जहाँ सिंघलद्वीप और हिन्देशिया के द्वीपों का माल आकर उतरता था और वहाँ के वस्त्रों के साथ मिलकर उत्तर भारत में आता था। मसुली पत्तन के छपे वस्त्र अठारहवीं शती तक बहुत प्रसिद्ध रहे।

(६) पेमचा—एक रेशमी कपड़ा जो पोमचा कहलाता है। इस पर कमल के फुल्ले छपे रहते थे।

डोरिया—एक प्रकार का प्रसिद्ध सूती कपड़ा (आईन अकबरी, आईन ३१, पृ० १०१)।

बीदरी—बीदर का बना हुआ वस्त्र। (पाठा०) बंदरी = विलायतों से आने वाले वस्त्र जिनकी सूची आईन अकबरी में दी है।

(७) चित्र चितेरी—कुछ वस्त्रों पर हाथ से भी रंगीन चित्र लिखने की प्रथा थी। कालान्तर में मसुलीपत्तन के वस्त्रों पर हाथ से चित्रकारी का काम पूरा किया जाता था।

देशी शब्द तत्त्व

डॉ० हरदेव बाहरी, प्रयाग विश्वविद्यालय

[१]

देशी का अर्थ है देश की भाषा। इस दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि ही के नहीं, वरन् द्रविड़ आदि भाषाओं के शब्द भी देशी हैं। वे शब्द विदेशी नहीं हैं। परन्तु भारतीय भाषा शास्त्र में देशी का अर्थ भिन्न अर्थों में लिया गया है। शब्दों के पाँच प्रकार बताये गये हैं—तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। इसका तात्पर्य यह है कि जो शब्द न तो प्राचीन आर्य भाषा से सम्बद्ध किये जा सकते हैं और न ही विदेशी हैं, वे देशी कहलाते हैं।

वैदिक और संस्कृत भाषाओं के शब्द भांडार पर अभी तक कोई तुलनात्मक अध्ययन देखने में नहीं आया। परन्तु, हमारा अनुमान है कि संस्कृत अभिधानों में सैकड़ों ऐसे धातु और धातुज तथा रूढ़ शब्द हैं जो वैदिक साहित्य में नहीं मिलते। संस्कृत अपने क्रम-विकास में आस-पास की भाषाओं से बराबर प्रभावित होती रही है। संस्कृत में सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जिन्हें वैदिक अथवा भारोपीय (आर्य) भाषा से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। उदाहरण स्वरूप वैदिक अश्मन्, वृष, (उषन्) रायस, उदन्, अद् और पत् की जगह संस्कृत के क्रमशः प्रस्तर, बलिबर्द, धन, जल, खाद् एवं उड्डीय देशी प्रभाव का परिणाम दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त घोटक (हिं० घोड़ा), कुक्कुर (हिं० कूकर, कुत्ता), डाकिनी (हिं० डाइन), टंक (हिं० टका), टंकार, टक, टिट्टिभ, डमरू, खेला, घंटा, घुंटक (हिं० घुटना) भाटक (हिं० भाड़ा), चिक्कण (हिं० चिकना), नट, मंडूक, कुटी, आदि शब्द मूलतः आर्य भाषा के शब्द दिखाई नहीं देते। अनुमान किया गया है कि संस्कृत में अधिकतर ऐसे शब्द जिनमें टवर्ग और महाप्राण ध्वनियां पाई जाती हैं संस्कृतेतर भाषाओं के प्रभाव से निर्मित हुए हैं। ये शब्द कब और किस-किस भाषा से आकर संस्कृत में प्रविष्ट हुए, इस विषय पर कोई कार्य नहीं हुआ। ४-४½ सौ ऐसे शब्दों की सूचियाँ बनाई गई हैं पर इनका कोई ऐतिहासिक स्पष्टीकरण नहीं हुआ। यास्क और पाणिनि ने कुछ-एक ऐसे शब्दों के उदाहरण मात्र गिनाये हैं। आर्यों की भाषा में आर्येतर शब्दों का आना स्वाभाविक ही था, परन्तु वैयाकरणों ने अपनी भाषा का संस्कार करना उचित समझा। ऐसे देशी शब्दों और प्रयोगों को निकाल बाहर फेंका गया और भाषा को शुद्ध संस्कृत बनाया गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृत देशी तत्त्व से बची रह गई। देशी तत्त्व बोलचाल की भाषा में बराबर बढ़ता रहा और बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकी।

प्राकृत में देशी शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे। प्रकृति (जन-साधारण) की अथवा प्रकृत भाषा होने के कारण प्राकृत में व्यावहारिक शब्द अनेक भाषाओं से ग्रहण किये गये थे—धार्मिक और सांस्कृतिक शब्दावली भले ही संस्कृत की प्रमुख रही हो। समय पाकर प्राकृत भी साहित्यिक और सांस्कृतिक माध्यम बनी। तब इसने संस्कृत के आश्रय और अनुकरण में अपना शब्द-भांडार सम्पन्न किया। आज हमें प्राकृतों का जो स्वरूप प्राप्त है वह उनका साहित्यिक रूप ही है, व्यावहारिक और जनभाषा का रूप लिखित साहित्य में बहुत कम आ पाया है। पादलिप्ताचार्य और आचार्य हेमचन्द्र के कोशों से जाना जा सकता है कि प्राकृत में न केवल देशी शब्दों की भरमार थी, बल्कि इनका वैज्ञानिक अध्ययन भी हुआ था। हेमचन्द्र अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ देसी-सद्द-संगहो (रयणावली) की भूमिका में लिखते हैं—

"पादलिप्ताचार्यादिविरचितदेशीशब्दशास्त्रेषु सत्सवप्यस्यारम्भे प्रयोजन विशेषण द्वारेणाह—वण्ण – इति। वर्णा अकारादयो हकारावसानाः प्राकृतप्रयोगयोग्याः तेषां पदादिभूतानां सुख ग्रहण-धारणनिमित्तं क्रम :—परिपाटि :—तेनवर्णक्रमेण द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरादिप क्रमेण च सुखदः सुभगोदा। वर्णक्रमेण हि निर्दिष्टाः शब्दाः अर्थविशेषसंशये सति सुखनैव स्मर्यन्ते अवधार्यन्ते च।"

इस दृष्टि से 'देसी-सद्द-संगहो' देशी शब्दों का प्रामाणिक कोश है जिसमें शब्दों को अकारादि क्रम से संगृहीत करके प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत पहले एक अक्षर वाले, फिर दो अक्षर वाले, फिर तीन अक्षर वाले, और चार अक्षर वाले शब्द दिये गये हैं। लेकिन इस कोश में यह नहीं बताया गया है कि वह शब्द किस प्राकृत में (अथवा किस क्षेत्र में) प्रयुक्त होता है। दूसरी बात यह है कि इनमें कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिन्हें 'देसी' संज्ञा देना उचित नहीं है, जैसे अंबोच्ची पुष्पलाव्याम्, अज्ज जिने आदि। अर्थ विज्ञान की दृष्टि से 'अंबोच्ची' पहले आम्र की उच्ची (लावी) के अर्थ में फिर आम्र-पुष्प की लावी के अर्थ में और बाद में अर्थविस्तार होकर 'पुष्प की लावी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। 'अज्ज' 'आर्य' से व्युत्पन्न है। बड़ों के लिए 'आर्य' का प्रयोग होता ही आया है। शिव और विष्णु के अर्थ में 'आर्य' व्यवहृत हुआ है, तो कोई कारण नहीं कि महावीर और बुद्ध के लिए 'अज्ज' को तद्भव शब्द न माना जाये। कुछ शब्द इतने विकृत और अपभ्रष्ट हो गये हैं कि उनके स्वरूप को ठीक-ठीक न पहिचानने के कारण 'देशी' संज्ञा दे दी गई है—जैसे 'काहल' मृदु और ठग के अर्थ में, अथवा 'कलिअ' गर्वित, नकुल और सखी के अर्थ में। 'काहल' को 'कोमल' और 'कुटिल' से सम्बद्ध किया जा सकता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'ह' कहाँ से आ घुसा है; 'कलिअ' का सम्बन्ध 'कलित' से निश्चित है।

वास्तव में प्राकृत वैयाकरणों ने 'देशी' की जो परिभाषा दी है, वही सही नहीं है। अपने ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं :

ये लक्षणे न सिद्धा न प्रसिद्धा संस्कृताभिधानेषु।
न च गौण-लक्षणा-शक्ति संभवाः ते इह निबद्धा॥

अर्थात् देशी के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के शब्द नहीं आते—

१. संस्कृत अभिधानों में प्राप्त शब्द-अग्नि, कुशल, प्रवीण, यामा, प्रेम, रात्रि, आदि।

२. संस्कृत से जो सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे शब्द संस्कृत-कोशों में नहीं पाये जाते, पर संस्कृत द्वारा इनकी व्याक्रिया हो सकती है, जैसे वर्त्तमान हिन्दी में व्यवहृत उपन्यास, मुख्यायुक्त, सत्याग्रह, आभारी, आदि शब्द और विज्ञान के सैकड़ों हजारों नये शब्द।

तद्भव शब्दों को भी हम संस्कृत द्वारा सिद्ध कर सकते हैं, जैसे आँख को अक्षि से, आज को अद्य से, काज को कार्य से सम्बद्ध करते हैं।

३. जिन शब्दों का अर्थ गौण लक्षणा शक्ति द्वारा परिवर्तित हो गया है, जैसे, 'गदहा' या 'उल्लू' का अर्थ 'मूर्ख', अथवा 'चक्कर' का अर्थ 'परेशानी' और 'हाथ' का अर्थ 'दाँव'। इन विकसित अर्थों में ये शब्द संस्कृत अभिधानों में प्राप्त नहीं होते, तो भी इन शब्दो को देशी नहीं कहा जायगा।

'देशी दुःसंदर्भाः प्रायः संदर्भितापि दुर्बोधाः' तथा 'पूर्वैरसाधितपूर्वा देश्याः' आदि उक्तियों का भी यही अभिप्राय है।

यद्यपि विदेशी शब्दों को भी संस्कृत से सिद्ध अथवा संदर्भित नहीं किया जा सकता तो भी उन्हें देशी की संज्ञा नहीं दी गई क्योंकि वे शब्द इस देश के ही नहीं हैं।

[२]

प्राकृत तथा हिन्दी के प्राप्त व्याकरणों में 'देशी' की जो परिभाषा मिलती है वह नास्ति-वाची अथवा नकारात्मक है। अलबत्ता आधुनिक समय में कुछ-एक विद्वानों ने सकारात्मक एवं अस्तिवाची परिभाषा देने की चेष्टा की है। अस्तु, हमारे सामने तीन मत हैं। यास्क और उनके अनुयायी पंडितगण यह मानते आये हैं कि सब शब्द धातुओं से बनते हैं इसलिए सभी शब्दों को संदर्भित किया जा सकता है—योग्यता होनी चाहिये। भारत में ऐसे बहुत से विद्यावान मिल जायेंगे जो प्रत्येक शब्द को संस्कृत धातु से सम्बद्ध कर सकने का दावा करते हैं। उनका यह विचार है कि संस्कृत सब भाषाओं की जननी है और प्रत्येक शब्द संस्कृत मूल से व्युत्पन्न हुआ है। नीचे कुछ शब्दों की निरुक्तियाँ 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में से उद्धृत की जाती हैं। साधारण पाठक भी समझ सकता है कि ये कितनी हास्यास्पद हैं—

टोटी ∠ सं० तुण्ड; डोंड़ी ∠ सं० तुण्ड; डोडा ∠ सं० तुण्ड; ढोंढ़ ∠ सं० तुण्ड; टुंडा ∠ सं० तुण्ड; तोंद ∠ सं० तुण्ड; ठोग ∠ सं० तुण्ड; टोटा ∠ सं० तुण्ड; ठाक ∠ सं० स्थातृ; ठाठ ∠ सं० स्थातृ; ठाढ़ा ∠ सं० स्थातृ; टाप ∠ सं० स्थापन; ठप्पा ∠ सं० स्थापन; थाप ∠ सं० स्थापन; थोपना ∠ सं० स्थापन; ठीहा ∠ सं० स्था; टिकना ∠ सं० स्थित; ढाँचा ∠ सं० स्थाता; थाती ∠ सं० स्थाता; ठहर ∠ सं० स्थाता; छिटकना ∠ सं० क्षिप्त; छितरना ∠ सं० क्षिप्त; छींट ∠ सं० क्षिप्त; छिपना ∠ क्षिप्; छांटना ∠ खंडन; कलछो ∠ सं० कर-रक्षा; ओझल ∠ सं० अवरुंधन; सड़ना ∠ सरण, जाना; मेंड़ ∠ मंडल; पचड़ ∠ सं० पचितः; नन्हा ∠ सं० न्यंच; चाह ∠ सं० इच्छा; भागना ∠ सं० व्रज्; भूलना ∠ सं० विह्वल; घेरना ∠ सं० ग्रहण; फाहा ∠ सं० फाल; खोना ∠ सं० क्षेपण; ढेला ∠ सं० दल; डाल ∠ सं० दारु; टहनी ∠ सं० तनु; डपट ∠ सं० दर्प; टाट ∠ सं० तन्तु; टुच्चा ∠ सं० तुच्छ; टोकना ∠ सं० स्तोक; गोड़ ∠ गम्, गो, इत्यादि इत्यादि।

दूसरा मत आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राकृत वैयाकरणों और पंडित कामताप्रसाद गुरु आदि हिन्दी वैयाकरणों का है। हेमचन्द्र के मत को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। कामताप्रसाद गुरु, तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों की विवेचना करने के पश्चात् एवं विदेशी शब्दों का विवरण देने से पूर्व, लिखते हैं—"हिन्दी में और भी दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं—(१) देशज (२) अनुकरणवाचक। देशज वे शब्द हैं जो किसी संस्कृत (या प्राकृत) मूल से निकले हुए नहीं जान पड़ते और उनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता; जैसे तेन्दुआ, खिड़की, घूआ, ठेस इत्यादि।"[१] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने गुरु जी के कथन का समर्थन करते हुए शब्दों के चार भेद बताये हैं—(१) संस्कृत या प्राकृत भाषाओं से आगत शब्द (तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव), (२) देशज, (३) अनुकरणात्मक, तथा (४) विदेशी। उनके अनुसार भी देशज उन शब्दों को कहते हैं "जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता।"[२]

एक और मत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[३] और डॉ० उदयनारायण तिवारी[४] ने प्रस्तुत किया है। डॉ० वर्मा लिखते हैं, "साधारणतया हिन्दी शब्द-समूह तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—क. भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द-समूह; ख. भारतीय अनार्य भाषाओं का शब्द-समूह और ग. विदेशी भाषाओं के शब्द।" आगे चलकर वे स्पष्ट कहते हैं कि देशी शब्द वही हैं जो अनार्य भाषाओं से आए हैं। डॉ० तिवारी ने इसी बात को अपने शब्दों में दोहराया है।[४]

[३]

इन मतों की परीक्षा करने की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत अथवा आर्य भाषा के कोई न-कोई शब्द संसार की प्रायः सभी भाषाओं में मिल जायेंगे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी समय में संसार भर की एक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत थी। संसार की भाषाओं के अनेक परिवार हैं और मूल में एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलबत्ता भाषाओं में आदान-प्रदान अवश्य होता रहता है। इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृत के कुछ शब्द चीनी में, अनेक शब्द अरबी में, बहुत से द्रविड़, मलया, संथाली, थाई, जापानी आदि भाषाओं में चले गये हैं। परन्तु यह धारणा मिथ्या और निराधार है कि ये भाषाएँ संस्कृत से उद्भूत हुई हैं। टुकड़ा को सं० स्तोक से, टखना को सं० टंक से, घबराना को सं० गह्वर से, छोकरा को सं० शावक से, फीका को सं० अपक्व से, टिकिया को सं० वटिका से, और छोटा को सं० क्षुद्र से[५] व्युत्पन्न मानने वाले किसी भी व्यक्ति को पंडित तो कहा जा सकता है पर शब्द-शास्त्री नहीं कहा जा सकता। उक्त निर्वचन भाषा, ध्वनि, अथवा अर्थ के किसी सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध नहीं होते। इन पंडितों की बात को माना जाये तो 'देशी' नाम की कोई वस्तु शब्दशास्त्र में रह ही नहीं जाती। इस धारणा के रहते विज्ञान की बात करना ही सम्भव नहीं है।

---

१. हिन्दी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९७८, पृ० ३१
२. हिन्दी भाषा का विकास, बनारस, सं० १९८४, पृ० ३१
३. हिन्दी भाषा का इतिहास, प्रयाग, १९४० ई० भूमिका, पृ० ६८—६९
४. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, प्रयाग, सं० २०१२, पृ० २१२
५. दे० प्रामाणिक हिन्दी कोश, हिन्दी शब्द सागर।

आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति वैयाकरणों का मत नकारात्मक ही नहीं, अनिश्चित भी है। जिन 'शब्दों की व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं' अथवा 'जो शब्द संस्कृत से संदर्भित नहीं किये जा सकते', ऐसे शब्दों की सूचियाँ तैयार की जायें और भिन्न-भिन्न विद्वानों के पास विवेचनार्थ भेजी जायें, तो पता चलेगा कि उनमें के कुछ शब्द संस्कृत से संदर्भित हो गये, कुछ प्राकृत से, और कुछ विदेशी भाषाओं से। कुछ ऐसे शब्द भी निकलेंगे जिन की व्युत्पत्ति एक विद्वान् के अनुसार संस्कृत से, और दूसरे के अनुसार किसी विदेशी भाषा से मानी जाये। ज्ञान और खोज के विस्तार के साथ अनेक निरुक्तियाँ स्पष्ट होती जा रही हैं। ऊपर हमने आचार्य हेमचन्द्र के संग्रह ही से लेकर कुछ शब्द सिद्ध किये हैं। और उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं— जोइस (नक्षत्र) जुण्ण (चतुर) जुयल (युवक) जडिय (खचित) जयण (प्राणी) पवहाइयं (प्रवृत्त), पइट्ठाण (नगर), पच्चुत्थ (उगना) पइट्ठ (हस्त), पडालि (अवलि), परडा (सर्पविशेष) आदि को सं० ज्योतिष, जीर्ण (वृद्ध, अनुभवी), युवक (साहश्य नवल से), जड़ित, जीव, प्रवहायित, प्रतिष्ठान, प्रत्युहा, प्रहृष्ट, पत्रावलि, परडाउ, परदाड ∠ पृदाकु से भारतीय भाषा-शास्त्र के साधारण नियमों के अनुसार सम्बद्ध माना जा सकता है।[१]

एक और बात विचारणीय है। प्राकृत के वैयाकरण कहते हैं कि जिन शब्दों की निरुक्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं होती वे देशी हैं, हिन्दी के वैयाकरण कहते हैं कि देशी वे शब्द हैं जो संस्कृत या प्राकृत से नहीं निकले। वे यह भी कह सकते थे कि जो शब्द संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से नहीं निकाले गये वे देशी हैं। मूलतः यह भी कहना पड़ेगा कि संस्कृत के वे शब्द जो वैदिक भाषा से व्युत्पन्न नहीं हैं (और पीछे जाया जाये तो जो शब्द भारत-यूरोपीय नहीं हैं) वे देशी हैं। कुछ शताब्दी बाद यह भी मानना होगा कि जो शब्द भारत-यूरोपीय, वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी से व्युत्पन्न नहीं होते, वे देशी हैं। टुंट (कटे हाथ वाला), झांखर (झाड़) झड़ी (निरन्तर वर्षा), टट्टइया (परदा) आदि शब्द हेमचन्द्र के कोश में देशी हैं, पर हिन्दी के कोशों में टुंडा, झंखाड़ अथवा झांखर, झड़ी, टट्टी आदि देशी नहीं कहलायेंगे—यदि हम कामताप्रसाद गुरु और श्यामसुन्दर-दास की बात को स्वीकार कर लें। सैद्धांतिकता की दृष्टि से यह स्थिति बड़ी विचित्र है।

तीसरे वर्ग में उन विद्वानों की बात आती है जो भारतीय अनार्य तत्त्व को 'देशी' संज्ञा देने के पक्ष में हैं। ऐसा लगता है कि इन विद्वानों के मन में यह विचार रहा है कि जो लोग देश के मूल निवासी हैं उन्हीं की भाषा देशी होगी। आर्य लोग तो बाहर से आये थे। डॉ० तिवारी ने स्पष्टतः कह दिया है कि "आदिवासियों के जो शब्द संस्कृत, प्राकृत, अथवा अर्वाचीन आर्य भाषा में आ गये हैं वे देशी हैं।" एक प्रश्न तो यह है कि आदिवासी कौन हैं? कोल, संथाल, खासी, मान, गोंड, भील, द्रविड़ आदि में से कौन? इतिहासकार बताते हैं कि ये जातियाँ भी बाहर से आई थीं। दूसरी समस्या यह है कि बाहर की आई हुई जाति को कितनी शताब्दियों के उपरान्त 'देशी' कहलाने का अधिकार मिलता है? क्या आर्य देशीतर ही कहलाते रहेंगे? किसी भाषा में निजी शब्द-सम्पत्ति के अतरिक्त कहीं से भी आये

---

१. दे० देशी सद्दसंगहो (रयणावली) प्रथम भाग, संपादक बेचरदास जीवराज दोशी, मुंबई १९४७।

हुए शब्दों को उधार के शब्द (loan words) अथवा आयात शब्द कहते हैं—जैसे बच्चा, बद्दल (हिं० बादल), बुड्ढा, बाणियाँ (सं० वणिक) बहुटी (सं० वधू) आदि। 'ब' से आरंभ होने वाले ये शब्द लहँदी में निश्चय ही उस देश के नहीं हैं, क्योंकि लहँदी में सं० 'व' सुरक्षित है, जैसे, विजाह (विवाह), विट्ठ (विष्ठा), वच्छा (वत्सकः), वधणा (वर्धते), वणज (वाणिज्य), वीह (विंशति), वट्टी (वर्तिका) वैण (वचन), वेला (वेला), वात (वक्त) इत्यादि सैकड़ों शब्दों में। अथवा, हिन्दी में सच, दुबला, गुच्छा, मट्टी और पट्टी, पंजाबी आदि पश्चिमी बोलियों के शब्द हैं, हिन्दी के रूप में तो होने चाहिए साच या सांच, दूबला (दूबर), गूँछा, माटी, पाटी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब इन गृहीत रूपों को भी शुद्ध देशी कहने में शास्त्र संकोच करता है तो चुरुट (तमिल शुरुट), काफ़ी (तमिल काप्पी), टुंडा (संथाली टुंट), आदि अहिंदी प्रदेश के शब्दों को 'देशी' नाम कैसे दिया जा सकता है ? ये शब्द 'हिन्दी' की संज्ञा भी नहीं पाते तो 'देशी' कैसे होंगे ? वैसे तो व्यापक दृष्टि से संस्कृत से ले कर हिन्दी तक और द्रविड़, ऑस्ट्रिक, पहाड़ी भाषाओं एवं मराठी, बँगला, पंजाबी, आदि के शब्द इसी देश के हैं, अतः वे सबके सब देशी ही हैं, लेकिन पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग करते हुए अर्थ-संकोच होगा ही। इस पर भी हमें यह नहीं जँचता कि 'चुरुट', 'पिल्ला' और 'पिरिच' (द्रविड़ 'पिरिस', छोटी तश्तरी) को तो देशी कहा जाए और हिन्दी प्रदेश में अपनी मिट्टी, अपनी जनता, और अपनी प्रकृति से बने 'पापड़', 'फूफा', 'नाना', 'चिड़चिड़ा', 'गड़बड़', 'बड़बड़ाना', 'फड़फड़ाना' आदि शब्दों को 'देशी' से भिन्न संज्ञा दी जाए।[१]

हमारा कहना यह है कि "भारतीय आर्येतर" शब्दों का एक अलग प्रकार तो है, लेकिन देशी शब्दों की गणना अतिरिक्त होनी चाहिए। इस तरह हिन्दी के शब्द-समूहों में भारतीय आर्य शब्द (तत्सम, तद्भव, अर्द्ध तत्सम), भारतीय आर्येतर शब्द (द्रविड़, आस्ट्रिक, पहाड़ी आदि के) विदेशी (तिब्बत, चीन, अरब, ईरान, तुर्की, मंगोलिया, इंगलैंड, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैंड आदि के) और देशी (समय-समय पर इसी प्रदेश की जनता के द्वारा—जिसमें संस्कृतियों, जातियों, और भाषाओं का घोल मेल हो चुका है—स्वतः गढ़े हुए) शब्द सम्मिलित होंगे। देशी वे शब्द हैं जो जन साधारण किसी ध्वनि, वस्तु अथवा व्यापार को देख-सुन कर सहज मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के रूप में अन्तःप्रेरणा से अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे शब्दों की परम्परा न आर्य है, न आर्येतर और न विदेशी, बल्कि शुद्ध देशी है। फट-फट करती हुई गाड़ी को देखा और नाम रख दिया 'फटफटिया', यह चिंता ही नहीं की कि यह अपने साथ कौन-सा नाम ले कर आई है।

'देशी घी' में जो 'देशी' की व्यंजना है अथवा 'Foreign Railway' कहने में जो परकीयत्व का अर्थ है, वही देशी और देशीतर शब्दों का है। सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दी भाषा-भाषी ने स्वयं गढ़ा है, वे ही शब्द हिन्दी में देशी तत्त्व हैं। जिन शब्दों को बंगला-

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के वर्गीकरण में ऐसे शब्दों का कहीं उल्लेख नहीं है। यह स्पष्ट नहीं होता कि वे इन्हें तद्भव मानते हैं अथवा विदेशी। डॉ० श्यामसुन्दर दास और पं० कामताप्रसाद गुरु केवल अनुकरणात्मक शब्दों को गिनती में लाते हैं, पर ऐसे शब्दों को वे देशी से भिन्न वर्ग में लेते हैं।

भाषी गढ़ता है वे बंगला में देशी तत्त्व हैं।[१] सभी भाषाओं में अपना-अपना देशी तत्त्व होता है। हिन्दी में फड़कना, गिड़गिड़ाना, घसीटना, डुगडुगी, झुमका, गुदगुदी, दलदल, घुँघरू, खसखसा, ढिंढोरा, पिलपिला, लसलसा, थोथा, झक्की, धत्त, धक-धक, छिः इत्यादि क्रियापद, संज्ञाएँ, विशेषण और अव्यय, सब तरह के शब्द देशी कारीगरी के नमूने हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह न समझना चाहिए कि 'देशी' के अन्तर्गत केवल ध्वन्यात्मक शब्द आते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्वनि का अनुकरण करके रूढ़ शब्द बनाने की प्रवृत्ति आदि मानव से लेकर आज तक चल रही है और देशी तत्त्व में ऐसे शब्दों की संख्या सैकड़ों-हजारों तक है। हमारा मत डॉ० श्यामसुन्दरदास और पं० कामताप्रसाद गुरु के पूर्वोक्त मत से उलटा है। वे अनुकरणात्मक शब्दों को देशी से भिन्न मानते हैं और हम ऐसे शब्दों को देशी सम्पत्ति का प्रमुख भाग समझते हैं। लेकिन ध्वन्यात्मक शब्दों के अतिरिक्त भी देशी शब्द बहुत से हैं, अलबत्ता इनका अनुपात कम है।

देशी शब्दों के निर्माण की मूल प्रवृत्ति अभाव और अज्ञान के कारण होती है और अभिव्यक्ति के स्फोट के लिए एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति उपस्थित हो जाती है कि कोई शब्द अनायास बन कर निकल पड़ता है। इस गढ़न की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार होती है—

क. कभी ध्वन्यात्मक शब्द उस ध्वनि के लिए ही आता है, जैसे घर्रा, चूँ-चूँ, बक-बक, टुटरूँ टूँ, ठनक, खनक, भड़-भड़ इत्यादि।

ख. कभी वह ध्वनि वस्तु या व्यापार का अर्थ देती है, जैसे गराड़ी, पापड़, डकार, झांझ, झांझन, झंकार, टक्कर, धक्का, खिलखिलाना, टर्राना, चुरमुराना, पुचकारना, घँघोलना इत्यादि।

ग. कई बार वस्तु या व्यापार इतना सूक्ष्म होता है अथवा अमूर्त्त होता है कि ध्वनि प्रकट न होने पर भी, ध्वनि का आरोप कर लिया जाता है, जैसे चुरमुर अथवा गड़बड़ में। इस तरह के अनेक प्रश्न हैं जिन पर ऐतिहासिक, तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

घ. जिस प्रकार कारखाने के तैयार किए हुए कल-पुर्जे को देख कर मिस्तरी देशी पुर्जा तैयार कर लेता है, इसी प्रकार ध्वनि-साम्य से शब्द गढ़े जाते हैं। इनके एक भेद को प्रतिध्वनित शब्द कह सकते हैं। यह प्रतिध्वनि कभी मूल शब्द के पहले होती है, जैसे आमने-सामने, अड़ोस-पड़ोस, आस-पास और कभी पीछे जैसे गोल-मटोल, अलग-थलग, रोटी-वोटी, इत्यादि। इनमें आमना, अड़ोस, आस, मटोल, थलग, वोटी प्रतिध्वनित शब्द हैं। ध्वनि-वैचित्र्य की दृष्टि से इनका अध्ययन भी बहुत रोचक हो सकता है। मेल के साथ जोल (मेल-जोल) का क्या स्वर साम्य है, भूल के साथ भाल (भूल-भाल गया) का क्या मेल है; डील-डौल, नाले-नूले, चुप-चाप, गाली-गलौज, नंग-धड़ंग इत्यादि में प्रतिध्वनित शब्दों की बनावट में कितना अन्तर है? ऐसी गढ़न का कोई मनोवैज्ञानिक आधार तो अवश्य होगा। पृथक्-पृथक् ये शब्द निरर्थक लगते हैं लेकिन अपने बड़े साथी के साथ मिल कर ये अर्थ-वैशिष्ट्य ला देते हैं, इसलिए शब्द-शास्त्र में तथा हमारी भाषा के भांडार में इनका महत्त्व निश्चित है।

---

१. उदाहरणों के लिए दे० बंगला शब्द तत्त्व (बंगाली में), लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता, पृष्ठ २२—४०

कई ऐसे शब्द भी इन्हीं में से निकल पड़ते हैं जो अपनी स्वतन्त्र अर्थ-सत्ता स्थापित कर लेते हैं, जैसे उल्टा-सुल्टा, टुंड-मुंड तथा डील-डौल में सुल्टा, टुंड, और डौल।

ङ. कभी-कभी ध्वनि-वैचित्र्य से अर्थ-वैचित्र्य लाने की उक्त प्रक्रिया भाषा का भांडार भरने में बहुत सहायक होती है। उदाहरण—टुंड, मुंड, टुंट, ठुंठ, टोंट, टोंटी, डोंड़ी, दोंढ़ी, ठोडी; (२) टाट, ठाठ, टट्टर, टट्टी, ठठरी, ठठ; (३) ठक, ठोंक, ठिक, टिक, ठीक, ठुकना, ठेक, ठेकना, ठेका, इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार कोई एक आधार मिल जाने पर शब्द-परिवारों का विस्तार होता रहता है। वह आधार आर्य, अनार्य, देशी, विदेशी, कोई भी हो सकता है।

हमारा यह भी दावा है कि भिन्न-भिन्न भाषाएं इस प्रकार की देशी गढ़न से काम लेती रहती हैं और संयोग से कई शब्द उनके समान निकल पड़ते हैं; और विद्वान् लोग माथा-पच्ची करने लगते हैं कि ये अमुक भाषा से अमुक भाषा में आए। टुंट, झाड़, घंटा, मेढा, कडुग आदि शब्दों को आदिवासियों की भाषा में देख कर यह निश्चय कर लेना कि भारतीय आर्य भाषाओं में तुण्ड, झाड़, घंटा, मेढ़ा, गरुड़ आदि अवश्य ही अनार्य भाषाओं से लिए गए हैं अत्यन्त असंगत और तर्क-शून्य धारणा है। नीचे (छ) के अन्तर्गत इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाला जायगा।

च. असल के मुताबिक नकल के देशी तत्त्व बनते रहते हैं। ऐसा, जैसा के ढंग पर वैसा; जहाँ, कहाँ के ढंग पर वहाँ; बायाँ के ढंग पर दायाँ; गोरू के ढंग पर ढोरू; साँचा के ढंग पर ढाँचा, इत्यादि बीसियों उदाहरण हैं।

छ. बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष सब, काम पड़ने पर, देशी शब्द सम्पत्ति बनाते रहते हैं। बच्चों के शब्दों में भी सार्वभौमिकता संयोग से हो जाती है। बच्चों के ओठ और कंठ की पेशियाँ बहुत सबल हो जाती हैं। इसलिए ओष्ठ्य और कंठ्य ध्वनियाँ प्रायः उनके शब्दों के निर्माण में योग देती हैं। प्रायः ऐसे शब्दों में अक्षर-द्वित्व और अल्प-प्राणत्व होता है। काका, बाबा, पापा, मामा, मामी, बीबी, बा, अब्बा आदि बच्चों की देशी गढ़न है। धीरे-धीरे जब अन्य ध्वनि यंत्र क्रियाशील होते हैं तो दीदी, दादा, ताता, चाचा, लाला, नाना, नानी, जीजी, फूफी, इत्यादि शब्द उदित होते हैं।[1] ऐसे शब्द प्रायः संसार की प्रत्येक भाषा में होते हैं। इनमें लेन-देन का प्रश्न नहीं है। यह तो बच्चों का खेल है। देहाती स्त्रियाँ शब्द गढ़ने में बड़ी दक्ष होती हैं। उनकी गालियों में गीदी, टुच्चा, नाठी, चोचल हाई, छतेल, लोठा, मुस्टंडा, भोंदू, मोटा, भद्दा आदि शुद्ध देशी अपशब्द हैं।

ज. कभी-कभी खीझ या परिहास में अथवा गोपनीयता की दृष्टि से शब्द गढ़ने पड़ते हैं। टर, फिस, हट, धत्त, प्रथम वर्ग में; और जुआरियों, बटेरबाजों, कबूतरबाजों, ठगों आदि के शब्द दूसरे वर्ग में सम्मिलित हैं। किन्नी (गुरदा) तथा नुकूखा (गरदन का मांस) बूचड़ों की भाषा में, चेटी (एक रुपया) तथा टाला (अधेला) दलालों की बोली में, इल्लु (मुहरा) तथा काघा (बड़ी कौड़ी) जुआरियों की बोली में, आदि आदि शब्द आपसी समझौते से प्रचलित हो जाते हैं। अँगरेजी में इन्हें cant कहते हैं।

---

१. विस्तार के लिए दे० ठा० हरदेव बाहरी : बच्चों की बोली, हिन्दुस्तानी, १९४३ प्रयाग।

भ. देशी कारीगरी का एक नमूना वह भी है जिसे समन्वायोजन (assembling) कह सकते हैं। पुर्जे इधर-उधर के हुए और उन्हें अपने कारखाने में जोड़-जाड़ लिया। ऐसे शब्द शुद्ध देशी नहीं हैं। उदाहरण—(१) रीति-रिवाज, काला-स्याह, घर-पकड़, थका-मांदा, हाट-बाजार (२) थानेदार, चूहेदानी, बेधड़क, आदि दोगले शब्द, (३) लाठी (सं० लगुड+यष्टि के घोल-मेल से), फलांग (फाँदना और लाँघना से) इत्यादि शब्द, जिनके विकृत रूप को पहचान पाना भी कठिन हो गया है।

खोजने पर देशी शब्दों के और भी कई प्रकार मिलेंगे। भाषाओं के तुलनात्मक और व्यापक ज्ञान के बिना देशी शब्द तत्त्व को पृथक् करना अभी तो अत्यन्त कठिन कार्य है।

देशी शब्द का जीवन भी रोचक अध्ययन का विषय है। इसकी उत्पत्ति एक व्यक्ति की तात्कालिक और आकस्मिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होती है। वह शब्द कभी तो उस व्यक्ति-विशेष तक, कभी उसके पास पड़ोस तक, कभी उससे दूर-दूर सारे भाषा क्षेत्र तक और कभी-कभी दूसरी भाषा तक व्याप्त हो जाता है। हमने किसी लड़के को ढीठ और उल्लू कहना चाहा, दोनो शब्द इतने आवेश में निकल पड़े कि हम कह उठे ढील्लू या ढुल्लू। यह शब्द आगे नहीं बढ़ा। हमारे बच्चे ने भाषारंभ करते हुए एक दो दिन 'बू' 'बू' कहा, हमने 'बू' का अर्थ 'दूध' लगाया। फिर क्या था, जब-जब वह 'बू' कहता, माँ उसकी इच्छा की पूर्त्ति करती। धीरे-धीरे परिवार भर में 'बू' का अर्थ, कम-से-कम बच्चे के संदर्भ में, 'दूध' हो गया। यह शब्द ४-५ वर्ष तक हम लोगों के शब्द भांडार में बराबर बना रहा। 'काका' का अर्थ पंजाब प्रदेश में और है, उत्तर प्रदेश में और; नाना का प्रयोग इससे भी अधिक व्यापक क्षेत्र में होता है। आयु भी ऐसे शब्द की कभी थोड़ी, कभी बहुत होती है और कोई-कोई शब्द अमर हो जाता है। हमने देखा कि आचार्य हेमचन्द्र के संग्रह के १० प्रतिशत शब्द भी आजकल की हिन्दी बोलियों में प्राप्त नहीं होते। अनेक नए शब्द गढ़ लिए गए हैं। साहित्यिक भाषा और देशी शब्द तत्त्व का क्या सम्बन्ध रहता है, इस विषय पर भी तुलनात्मक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। हमारा मत है कि साहित्यिक भाषा का स्तर जितना ऊँचा होता जाता है, वह देशी शब्द-तत्त्व को बहिष्कृत करती चलती है। हमारी वर्तमान बोलियों में बीसों शब्द प्रचलित हैं जिनका साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है, और सैकड़ों शब्द पिछली साहित्यिक कृतियों में हैं जिनका स्थान आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में पंडिताऊ शब्दों ने ले लिया है। जब-जब भाषा साहित्य का माध्यम बनना शुरू करती है, तब-तब उसमें पूर्व की साहित्यिक भाषा की अपेक्षा देशी शब्द तत्त्व अधिक होता है, लेकिन क्रमशः इस तत्त्व का ह्रास होता रहता है। प्रत्येक साहित्य-भाषा में मतरूकात (परित्यक्त शब्दों) की संख्या बढ़ती रहती है। ऐतिहासिक क्रम से इस ह्रास का अध्ययन भी बहुत महत्त्वपूर्ण होगा। उर्दू के जुबानदान लेखा-जोखा करते रहते थे, लेकिन हिन्दी में भी मतरूकात की संख्या सैकड़ों से कम न होगी। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ साहित्यिक भाषा के शब्द जन भाषा में फैल कर देशी शब्दों का स्थान लेते रहते हैं। इसलिए जन भाषा में भी देशी शब्द तत्त्व बहुत चिरस्थायी नहीं होता। जिन शब्दों की अपनी विशिष्ट अर्थ सत्ता होती है वही काल के मुख से बच पाते हैं।

पाणिनि के कुत्सार्थक सूत्र

श्री राम शंकर भट्टाचार्य, काशी

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनसे निष्पन्न शब्दों का तात्पर्य कुत्सा, क्षेप (=निन्दा) असूया आदि होता है। इस निबन्ध में उन सूत्रों पर तथा सूत्रों से निष्पन्न शब्दों पर विचार किया जा रहा है।

(क) कुत्सा के विषय में व्याकरण शास्त्र में दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं। एक—प्रवृत्ति निमित्त कुत्सा और दूसरा—अप्रवृत्ति निमित्त कुत्सा। याप्ये पाशप् (५।३।४७) सूत्र में पहले दृष्टिकोण और 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र में द्वितीय दृष्टिकोण का व्यवहार है। इन दोनों सूत्रों की व्याख्या में कुत्सार्थक शब्दों पर व्याख्याकारों ने विचार किया है। प्रवृत्ति निमित्त का अर्थ है वह विशेषण जिसका आश्रय कर घटादिशब्द अपने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह प्रवृत्ति निमित्त सामान्यतः ४ प्रकार के होते हैं—जाति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया। इन चारों में कुसितत्व (=अपकर्ष) होने से ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति निमित्त पर पतंजलि ने कहा है—'यस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने तद्गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्' (भाष्य ५।३।४७)। जहां प्रवृत्ति निमित्त की कुत्सा नहीं होती, वहाँ यह सूत्र नहीं लगता, जैसा कि पंतजलि ने उदाहरण दे कर समझाया है कि व्याकरण का विद्वान् यदि शरीर से कृश हो जाय, तो वह उसकी कुत्सा नहीं है क्योंकि कृशता के साथ वैयाकरण का सम्बन्ध नहीं है, अतः व्याकरण का शारीरिक कार्य उसके व्याकरणत्व के अपकर्ष का ज्ञापक नहीं है, अतः इस अर्थ में ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति भी नहीं होगी (न च कार्श्यस्यभावाद् द्रव्ये वैयाकरण शब्दः)।

(ख) कुत्सार्थक सूत्रों से यह भी पता चलता है कि लकार (काल द्योतक लट्, लिट् आदि प्रत्यय) का नियमन भी कुत्साबोधक शब्दों से होता है। सूत्र है—'गर्हायां लडपि जात्वोः' (३।३।१४२)। यहां गर्हा (=निन्दा) अर्थ में केवल लट् लकार का प्रयोग नियमित किया गया है, अर्थात् तीनों कालों में लट् ही होगा। इस प्रकार 'किंवृत्ते लिङ्लिटौ' (३।३।१४४) सूत्र भी गर्हा के अर्थ में लिङ् और लिट् का विधान करता है, जो अन्य लकारों का बाधक है। कुत्सा की यह महिमा है कि वह काल द्योतक प्रत्ययों का नियमन करता है। ऐसा क्यों होता है यह विचारणीय है।

(ग) गर्हार्थक कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनसे निष्पन्न शब्द स्पष्टतः गर्हार्थक नहीं हैं, पर किसी उपमान के आश्रय से वहां कुत्सा का बोध होता है। चेलखेट कटुकाण्डं गर्हायाम् (६।२।१२६) सूत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इस सूत्र से पुत्र चेल, नगर खेट, दधि-

कटुक तथा प्रज्ञाकाण्ड शब्द बनते हैं। 'पुत्र चेल' में गर्हा क्या है इसके विषय में व्याख्याकार कहता है—'चेलं वस्त्रं, तद्वत् तुच्छम्'। यहाँ वस्त्र की तुच्छता का आरोप पुत्र पर किया गया है। उसी प्रकार नगर खेट में तृण की दुर्बलता का आरोप किया गया है (खेटमिति तृणनाम, तद्वद् दुर्बलम्), कटु की स्वादहीनता का आरोप दधि में किया गया है और काण्ड की कष्टदायकता को प्रज्ञा में आरोपित किया गया है (काण्डं शरः, स यथा पीडाकरः एवं भूतम्)। ये सब शब्द किसी के धर्म के आरोप के बल पर ही कुत्सा के वाचक होते हैं।

(घ) पाणिनि के सूत्रों से ऐसे भी कुत्सार्थक शब्द सिद्ध होते हैं, जो स्वरूपतः किसी भी प्रकार से कुत्साभाव के व्यंजक नहीं हैं, पर किसी अन्य वाक्य (या प्रकरण) की सहायता से कुत्सा के व्यंजक होते हैं। यह तथ्य 'सोरवक्षेपणे' (६।२।१६५) सूत्र से विज्ञात होता है। इस सूत्र से 'सुप्रत्यवस्थितः' शब्द बनता है, जो किसी भी प्रकार से कुत्सा का वाचक नहीं है। यहाँ यद्यपि यह पद कुत्सावाचक नहीं है, पर किसी वाक्य से सम्बन्धित हो कर यह कुत्सा का अभिधान करता है (वाक्यार्थोऽत्र निन्दा, असूयया तथाऽभिधानात्)। व्याख्याकार कहता है कि इस शब्द का प्रयोग तब होता है, जब अनर्थ उपस्थित होने पर भी कोई व्यक्ति सुख में रहता है और उसके प्रति असूया उत्पन्न होती है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ सु का अर्थ पूजा ही है (सूरत्रपूजायामेव), परंतु प्रकरण या वाक्य से यह शब्द निन्दावाचक होता है।

(ङ) पाणिनि ने उन कुत्सावाचक शब्दों का भी विवरण दिया है, जो स्वरूपतः कुत्सावाचक नहीं हैं, परन्तु जिनके बल पर अन्य कोई कुत्सित आचरण करता है और इसीलिए व्यवहारकारी के कुत्सित होने से व्यवहार्य पदार्थ भी कुत्सित हो जाता है, तत्त्वतः नहीं। पाणिनि का सूत्र है—'अवक्षेपणेकन्' (५।३।६५); अवक्षेपण = निन्दा। इस सूत्र से 'व्याकरणक' शब्द बनता है, जिससे 'व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः' ऐसा वाक्य बनता है। यहां कन् प्रत्यय तो कुत्सा में होता है, पर व्याकरण वस्तुतः कुत्सित शास्त्र नहीं है। शंका होगी कि तब यहां कुत्सा में प्रत्यय कैसे उपपन्न होता है? व्याख्याकार कहता है—'व्याकरणं हि न स्वतः कुत्सितं, किन्तु अधीतं सत् अध्येतृकुत्साहेतुभूतं गर्वभावहत् अवक्षेपणम्' अर्थात् व्याकरण यद्यपि स्वतः कुत्सित नहीं है, परन्तु यदि उसके पाठ से वैयाकरण में गर्व उत्पन्न हो जाय, तो औपचारिक रूप से कुत्सा का हेतु होने के कारण व्याकरण भी कुत्सित कहलाएगा।

(च) शब्दतः उल्लिखित न होने पर भी कोई शब्द अन्य रूप से कुत्सा का वाचक हो सकता है। इसका उदाहरण 'कर्मणीनि विक्रयः' (३।२।६३) आदि सूत्रों में मिलता है। इस सूत्र से 'सोमविक्रयी' शब्द बनता है जिसमें शाब्दिक दृष्टि से कुत्सा की गन्ध भी नहीं है क्योंकि तद्वाचक कोई शब्द नहीं है। परंतु वार्त्तिककार ने 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' कहा है। यह कुत्सा का भाव पाणिनि-संमत है, क्योंकि सोमविक्रयी आदि सूत्र-सिद्ध शब्द कुत्सा के अर्थ में मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राक् पाणिनीय ग्रन्थों में मिलते हैं। यहां स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिए कि जहां पाणिनि ने विशेषार्थ का उल्लेख नहीं किया और वार्त्तिककार तथा भाष्यकार ने किया है वहां यह समझना कि वह अर्थ अर्वाक् पाणिनीय काल में उद्भूत हुआ असंगत और पाणिनीय पद्धति के न जानने का फल है। व्याकरण में प्रायः अर्थ-निर्देश नहीं किए जाते या विशेषार्थ के स्थान में भी सामान्यार्थ का ही निर्देश किया जाता है। वस्तुतः अर्थ-चिन्ता पाणिनि-व्याकरण का विषय भी नहीं है (तस्मादुपस्थितेष्वर्थेकस्यचित्

प्रतिबध्यते, शब्दस्य शक्तिर्नत्वेष शास्त्रेऽन्वाख्यायते विधिः—वाक्यपदीय उपग्रह० १७ का०)। अर्थ-निर्देश के विषय में व्याकरण की पद्धति पर स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जाएगा। अतः यहां यह विषय आलोचित नहीं है।

इस पद्धति का दूसरा उदाहरण 'आलजाट्यौ बहु भाषिणि' (५।२।१२५) सूत्र है। इस सूत्र से निष्पन्न वाचाल शब्द कुत्सार्थक है ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है। पाणिनि ने यद्यपि कण्ठतः ऐसा नहीं कहा है, तथापि इस अर्थ में उनकी संमति थी यह पतंजलि ने दिखाया है (द्र० महाभाष्य)। इस शब्द के प्राचीन प्रयोगों से भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि चिर काल से यह शब्द कुत्सा में प्रयुक्त होता आ रहा है, यह नहीं कि वार्त्तिककार के समय में ही इस नए अर्थ का उद्भव हुआ, जैसा कि आधुनिक आलोचक समझते हैं।

(छ) कुत्सार्थ के लिए पाणिनि में 'अवक्षेपणे कन्' (५।३।७५) सूत्र भी है। जहाँ भाष्यकार ने कुत्सा के कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार किया है। उन्होंने अवक्षेपण को 'करण' और कुत्सित को 'कर्म' कहा है। उनके अनुसार 'व्याकरणक' शब्द का अर्थ यद्यपि कुत्सित व्याकरण है, परन्तु वहाँ व्याकरण तत्त्वतः कुत्सित नहीं होता, परन्तु व्याकरण पढ़ कर यदि कोई गर्वित हो जाय, तो कुत्सा का हेतु होने से वह कुत्सित कहा जाएगा, और 'अवक्षेपणे कन्' सूत्र का इसी अर्थ में तात्पर्य है। कुत्सिते (५।३।७४) सूत्र में जो कुत्सित कहलाता है, वह स्वयं कुत्सित होता है, जैसे, यदि (५।३।७४ सूत्र के उदाहरण में) देवदत्तकः कहा जाय तो देवदत्त स्वयं कुत्सित है यह बोध होगा।

ऐसा ही एक विचार ८।१।८ सूत्र भाष्य में मिलता है। यहाँ असूया और कुत्सन का एकत्र पाठ है, जहाँ यह शंका होती है कि ये दो शब्द जब समार्थक हैं तब एकत्र पाठ क्यों किया गया? भाष्यकार ने यहाँ असूया और कुत्सन का यह भेद दिखाया है कि यद्यपि असूया के बिना कुत्सा नहीं होती, तथापि गुरु असूया के बिना भी शिष्य की कुत्सा करते हैं, शिष्य के उपकार के लिए, और इसीलिए सूत्रकार ने पृथक् निर्देश किया है। आचार्य कैयट ने यहाँ एक प्राचीन कारिका भी समर्थन के लिए उद्धृत की है (विनाऽप्यसूयया कुत्सां..... ...) जिससे यह भेद स्पष्ट हो जाता है।

(ज) पाणिनि के सूत्रों से यह भी पता चलता है कि कुत्सा कभी-कभी समास का भी नियमन करती है, जैसा कि पहले लकार का नियमन भी कुत्सा से दिखाया गया है। जहाँ समास में क्षेपार्थ का सम्बन्ध होता है वहाँ व्याख्याकारगण कहते हैं कि क्षेपार्थक समास नित्य-समास होता है, क्योंकि वहाँ समास न कर विग्रह वाक्य के प्रयोग करने से कुत्सा का बोध नहीं होगा। एक उदाहरण लीजिए। सूत्र है 'खट्वा क्षेपे' (२।१।२६) [=द्वितीयान्त खट्वा शब्द के साथ कृत्प्रत्ययान्त शब्द का समास होगा निन्दा के अर्थ में], जिससे 'खट्वारूढ' शब्द बनता है, जिसका शब्दतः अर्थ है 'खटिया में आरोहणकारी'। जब समास होता है, तो इसका तात्पर्य निन्दा में होता है[1] और निन्दा के अर्थ में सदैव समास ही होगा 'खट्वां रूढः' ऐसा व्यस्त प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि विग्रह करने से निन्दा का बोध नहीं होता (नहि वाक्येन निन्दा गम्यते)। यह शब्द निषिद्धानुष्ठानकारी के अर्थ में इतना प्ररूढ है कि चाहे

---

१. भाष्यकार ने कहा है—'क्षेप इत्युच्यते। कः क्षेपो नाम? अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मो नातिव्रतवान्' (२।१।२५ भाष्य)

खट्वारोहण कोई करे या न करे, समी निषिद्धाचरणकारी खट्वारूढ कहे जाते हैं। यहाँ कुत्सा के साथ समास का नित्य सम्बन्ध है।[१]

इस रीति का दूसरा उदाहरण 'पात्रेसमितादयश्च' (२।१।४७) सूत्र है। सूत्र का तात्पर्य है कि कुत्सा के अर्थ में ही पात्रे-समित, गेहे-शूर, कूप-मण्डूक आदि शब्द समस्त पद के रूप में निष्पन्न होते हैं, न कि कूप-मण्डूक का अर्थ है कूप में रहने वाला मण्डूक। इस सूत्र के विविध तात्पर्य हैं। प्रथम, कुत्सा भाव में ही कूप और मण्डूक का समास होगा तथा द्वितीय, अन्य शब्द के साथ पुनः इस शब्द का समास नहीं होगा। अर्थात् 'परम-कूप-मण्डूकः' ऐसा प्रयोग नहीं होगा। किस प्रकार इस सूत्र से निष्पन्न शब्द कुत्सा के द्योतक होते हैं, कुछ उदाहरणों से इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है :—

पात्रे-समित—इसकी कुत्सार्थ-द्योतकता के विषय में गणरत्नमहोदधि में कहा गया है—'अपचितक्षीरा धेनुर्या सा पात्रसंगतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सती एवमुच्यते। तद्वदन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः स तदुपमानात् तथा वाच्यः × × अथवा पात्रे एव समिताः मिलिताः नान्यत्र कार्ये। पात्र शब्देन साहचर्याद् भोजनं लक्ष्यते' (२।२०२)।

उदुम्बर-मशक—उदुम्बरे मशक इव अल्पदृश्वा। अथवा उदुम्बरमशकोऽल्पप्राणः सुकुमारश्च तादृशो यः स उदुम्बरमशकः (गण० २।१०५)। इसकी स्पष्टतर व्याख्या न्यासकार ने की है—यस्तत्रैवावरुद्धो न कश्चिद् गच्छति, तमेव विशिष्टं मन्यते नास्मात् परमस्तीति, सः अदृष्टविस्तार उच्यते उदुम्बरमशक इति।

कूप-मण्डूक—कूपे मण्डूक इव। ततोऽन्यज् जलस्थानं सरः समुद्रं वा अधिकं न पश्यति, तद्वद् अन्यः पुरुषो ग्रामे नगरे वा शास्त्रे वा प्रतिबद्धः, ततोऽन्यत् न पश्यति विशिष्टं स एवमुच्यते (गण० २।१०२)।

पिण्डी-शूर—पिण्डयां खादितव्ये वस्तुनि शूरः। कलह-वर्धनादिकं कृत्वा खादितव्यं खादति, अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रमः (गण० २।१०२)।

आखनिक-वक—आखनिकः जलस्रोतः, खातं तस्मिन् वक इव। तद्वदन्योऽपि य आत्मीये गृहे यत् किञ्चिदस्तितद् भक्षयति, नान्यत्र गच्छति सा एवमुच्यते (गण० २।१०३)

(झ) निन्दार्थक शब्द निष्पादक सूत्र रचना के ज्ञान के लिए 'कृत्यैरधिकार्थवचने' (२।१।३२) सूत्र अवश्य दर्शनीय है। सूत्र का अर्थ है—अधिकार्थवचन = स्तुति-निन्दार्थक। अर्थवाद यदि हो तो तृतीयान्त कर्तृवाची या करणवाची शब्दों के साथ कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों का समास होता है, यथा—काकपेया (नदी) या वातच्छेद्य (तृण)। निन्दा की दृष्टि में काकपेया का अर्थ है वह नदी जिसमें अत्यन्त अल्प जल है; वातच्छेद्य का अर्थ है कि तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी छिन्न हो जाता है।

यहाँ व्याख्याकारगण स्पष्ट कहते हैं कि यदि इस प्रकार की निन्दा यहाँ द्योतित न हो तो समास नहीं होगा तथा वे यह भी कहते हैं कि निन्दा के अर्थ में यह सूत्र कुछ अपूर्ण

---

१. 'खट्वारूढः' शब्द सदैव निन्दा में ही प्रयुक्त होगा और यदि 'खट्वा में आरोहणकारी' अर्थ विवक्षित हो तो 'खट्वायामारूढः' ऐसा समासहीन प्रयोग ही होगा, यह व्याख्याकारों का मत है।

है, अर्थात् पाणिनि ने यद्यपि कृत्य प्रत्ययान्त शब्द से ही समास होने के लिये कहा है, तथापि अन्य प्रकार के शब्दों से भी समास होगा—स्तुति-निन्दा के अर्थ में, अर्थात् जैसे 'काकपेया' होता है, वैसे 'काकपीता' भी होगा जिसके लिये पाणिनि का सूत्र मौन है। व्याख्याकारगण इस सूत्र को उदाहरणार्थ मानते हैं, (अन्येतु प्रपञ्चार्थमिदमित्याहुः—प्रदीप)। शब्द प्रयोग के क्षेत्र में निन्दा और स्तुति का प्रभाव कितना अधिक है यह इससे सूचित होता है।

यह भी स्पष्ट जानना चाहिए कि क्षेपार्थ में जहाँ समास होता है, वहाँ समास के बल पर ही क्षेप का बोध होता है, और समास को तोड़ देने से क्षेप का कदापि बोध नहीं होगा। २।१।४१ सूत्र में क्षेपार्थ में 'तीर्थकाक' शब्द निष्पन्न होता है, पर यदि 'तीर्थकाकः कहा जाय, तो आधार-आधेय सम्बन्ध ही प्रतीत होगा, निन्दा का बोध नहीं होगा (क्षेपः समासात् प्रतीयते—प्रदीप)।

(ञ) पहले यह दिखाया गया है कि कुत्सा यदि द्योतित हो तो वहाँ नित्य ही समास होगा। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं, जहाँ कुत्सा के लिये समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता, अर्थात् प्रक्रिया की दृष्टि से वहाँ समास नहीं होता। इस विषय में पाणिनि के दो सूत्र हैं—षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१) तथा पुत्रे न्यतरस्याम् (६।३।२२)। आक्रोश = निन्दा। इन दोनों सूत्रों में यह कहा गया कि किसी कुल की निन्दा के लिये जब हम 'यह चोर का कुल है' ऐसा कहेंगे, तब 'चौरस्य कुलम्' यही प्रयोग होगा, चोर कुलम् ऐसा नहीं होगा। उसी प्रकार किसी की निन्दा के लिये जब 'तुम तो दासी का पुत्र हो' ऐसा कहा जायगा, तब 'दास्याः पुत्रः' (और विकल्प में दासी पुत्रः भी) प्रयोग होगा। निन्दा का प्रभाव शब्द प्रयोग में कितना अधिक होता है, ये दो सूत्र इसके ज्ञापक हैं।

अष्टाध्यायी के अध्ययन से यह पता चलता है कि व्याकरण में जितनी प्रक्रिया हैं, प्रायः उन सब में कोई न कोई सूत्र कुत्सा से संबन्ध रखता है। सन्धि, समास, कृदन्त, तद्धित स्वर आदि सभी प्रकरणों में कुत्सा का प्रसंग अवश्य आया है। इस निबन्ध में संक्षेपार्थ कतिपय ही उदाहरण दिए गए हैं। आशा है परित्यक्त सूत्रों का अध्ययन कर अधिकारी विद्वान् भी अनेक रहस्यों का ज्ञान कर सकेंगे।

(ट) कुत्सन व्यापार के विषय में कैयट ने एक सारगर्भ विचार किया है, यथा, 'कश्चित् स्वार्थकुत्सया कुत्स्यते, पटुकः पण्डितक इति; कश्चिल्लिङ्गेन, यथा, प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कौरवकाः स्त्रियः इति; कदाचित् संख्यया, यथा, इदम् एकमेवा शतमिति' (प्रदीप ५।३।७४)। यहाँ कैयट ने तीन प्रकार से कुत्सित होने का उल्लेख किया है, यथा (१) स्वार्थकुत्सा (२) लैंगिक कुत्सा (३) संख्याज्ञाप्य कुत्सा।

स्वार्थकुत्सा का उदाहरण पण्डितक या पटुक है। यहाँ की कुत्सा प्रवृत्ति-निमित्त के अपकर्ष हेतुक है। पटुत्व होने से तब कोई पटु कहलाता है, पर पटुत्व में अपेक्षित उत्कर्ष यदि न हो, तो यह पटुक कहलाएगा।[१]

(१) प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा के अन्य उदाहरण भी हैं। 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (२।१।५३) सूत्र के उदाहरण में जो 'वैयाकरण-खसूचि' शब्द है, वहां शब्द प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा है, अर्थात् व्याकरणज्ञान मे कमी के कारण ऐसा कहा जाता है, पर शास्त्र-ज्ञान यदि ठीक हो और आचरण कुत्सित हो, तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, जैसे वैयाकरणो दुराचारः' यहां २।१।५३ सूत्र से समास नहीं होगा। पापाणके कुत्सिते (२।१।५४) सूत्र में इस नियम का दूसरा उदाहरण है।

लैंगिक कुत्सा के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत हैं, उनसे पता चलता है कि यहाँ की कुत्सा पदार्थान्तर-सापेक्ष है। चूंकि गाण्डीवधन्वा अर्जुन के समक्ष कौरव लोग निवीर्य हो जाते हैं, अतः वे कुत्सित हैं, (अर्जुन संनिधौ किमेते प्रमांस इतिप्रतीयत इति भावः—उद्द्योत) इसी भाव के द्योतन के लिये यहां कौरवक शब्द प्रयुक्त है।

संख्याज्ञाप्य कुत्सा के उदाहरण की व्याख्या में स्वयं प्रदीपकार ने ही कहा है—'शतभरणे यद् दुःखं तद् एकस्य भरण इति शतत्वारोपेण कुत्सा,। अर्थ स्पष्ट है।

अप्रवृत्तिनि-मित्त कुत्सा के विषय में आचार्य कैयट का विचार इस प्रकार है—'यत्र तु प्रवृत्ति-निमित्तस्य कुत्सा न संभवति—अश्वको देवदत्तकः सकः—इत्यादि तत्र सहचरितगुण-क्रियाश्रयेण प्रत्ययो भवत्येव, (प्रदीप ५।३।४७)। तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रवृत्ति-निमित्त की कुत्सा सम्भव नहीं है ; उदाहरणार्थ जाति में कुत्सा संभव नहीं, जैसे घटत्वजाति कुत्सित नहीं हो सकती, पर धावनकारी अश्व यदि द्रुत न दौड़ सके तो वह अश्व कुत्सित कहलाएगा ; वहाँ उस पदार्थ के किसी गुण और क्रिया के अप्रकर्ष को लक्ष्य कर कुत्सिते (५।३।७४) सूत्र से कन् प्रत्यय हो सकता है। अश्व को जब हम कुत्सित कहते हैं (अश्वक प्रयोग में) तब वहाँ अश्वत्व जाति कुत्सित नहीं होती, प्रत्युत अश्व-धावन का अपाटव विवक्षित होता है, जो अश्व-सहचरित किसी धर्म के आश्रय से कहा जाता है; पर ५।३।४७ सूत्रीय उदाहरण में में जब हम 'वैयाकरण पाश' इस कुत्सार्थक शब्द का प्रयोग करते हैं, तब व्याकरण-ज्ञान का जिसके हेतु कोई व्यक्ति वैयाकरण कहलाता है अप्रकर्ष विवक्षित होता है।

इन दोनों उदाहरणों से प्रवृत्ति-निमित्त और अप्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा का भेद स्पष्ट हो जाता है ; यथा, जिसके रहने के कारण कोई पदार्थ किसी शब्द का वाच्य होता है, यदि उस तत्त्व में अप्रकर्ष हो तो प्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा होगी और यदि वाच्य पदार्थ के सहचरित किसी गुण का अप्रकर्ष विवक्षित हो तो अप्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा होगी। यहाँ का 'प्रवृत्ति-निमित्त' शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिस पर विशद विचार स्वतन्त्र निबन्ध में किया जायगा। पूर्वाचार्य कहते थे कि यदृच्छा शब्द में प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होता, पर उसमें भी प्रवृत्ति-निमित्त कुत्सा में क प्रत्यय होता है, इसका विचार भी हम उस लेख में करेंगे।

(ठ) जब यह निश्चित हो गया कि कुत्सार्थक प्रत्यय मुख्य (प्रवृत्ति-निमित्तक) तथा गौण (अप्रवृत्ति-निमित्तक) रूप से ही होते हैं, तब एक संशय होता है कि संस्कृत में 'कुत्सितक' शब्द(जहाँ कुत्सा में क प्रत्यय होता है) कैसे बन सकता है ? किस नए अर्थ के द्योतन के लिये क प्रत्यय किया गया है ?

५।३।७४ सूत्रकी भाष्य-टीकाओं में इस पर जो विचार है, उसे संक्षेप में कहा जा रहा है। व्याख्याकारों ने 'कुत्सितक' शब्द के दो अर्थ माने हैं। (क) कुत्सितत्व की कुत्सा के लिये, अर्थात् कुत्सितव यहाँ सम्यक् नहीं है, इस अर्थ में कुत्सितक शब्द बनता है। (ख) कुत्सित शब्द में जिस कुत्सा का अभिधान होता है वह किसी विशेष धर्म की ओर लक्ष्य नहीं करता और कुत्सा के किसी विशेष धर्म को दिखाने के लिये क प्रत्यय जोड़ कर (कुत्सित +क) कुत्सितक शब्द बनाया जाता है (अनिर्धारितविशेषधर्मनिबन्धना कुत्सा कुत्सित-शब्द-प्रवृत्तिनिमित्तम्, ब्रह्महत्यादि विशेष निबन्धना कुत्सा तु प्रत्यय निबन्धनम्—प्रदीप)। पहले

पक्ष वाले युक्ति देते हैं कि जैसे प्रकृष्ट के प्रकर्ष में तम प्रत्यय हो कर प्रकृष्टतम बनता है, वैसा कुत्सितत्व की कुत्सा में भी क प्रत्यय हो सकता है।

इन दोनों व्याख्याओं से कुत्सितक शब्द के दो विरोधी अर्थ होते हैं। (क) के अनुसार इसका अर्थ होगा जिसकी कुत्सा असम्यक् है, अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है और (ख) पक्ष में अर्थ होगा जिसकी कुत्सा किसी विशेष धर्म के कारण है।

(ङ) कुत्सा सम्बन्धी मनोभाव का अन्य उदाहरण 'मन्य कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' (२।३।१७) सूत्र से भी जाना जा सकता है। अनादर प्रदर्शन के क्षेत्र में चतुर्थी विभक्ति के विधान के लिये यह सूत्र है। एक उदाहरण लीजिए—'नत्वां श्वानं मन्ये' = मैं तुमको कुत्ता भी नहीं मानता। व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसे स्थलों में यदि 'मैं तुमको कुत्ता मानता हूँ' कहा जाय तो वह अनादर का प्रदर्शन यथोचित रूप से नहीं करता और इसीलिये यह निषेध-मूलक वाक्य (नहीं मानता हूँ) का प्रयोग किया गया है। इसी भाव के लिये वार्त्तिककार ने कहा है—'मन्यकर्मणि प्रकृष्य कुत्सित ग्रहणम्' जिससे 'न त्वां तृणं मन्ये' ऐसे स्थलों पर जहाँ वार्त्तिक दर्शित मनोभाव विद्यमान नहीं हैं, वहाँ चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वा या तृण के साथ जब मनुष्य का साम्य दिखाया जायगा, तब चतुर्थी नहीं होगी, क्योंकि कुत्सा का प्रतिपादन प्रकर्ष पूर्वक होना चाहिए और इसीलिये प्रतिषेद-युक्त कुत्सा में ही चतुर्थी विभक्ति होती है।

शायद पाणिनि से भी प्राचीन काल में तिरस्कार के बोध में चतुर्थी विभक्ति के विधान में पाणिनि-दर्शित कुत्सा-बोध से भी अधिकतर कुत्सा बोध में ही चतुर्थी होती थी। प्राक् पाणिनीय आचार्य आपशलि इस विषय में कहते थे—मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽ प्राणिषु (द्र० प्रदीप टीका), जिसकी व्याख्या में नागेश ने कहा है—'आपशालिवाक्येन उपमानवाचकात् तोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीत्युच्यते' (उद्द्योत)।

कुत्सार्थक सूत्रों के विश्लेषण से कभी-कभी स्त्री और पुरुषों के स्वभाव का भी कुछ न कुछ ज्ञान हो जाता है—जिसका उदाहरण 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' (८।४।४८) सूत्र में देखा जा सकता है। यह सूत्र कहता है कि आक्रोश (निन्दा) यदि गम्यमान हो तो पुत्र + आदिनी इस स्थल पर तकार का दित्व नहीं होता। पर यहाँ एक बात लक्षणीय है। वह है आदिनी शब्द की स्त्रीलिंगता। क्या यहाँ एक स्त्रीलिंग शब्द का ही उल्लेख किया गया, पुल्लिंग का नहीं, इसके उत्तर में हरदत्त कहते हैं कि ऐसा आक्रोश स्त्री में ही संभव है। इसलिये पाणिनि ने स्त्रीलिङ्ग शब्द का ही प्रयोग किया है। माधव ने भी इस बात को माना है। यदि यह बात सत्य हो तो व्याकरण के अन्यान्य सूत्रों से भी इस प्रकार की मनोवृत्तियों का पता लगाया जा सकता है।

आगरा जिले की ग्रामीण ब्रजभाषा के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रयाग विश्वविद्यालय

इस निबंध द्वारा लेखक आगरा जिले की ग्रामीण ब्रजभाषा के जिन शब्दों को उनके अर्थ, प्रयोग तथा व्युत्पत्ति के साथ प्रस्तुत कर रहा वे सभी बाह तहसील से प्राप्त किए गए हैं। बाह तहसील आगरा जिले के दक्षिण-पूर्वी सीमांत को बनाती है। उत्तर-प्रदेश के इटावा तथा मैनपुरी जिलों की सीमा तथा मध्य भारत के भिंड प्रदेश की सीमा इसी तहसील से मिलती हैं।

आगरा जिले की ब्रजभाषा के शब्द-समूह के संबंध में लेखक को जो अनुभव हुए हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण ब्रजभाषा के बहुत से शब्द बोलने वालों द्वारा स्वयं गढ़े गए हैं। कुछ शब्द तो ऐसे भी हैं जो केवल एक तहसील विशेष में ही बोले या समझे जा सकते हैं। अपने प्रदेश के बाहर उनका चलन नहीं है। इसीलिए जिले की ठेठ ब्रजभाषा के बहुत-से शब्दों का संबंध संस्कृत से नहीं जुड़ता। उनकी उत्पत्ति नितांत स्थानीय है। परंतु नीचे जिन शब्दों की व्युत्पत्ति दी जा रही है, उनमें से अधिकांश इस वर्ग के नहीं हैं। उनके पूर्व-रूप संस्कृत में मिलते हैं।

व्युत्पत्तियाँ प्रारंभ करने के पूर्व यह निवेदन कर देना उचित ही होगा कि इस निबंध में प्रस्तुत सभी निष्कर्ष अंतिम रूप से मान्य नहीं कहे जा सकते। भाषा विज्ञान के अंतर्गत कदाचित् व्युत्पत्ति विज्ञान ही सबसे अधिक अस्थिर तथा अनिश्चित् सामग्री उपस्थित करता है। इसके निष्कर्षों को जाँचने की कोई विशिष्ट कसौटी हमारे पास नहीं है। अंतिम निर्णय लेने तक इस विज्ञान में सारे तर्क-वितर्क के साथ अनुमान का भी सहारा लेना पड़ता है।

प्रस्तुत निबंध की कुछ व्युत्पत्तियाँ बहुत ही स्पष्ट तथा सीधी हैं। परंतु अत्यधिक स्पष्ट तथा सीधी होने के ही कारण कभी-कभी वे सहसा दिखाई भी नहीं देतीं।

१. **अगिहाँनों**—इस शब्द का अर्थ होता है 'अलाव'—'अगिहानें के चारों ओर बैठि जाउ'। इस शब्द का संबंध संस्कृत 'अग्नि × आधान' = अग्न्याधान से है—अग्न्याधान > अग्गिहान > अगिहाँन > अगिहाँनों। 'हाँ' तथा 'नों' की अनुनासिकता अंतिम 'न' के कारण है।

२. **अथएँ**—इस शब्द का अर्थ है 'संध्या'—'अथएँ आइ जइयो'। यह शब्द अर्थ-संकोच का सुंदर उदाहरण है। 'अथएँ' का संबंध संस्कृत 'अस्तः' से है। इस प्रकार यहाँ 'अस्तः' का अर्थ केवल 'सूर्यास्त' से लिया गया है।

३. **कटऊँ**—इस शब्द का अर्थ है किसी द्रव्य की उत्पत्ति के पहले ही उसका सौदा निश्चित कर लेना (advance booking) 'बानें' तीन सेर को दूध कटऊँ करों हैं'। इस शब्द का संबंध हिंदी 'काटने' से है। किसी चीज़ में से अपना हिस्सा पहले से ही काट लेना—यही इस शब्द का भाव है।

४. कुची—इस शब्द का अर्थ है 'चाबी' 'कुची काँ धद्दई ?' संस्कृत 'कुंचिका' का यह विकसित रूप है—कुंचिका > कुञ्चिआ > कुची। इस शब्द का समानार्थक हिंदी में 'चाबी' शब्द चलता है। बहुत से अन्य शब्दों के समान ही इस ब्रजभाषा शब्द में भी मूल संस्कृत रूप सुरक्षित है, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

५. घओं—चूल्हे के आगे जहाँ अंगार रक्खे जाते हैं, उस स्थल को 'घओं' कहा जाता है—'रोटी घए पें सेंकि लेउ'। यह शब्द 'सार्थक द्विरुक्ति' का उदाहरण माना जा सकता है ! 'तओं' (तवा) से विरोध दिखाने के लिए 'घओं' शब्द गढ़ा गया होगा।

६. डगरियाउ—शब्द-संयोग का यह एक अच्छा उदाहरण है। इसका अर्थ होता है 'चले जाओ'। 'ह्याँतें डगरियाउ'। 'डगरि' तथा 'जाउ' शब्दों के संयोग से इसकी सिद्धि हुई है। परन्तु अब इसका प्रयोग एक शब्द के रूप में ही होता है।

७. दरेंता—इसका अर्थ है 'बड़ी चक्की'—'दरेंता घर घर करओ हे'। 'दरने' से 'दरेंता' बना है, और यह 'दरना' संस्कृत 'दलनम्' से संबद्ध जान पड़ता है। ब्रजभाषा में 'ल' का 'र' में परिवर्तन एक साधारण नियम है। इस प्रकार 'दलन' से, जिसका अर्थ होता है 'चूर-चूर करना' 'नष्ट करना', 'दरना' बना और इस 'दरना' से 'दरेंता' (अर्थात् 'दरने वाला') की सिद्धि हुई।

८. दुपतिया—इस शब्द का अर्थ होता है नीच जाति—दूसरी पंक्ति में भोजन करने वाली—'दुपतियन कों पस्सि देउ'। यह शब्द संस्कृत द्वितीय पंक्ति से विकसित हुआ जान पड़ता है। जो भोजन के समय पहली पंक्ति या पंगत में न बैठाया जा सके उसे 'दुपतिया' कहते हैं।

९. बज्जुरु—इस शब्द का अर्थ होता है 'घोर' 'बु तो बज्जुरु लोभी हे'। स्पष्ट ही इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'वज्र' से हुई है।

१०. बब्बराबाहन—यह शब्द मुहावरे का है। इसका प्रसंग से अर्थ होगा 'अनुपम वीर' 'बड़े आए बब्बराबाहन कहूँ के' इसका विकास संस्कृत 'वभ्रुवाहन' से हुआ है। वभ्रुवाहन की वीरता की ख्याति पौराणिक है।

११. बंजु—आगरे की ग्रामीण ब्रजभाषा में इस शब्द का प्रयोग कुछ परिवर्तित रूप में संज्ञा तथा क्रिया दोनों के ही अर्थ में होता है—'जि बंजु ठीक नाँएँ'—संज्ञा; 'तुमनें बाइ खूब बंजो'—क्रिया। इस शब्द का अर्थ होता है 'व्यापार' और यह संस्कृत 'वाणिज्य' का विकसित रूप है।

१२. बीजना—इस शब्द का अर्थ है 'पंखा'। 'बीजना सिरहानें धल्लेउ'। स्पष्टतः इसका विकास संस्कृत 'व्यजनम्' से हुआ है।

१३. सिग्गरई—शब्द-संयोग का यह दूसरा उदाहरण है। इसका अर्थ है 'सब घर की सौगंध'—'सिग्गरई ?' उत्तर—सिग्गरई !' 'सिग्' 'घर' तथा 'की' इन तीन शब्दों के संयोग से इसकी सिद्धि हुई है।

उपर्युक्त १३ शब्दों में से ९ शब्दों का संबंध संस्कृत से है। शेष ४ अर्थात्, शब्द संख्या ३, ५, ६ तथा १३ की उत्पत्ति स्थानीय है।

नोट—प्रस्तुत निबंध में प्रयुक्त लिपिचिन्ह स्वर ध्वनि का अर्द्ध विवृत होना सूचित करता है।

नागरीदास

श्री तारकनाथ अग्रवाल, कलकत्ता विश्वविद्यालय

हिंदी साहित्य में 'नागरीदास' नाम के कई कवि हो गए हैं। मिश्रबन्धु विनोद में मिश्रबन्धुओं ने निम्नलिखित तीन नागरीदासों का उल्लेख किया है —

१—नाम—(६६३) नागरीदासजी वृंदावनवासी।

ग्रन्थ—बानी।

समय—१७६०।

विवरण—इनके ग्रन्थ 'बानी' में कुल १६१ पद हैं। यह ग्रन्थ छतरपुर के राजा के पुस्तकालय में है। कविता साधारण श्रेणी की है। १६०५ की खोज रिपोर्ट से भी इस ग्रन्थ का पता चलता है। इनके एक और ग्रन्थ 'भागवत' का उल्लेख चतुर्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट में है।

२—नाम—(८७०) नागरीदास, वृंदावन वाले।

ग्रन्थ—स्वामी जी के पदन की टीका।

समय—१८२०।

विवरण—इनके ग्रन्थ 'स्वामीजी के पदन की टीका' स्वामी हरिदास, बिहारिनिदास, बिट्ठलविपुल, सरसदास, नरहरिदास तथा स्वयं इनके पदों की टीका विस्तृत रूप से की गई है। यह ग्रन्थ फुल्स्केप आकार के ३२४ पृष्ठों में है। कविता साधारण श्रेणी की है। ग्रन्थ छतरपुर राजा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। १६०५ की खोज रिपोर्ट में इनका एक और ग्रन्थ 'हरिदास जी को मंगल' नाम का मिला।

३—नाम—महाराजा नागरीदास।

समय—१७८०।

विवरण—मिश्रबन्धु विनोद में इन नागरीदास का कोई विवरण नहीं है। केवल निम्न पद कहीं से उद्धृत हैं—

'यक मिलत भुजन भरि दौरि दौरि
यक टेरि बोलावत औरि औरि।
कोउ चले जात सहजै सुभाय
पद गाय उठत भोगहि सुनाय।
अतिसै विरक्त जिनके सुभाव
जे गनत न राजा रंक राव।

ते समिटि-समिटि फिर आय-आय
फिर छांड़त पद पढ़वाय गाय।'

मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित तीन नागरीदासों में से सम्भवतः नं० ३ वाले नागरीदास हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ठाकुर शिवसिंह जी ने अपनी पुस्तक में जिन नागरीदास का उल्लेख किया है और जिनका जन्म संवत् वे सं० १६४८ मानते हैं शायद उपर्युक्त नं० ३ वाले नागरीदास ही हैं। 'सिवसिंह-सरोज' में इनका निम्न पद दिया हुआ है—

"भादौं की कारी अंध्यारी निसा लखि बादर मन्द फुही बरसावै।
स्यामाजी आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै।
ता समै नागर के दृग दूरि ते चातक स्वाति की मौजहि पावै।
पौन मया करि घूंघट टारै दया करि दामिनी दीप दिखावै।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन कवियों के अन्तर्गत भक्त प्रवर नागरीदासजी का उल्लेख किया है। इनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था। इनका असली नाम सावतसिंह था। ये कृष्णगढ़ के नरेश थे। गृह-कलह के कारण ये वृंन्दावन में विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे थे और वहीं इनका नाम नागरीदास पड़ा। इन्हीं की उपपत्नी 'बणी ठणी जी' थीं जो कविता भी करती थीं। इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिला कर ७३ पुस्तकें कृष्णगढ़ में सुरक्षित हैं।

नागरीदास जी की कृतियों का एक संग्रह 'एशियाटिक सोसाइटी' बंगाल में भी सुरक्षित है। ये नागरीदासजी भी उपर्युक्त नं० ३ वाले 'नागरीदास' ही हैं। इस हस्तलिखित ग्रन्थ में पुष्पिका का अभाव है। इसलिये कहा नहीं जा सकता कि ग्रन्थ की रचना-तिथि क्या है। लेकिन पृष्ठ १० (फोलियो) पर लिखा है 'इति श्री ब्रजलीला पद प्रबन्ध संपूर्ण। श्री महाराज कुमार श्री सावंत सिंघ बाहादुर दुतिय हरि सम्बन्ध नाम नागरीदास कृत संपूर्ण॥ श्री गोपीजन बल्लभजी॥'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी जिन ७३ पुस्तकों का नाम अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में गिनाया है उनमें से ५७ कृतियाँ सोसाइटी वाली प्रति में भी प्राप्य हैं। यहाँ यह उल्लेख योग्य है कि ये नाम विभिन्न पुस्तकों के नहीं हैं। ये नाम तो भिन्न-भिन्न प्रसंगों या विषयों के कुछ पद्यों में वर्णन मात्र हैं। सोसाइटी वाली प्रति ३४२ फोलियो में समाप्त है। इसमें निम्न १६ नामों का उल्लेख नहीं है जिनका उल्लेख हम आचार्य शुक्लजी की पुस्तक में पाते हैं। सोसाइटी वाली प्रति में न पाये जाने वाले नाम हैं:—
१—मनोरथमंजरी, २—रामचरितमाला, ३—पद प्रबोध माला, ४—जुगल भक्ति, विनोद, ५—रसानुक्रम के दोहे, ६—शरद ही मांझ, ७—सांझी बनबीनन संवाद, ८—वसंत वर्णन ९—रसानुक्रम के कवित्त, १०—फागखेलन समेतानुक्रम के कवित्त, ११—निकुंजविलास, १३—गोविन्द परचई १३—वनजनप्रशंसा, १४—छूटक दोहा, १५—उत्सव माला, १६—पद मुक्तावली।

इनकी कृतियों में से गद्य में कही गई भक्तों की जीवन सम्बन्धी वार्ताएं १८वीं शती के हिन्दी गद्य पर प्रकाश डालती हैं, इसलिये यहाँ उद्धृत की जा रही हैं। देखिए जयदेव के जीवन के सम्बन्ध में एक वार्ता के गद्य का नमूना :—

श्री जयदेवजी एक समैं एक राजा पैं रहै। उनकी स्त्री पदमावती जी। सो रानी पैं रहैं। सो रानी निंदक बुधिहीन हुती। सो पदमावतीजी की अरु जयदेवजी की परिछा कै निमित्त। रानी कुट बनाय कै कह्यो। पदमावतीजी सौं जु राजा सिंघ की सिकार गये हैं। सो जयदेवजी नै सिंघ मारै। यह कहि एक पाय आन धरी। ताही छिन सुनत पदमावतीजी नै प्राण छाड़ि दियो। रानी को मुह सूकि गयौ। इतनै मैं राजा अरु जयदेवजी आये घर। यह वृत्तांत सुनि राजानै तो बहौत पेद कियौ। अरु जयदेवजी आप पदमावतीजी के मृत शरीर के ढिग। गीत गोविन्द की अष्ट पदी गावत भये तब ताही छिन पदमावती जी सनजीवन ह्वै गवन लगैं।।

हिन्दी साहित्य के गद्य का क्रमिक विकास यह बताता है कि गद्य का प्रारम्भिक रूप ब्रजभाषा में था। ब्रजभाषा के गद्य का नमूना प्रायः संवत् १४०० से पाया जाता है। "गोरख गणेश गोष्ठी", "महादेव-गोरख-संवाद", "गोरखनाथजी की सत्रह कला" आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें इस काल के गद्य के नमूने वर्तमान हैं। उस काल के गद्य का एक उदाहरण देखिए जिसमें "अम्ह", "तुम्ह" आदि सर्वनाम, तथा "ममि" आदि शब्दों के अधिकरण रूप प्राचीन ब्रजभाषा के द्योतक हैं :—

श्री गुरू परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौ गोरषि सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत हौं। है कैसे वे मछंदर नाथ आत्म जोति निश्च है अंतह-करन जिनके अरु मूलद्वार तैं छहचक्र जिनि नीकी तरह जानें। स्वामी तुम्ह तो सतगुर, अम्ह तो सिष। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस। [१]

गद्य की उपर्युक्त भाषा के पश्चात् के गद्य की भाषा का उदाहरण हमें कृष्ण भक्ति शाखा के दो सांप्रदायिक ग्रंन्थ, १—चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा २- दोसौ वैष्णवों की वार्ता में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों की भाषा बोलचाल की सरल भाषा है, क्योंकि ये ग्रन्थ संभवतः प्रचार के उद्देश्य से लिखे गये थे। इन ग्रन्थों का रचना काल सम्वत् १६२५ और १६५० के बीच अर्थात् विक्रम की १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। उदाहरण—

"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। तो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो : ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लागो। वैष्णवन ने कही "जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। यहां खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो यहाँ आवो।[२]

इसके उपरांत ब्रजभाषा के गद्य के लिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहां का तहां रह गया। उपर्युक्त वैष्णव वार्ताओं में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र, शुक्ल, पृ० ४८०,
२. वही, पृ० ४८१

पड़ा वैसा फिर आगे चल कर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। इसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यामरः" और कथंभूतम् वाली टीकाओं की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लक्कड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाए पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की लिखी "शृंगार शतक" की एक टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

उन्मत्तप्रेमसरंभादालभते पदंगनाः ॥
तत्र प्रत्यूहमाघातुं ब्रम्हणि खलुक्रातरः ॥

टीका—अंगना जुहै स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जुकार्य करन चाहति हैं ता कार्य विषैं। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं। आघातुं। अंतराउ कीबे कहं। कातर। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जुकछु स्त्री करयो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अंतराउ ब्रह्मा पहं न करयो वाइ और की कितीक बात।[१]

निस्संदेह यह मानना पड़ेगा कि "शृंगार शतक" की टीका की भाषा और शैली १७ वीं शताब्दी की भाषा और शैली की तुलना में साहित्यिक दृष्टिकोण से निम्नकोटि की ठहरती है। लेकिन नागरीदास जी का गद्य जिसका एक नमूना ऊपर दिया जा चुका है स्पष्ट सिद्ध करता है कि १७ वीं शताब्दी की शैली की तरह ही १८ वीं शताब्दी में भी ब्रजभाषा में गद्य की रचना हुई थी। इस उदाहरण के द्वारा आचार्य शुक्ल जी का उपर्युक्त मत कि..."वैष्णव वार्ताओं में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चल कर नहीं" खंडित हो जाता है। लेकिन आवश्यकता ऐसे गद्य के उदाहरणों की खोज की है। ऐसे गद्यों की खोज और उनका संग्रह हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ४८३

अलीमुराद कृत 'कुंवरावत'

डॉ० सरला शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय

'कुँवरावत' नामक प्रेमाख्यान का उल्लेख जायसी के पद्मावत पाठन्तरों के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। कवि ने कथा के मध्य अपना नाम अलीमुराद दिया है।

'अली मुराद सब छाँड दे, एक गुरू चित लाव।
भरम गये भरम भये, गुर को हर घुराव॥'

अपने गुरु का नाम कवि ने 'फ़ख़रुद्दीन' दिया है जो हजरत निजामुद्दीन औलिया के पुत्र तथा उनकी शिष्य परम्परा में प्रमुख थे।

निजामुद्दीन के लाल फखरुद्दीन विनती सुनो हमारी।
भव सागर से पार उतारो बेगिहि लियो उबारी॥
बोहित बूड़ी मँझधारी

तथा

निजामुद्दीन का सुन्दर सँवरिया, उन मेरो बाँह धरो री॥

कवि ने कथा के मध्य आध्यात्मिक संकेत को स्पष्ट करने का प्रचुर प्रयास किया है। प्रेम-कथा को आरम्भ करने के पूर्व कवि ने निर्गुण महिमा, गुरु-महत्व तथा शरीयित के नियमों की विस्तृत विवेचना की है। परमेश्वर एवं जीव में एकत्व स्थापित करते हुए कवि लिखता है कि जब समुद्र का जल एक बूँद के आकार में समाहित हो जाता है तब न वह केवल समुद्र है और न केवल बुँद ही : समुन्दर से बूँद भयो जब ओही, समुन्दर कहै नहीं, बूँद न होई।

× × ×

बुल्ला नदी बुन्द एक है दूजा नहीं तू जान।
यह बानी है मुराद की सांची कहा बखान॥

यह सम्पूर्ण संसार उसका स्वरूप है, जो इस संसार में उसके दर्शन न कर सका वह जन्म-जन्मान्तर पछताता रहेगा—

जो कोई दरसन यहाँ नहिं पावा, जनम जनम रहि है पछतावा॥

जो उस परमेश्वर की महानता को नहीं समझता और गर्व के वशीभूत हो जाता है, परमेश्वर उसका दर्प चूर्ण करता है—

आप बड़ा समुद्र ने जाना, जब काहू पीओ पछताना।
बड़ा एक था दूत सयाना, मिटा गर्व भूला सब ग्याना॥
आज्ञा हरि की दीन्ह भुलाई, आपन का नहीं सीस नवाई॥

कवि कबीर की भाँति पोथी-ज्ञान को अवहेलना करके केवल प्रेम की आराधना अभीष्ट समझता है। आपा को भूलने वाला ही प्रेम-मार्ग पर अग्रसर हो सकता है; कवि बड़ी दृढ़ता से कहता है—

पोथी सो थोथी भई, पंडित रहा न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥
× × ×
कठिन प्रेम विरह धन होई, वह नर कहीं जो आपा खोई॥

कवि गुरु के महत्त्व को भी स्पष्ट करता है। गुरु को वह जीवन सार्थक करने वाला कहता है—

बिना गुरु कुछ काम न होई, बैस अकारथ पूरी खोई।
पहले प्रीत गुरु से कीजै, प्रेम वाट में तब पग दीजै॥

जब गुरु का पूर्ण ज्ञान शिष्य आत्मसात् कर लेता है तभी साधक को सिद्धि उपलब्ध होती है—

गुरु समाना सिक्ख में, ऐसी बढ़ गई नेह।
दुई गई एकै रहा, भई सुगन्ध सब देह॥

इसी प्रकार कवि अपने जीवन एवं जगत् सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करता हुआ कथा आरम्भ करता है।

कुँवरावत का कथानक इस प्रकार है। एक बार बनारस ऐसे प्राचीन एवं समृद्ध नगर में अमरपुरी का राजा इन्द्र गंगा-स्नान करने आया। इन्द्र के साथ उसकी अनिंद्य सुन्दरी पुत्री फूलमती भी थी। इसके बाद कथा खण्डित है। उसमें २४ दोहे नहीं मिलते हैं। फिर कथा जहाँ से आरम्भ होती है वहाँ एक कुँवर अपने चार अन्य साथियों के साथ एक फुलवारी में है। रात्रि में उसी फुलवारी में कुछ परियाँ आईं जिनके संगीत एवं नृत्य से वे पाँचों साथी आनन्द-लाभ करते रहे। जब प्रातःकाल होने को हुआ तब उन परियों ने कुँवर तथा अन्य जोगियों को एक पात्र में कुछ पीने को दिया, कुँवर ने उसका पान नहीं किया, किन्तु अन्य जोगी उसका पान करने के कारण प्रातःकाल होने पर अन्तर्धान हो गए।

अकेला कुँवर इन्द्र की पुत्री फूलमती का नाम-स्मरण करता हुआ आगे बढ़ा। अनेक कठिनाइयों का सामना करता हुआ कुँवर आगे बढ़ रहा था कि मार्ग में उसे एक तपस्वी मिला। तपस्वी ने कुँवर की व्यथा समझ कर उस पर अनुग्रह किया तथा दो वस्तुयें एक जन्त्र तथा लकुटिया प्रदान की।

कुँवर ने लकुटिया की सहायता से समुद्र पार किया और एक मास पश्चात् वह ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ बहुत सी पाषाण प्रतिमाएं थीं। कुँवर ने मन्त्र-बल से प्राण फूँक कर उनकी हाल पूछा तो उन्होंने बताया कि एक बार जब फूलमती मन्दिर में पूजन करने आई

थी तभी उसको देख कर वे देवगण पाषाण की मूर्ति बन गए। कुँवर ने उन सभी देवताओं को जीवन-दान दिया और उन चार सौ देवताओं के साथ वह निर्भीक हो कर फूलमती के नगर की ओर बढ़ा। जब वह नगर के समीप पहुँचा उसे नगर के रक्षक देव मिले। उन्हें नर-संहार को उद्यत देख कर कुँवर ने जन्त्र तथा लकुटिया के प्रभाव से उन सब को मार डाला। उनमें से एक देव किसी प्रकार भाग निकला, उसने राजा इन्द्र से इन मानवों की सेना की सूचना दी। इन्द्र ने अपने एक मन्त्री को कुँवर का मर्म जानने के लिये भेजा। कुँवर को फूलमती का प्रेमी जान कर मन्त्री ने राजा इन्द्र को सूचना दी। इन्द्र ने कुँवर से कहला भेजा कि एक जादू के पिंजड़े में जादू का ही तोता निवास करता है। यदि कुँवर उसे बेध देगा तो उसका विवाह फूलमती के साथ हो जाएगा। कुंवर ने मन्त्रबल से तोते को बेध दिया। प्रण पूरा हो चुकने पर शुभ लग्न में कुंवर एवं फूलमती का पाणिग्रहण हो गया।

कुंवर एवं फूलमती आनन्द से रहने लगे। एक दिन स्वप्न में अपने देश एवं परिवार को देख कर कुंवर की इच्छा स्वदेश लौटने की हुई। दहेज में प्राप्त धन सम्पत्ति को ले कर कुंवर जहाज पर चढ़ कर चल दिया। मार्ग में ब्राह्मण वेशधारी समुद्र को दान न देने के कारण समुद्र ने कुपित हो कर उसकी नाव डुबा दी। फूलमती एक तख्ते के सहारे चार दिन के बाद एक किनारे से जा लगी, वह देश विभीषण का था। फूलमती का परिचय पा कर विभीषण ने कुंवर की खोज का प्रयास किया, क्योंकि इन्द्र विभीषण का गुरु था। समुद्र-मन्थन एवं दान पुण्य कराके विभीषण ने कुंवर को प्राप्त कर लिया और फूलमती तथा कुंवर साथ-साथ आनन्द-विहार करने लगे।

यहीं पर विरहिणी की अवस्था में कवि वसुमती का परिचय देता है। वसुमती वासुदेव की पुत्री तथा कुंवर की पूर्व पत्नी थी। वसुमती के विरह की चर्चा में कवि की लेखनी बहुत मार्मिक हो गई है। एक हुदहुद वसुमती का विरह-संदेश कुंवर तक पहुँचाता है जिसे सुन कर कुंवर स्वदेश लौट आता है तथा पिता की मृत्यु के पश्चात् बारह वर्ष तक निर्विघ्न राज्य करता है।

इसी बीच नगर गोर के सुल्तान ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सुल्तान ने नगर के समीप पहुँच कर कुंवर से कर देने को कहला भेजा। मान-हानि से क्रुद्ध कुंवर ने सुल्तान को युद्ध के लिये ललकारा। कुंवर की युद्ध-निपुणता से सुल्तान घबरा गया। सुल्तान की पराजय निकट थी कि एक गुलाम ने छलपूर्वक कुंवर को भाले से मार डाला। फूलमती को जब कुंवर के निधन का समाचार मिला तो वह दुखी होकर कुंवर के साथ सती हो गई। यहीं कथा समाप्त हो जाती है।

कवि ने वस्तु वर्णन का अवकाश होते हुए भी वर्णनाधिक्य की ओर अपना झुकाव नहीं दिखाया है। अवसर होते हुए भी उसने नगर, कोट, उपवन, जल-क्रीड़ा आदि का वर्णन नहीं किया है। विरह वर्णन करते हुये कवि को लेखनी अवश्य विस्तार प्रिय हो गई है। फूलमती का विरह-दुःख सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। सूर्य में ताप उसके विरह का है, तारे उसके विरह में दुःखी होकर टूटते हैं, पपीहा और कोयल उसके विरह से प्रभावित हो विरह-पूर्ण गीत गाया करते हैं। इतना सब उस अवस्था में है जब फूलमती आह भी नहीं भरती है इस डर से कि कहीं सम्पूर्ण सृष्टि जल न जाए—

आह करौं तो जग जल जाय, प्रेम की आग सरग का जाय।
सूरज जरतत हई मोरे सोगा, चन्दर जरा वही गहन हुई लागा॥
सूरज जरा मुख जारी छाई, चन्दर जरा मुख झवा बनाई।
तारा जरइ टूट भुई आये, जरइ कोयल और पपीहा जराये॥
कोयल जर के भई है कारी, पपीहा जरा पिउ पिउ रट भारी।

रस की दृष्टि से कथा विशेष सफल नहीं है। मनोभावों एवं अन्तर्दशाओं का वर्णन इसमें नहीं है। प्रधानता शृंगार रस की है जिसमें विप्रलम्भ शृंगार की अधिकता है।

दोहे चौपाई के क्रम में समानता नहीं है। छः, सात, आठ एवं नौ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम पाया जाता है। भाषा बोलचाल की अवधी है किन्तु रहलीं, गइलें ऐसे पूर्वी प्रयोग भी पाए जाते हैं।

नवीन प्राप्त सूफी प्रेमाख्यानों में कुंवरावत का विशेष महत्त्व है। कवि अनावश्यक वर्णन-प्रिय नहीं है किन्तु सिद्धान्त कथन में वह विशेष पटु है। गुरु-महिमा, ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में उसने अपने विचार प्रकट किए हैं। साधन-पद्धति का उल्लेख करते हुए "जोग-खण्ड" में उसने हठयोग एवं प्रेम-साधना के समन्वित स्वरूप का चित्रण किया है।

रासो की परम्परा

प्रो० उदयसिंह भटनागर, एम० ए० , म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा

हिन्दी साहित्य के इतिहास की खोज में प्राप्त रासो नाम की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं वे हिन्दी साहित्य के आदि काल की आधारभूत रचनाएँ मानी तो गई हैं, परन्तु अब तक उनकी कोई क्रमगत परम्परा प्राप्त न होने से उनको सन्दिग्ध ही माना गया है। यही कारण है कि खुम्माण रासो, बीसलदेव रास, पृथ्वीराजरासो जैसी रचनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हो कर भी १७ वीं शताब्दी या उसके पश्चात् की ही मानी जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदि काल या वीरगाथा काल का कोई प्रामाणिक अवशेष ही नहीं रह जाता। यह एक आश्चर्य की बात है कि इन रचनाओं को चारण काव्य कह कर उनकी प्रामाणिकता पर और भी अधिक संदेह प्रकट किया जाता है। रासो नामक रचनाओं को चारण काव्य मान लेने पर उनकी परम्परा का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है, अन्यथा १७वीं शताब्दी में रासो जैसी रचनाओं का बिना किसी परम्परा के प्रकट हो जाना एक आश्चर्य की ही बात होगी। रासो नाम किसी परम्परा से सम्बन्धित है अथवा किसी का अनुकरण है, अथवा अकारण या सकारण इसी युग से इन रचनाओं का नाम रासो पड़ गया, आदि प्रश्नों का उत्तर रासो, रासा और रास शब्दों तथा उनके इतिहास और साहित्य के विविध रूपों के साथ उनके प्रयोग का इतिहास जानने पर ही मिल सकता है।

वास्तव में रासो, रासा, रासक, रास आदि शब्दों और उनके अर्थों का इतिहास तथा साहित्यिक रचनाओं के साथ उनके प्रयोग का इतिहास जितना रोचक होगा उतना ही महत्त्वपूर्ण भी, क्योंकि इन नामों की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे हिन्दी साहित्य के आदि काल की आधार भूत रचनाएँ होने का दावा रखती हैं। काव्य की परम्परा या उसके क्रमिक विकास की दृष्टि से यह बात सर्वथा अस्वाभाविक होगी कि पृथ्वीराज रासो जैसा बृहत् काव्य सहसा ही १७वीं शताब्दी में खड़ा हो गया हो और उसका नाम रासो दे दिया गया हो। रासो की यह परम्परा सहसा ही १७वीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य में नहीं आ गई, उसका क्रमिक विकास हुआ है, इस तथ्य की प्रामाणिकता रासो तथा उससे ध्वनि साम्य रखने वाले रास और रासक शब्दों और उनसे सम्बन्धित साहित्य के रचना तत्त्वों के अध्ययन से सिद्ध हो सकेगी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की खोज में प्राप्त इन रचनाओं के दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहली रास शीर्षक रचना और दूसरी रासो शीर्षक। पहली का उदाहरण बीसलदेव रास और दूसरी का उदाहरण खुम्माण रासो है, रास और रासो शैली तत्त्व की दृष्टि से सर्वथा भिन्न दिखाई पड़ते हैं। पहला गेय रूपक है और दूसरा चरित प्रधान प्रबन्ध काव्य।

रास शब्द भागवत से सम्बन्धित और वर्त्तमान स्थिति में सामान्यतः कृष्ण लीला (रासलीला) का ही द्योतक रहा है। अतः ऐतिहासिक घटनाओं से रंजित इन प्रबन्धों के साथ रास या रासो शब्द का व्यवहार देख कर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कृष्ण रास और चारण रासो में क्या अन्तर है ? रास शब्द में कृष्णलीला का अर्थ इतना रूढ़ हो गया है कि जब कृष्ण लीला के समान ही राम भक्तों ने राम की लीला का भी प्रदर्शन आरम्भ किया तो उसको रासलीला (राम रासलीला) न कहकर तथा उसमें कृष्ण की रासलीला से भिन्नता दिखाने लिये उसको रामलीला कहा गया। इस प्रकार दोनों में विषय और वस्तु का भेद निर्दिष्ट किया गया। इसी प्रकार रास और रासो में भी भेद समझना आवश्यक था। रास का अर्थ कृष्ण में रूढ़ हो जाने के कारण रासो शब्द की भिन्न व्युत्पत्ति की चिन्ता हुई। चारण काव्य में प्रयुक्त रासो शब्द कृष्ण लीला वाले रास से सर्वथा भिन्न दिखाई पड़ा। दोनों के रूपात्मक विकास पर ध्यान न रख कर तत्सम्बन्धी रचनाओं के आधार पर दोनों में भिन्नता स्थापित की गई। इधर साहित्यिक परम्परा के अभाव ने इस भिन्नता का समर्थन किया। चारण काव्य में रासो के साथ रास भी मिलता है। उदाहरणार्थ खुम्माण रासो और बीसलदेव रास को ही लीजिए। परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में दोनों को ही रासो मान लिया गया है। कृष्ण रास और बीसलदेव रास के 'रास' शब्दों में रूपात्मक ऐक्य है और रासो शब्द में उनके साथ अकारान्त और ओकारान्त का अन्तर है, अतः यह भेद बाह्य है। हमें इसके अन्तर की खोज करनी होगी। कृष्ण रास कृष्ण की लीलाओं (जीवन-चरित) का नृत्य, नाट्य और संगीतपूर्ण प्रदर्शन करता है। इसी प्रकार बीसलदेव रास भी बीसलदेव के जीवन की घटनाओं (जीवन-चरित) का नृत्य, नाट्य और संगीतपूर्ण प्रदर्शन करता है और खुम्माण रासो किसी खुम्माण के जीवन की घटनाओं (जीवन-चरित) का श्रव्यगुण-प्रधान छन्दोबद्ध प्रबन्ध प्रस्तुत करता है। कृष्ण रास और बीसलदेव रासो में प्रदर्शन शैली है और खुम्माण रासो में वर्णन शैली, दोनों में विषय की व्यंजना काव्य के द्वारा होती है। कृष्ण रास और बीसलदेव रास नृत्य, नाट्य और संगीत के तत्त्वों से पूर्ण हैं और खुम्माण रासो श्रवण गुण प्रधान प्रबन्ध काव्य के तत्त्वों से पूर्ण है, अतः रास और रासो में वर्णन शैली का अन्तर है, विषय की दृष्टि से दोनों ही चरित प्रधान प्रबन्ध हैं, शैली की दृष्टि से एक गेय रूपक है और दूसरा चरित प्रधान प्रबन्ध काव्य। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दोनों को रासो संज्ञा दे कर दूसरे को प्रबन्ध काव्य और पहले को वीर गीत कहा गया है, पर बीसलदेव रास गीतात्मक होने के साथ साथ अभिनेय भी है। उसकी गेयता के साथ साथ उसके नृत्य और अभिनय की ओर लेखक ने स्वयं संकेत किया है :—

नाल्ह रसायण नर भणइ
हियडइ हरखि गावइ कइ भाइ
खेलां मेल्हयां मांडली

... ...

सरसती सामणी काउ हउ पसाउ
रास प्रगासउँ बीसलदे राउ
खेलां पइसइ मांडली

... ...
गावणहार मांडइ'र गाइ
रासकइ समयइ बंसली वाइ
तालकइ समचइ घूँघरी
माहिली मांडली छोदा होई
बारली मांडली सांघण,
रास प्रगास इणी विधि होइ, ११।

कृष्ण रास, बीसलदेव रास और खुम्माण रासो के साथ साथ जैन रास की परम्पराएँ भी आरम्भ हो जाती हैं। जैन रास की प्राचीनतम रचना भरतेश्वर बाहुबली रास मानी जाती है। यह भी एक वीर चरित प्रबन्ध है। बीसलदेव रास और खुम्माण रासो के रचयिता जैन हैं, पर उनके चरित नायक अजैन हैं। भरतेश्वर बाहुबली रास का रचयिता (शालिभद्र) भी जैन है और उसका चरित नायक भी जैन है। इस प्रकार कृष्ण रास, चारण रासो और जैन रास—ये तीन साहित्यिक परम्पराएँ हिन्दी साहित्य के आदि काल का निर्माण करती हैं, पर इनका मूल स्रोत अपभ्रंश और प्राकृत में है।

रास शब्द की व्युत्पत्ति रस् धातु से मानी जाती है। रस् का अर्थ है गर्जन। इसमें उल्लास और उत्साह की भावना प्रधान है। रास अपने प्रारम्भिक काल में एक नृत्य के रूप में ही था। इसको लोग एक वृत्त के रूप में मण्डली बना कर नाचते थे, और बीच बीच में गर्जन भी करते जाते थे, यह नृत्य आज भी वर्त्तमान है। इसका सम्बन्ध पशुपालन नृत्य से माना जाता है। यही नृत्य धीरे-धीरे परिष्कृत हो कर गीति काव्य और अभिनय से पूर्ण हुआ। इस प्रकार रास ने गेय रूपक के तत्व प्राप्त किए और फिर उसमें जब चरित्र का समावेश हुआ तब वह प्रबन्ध के रूप में विकसित हुआ। यही चरित प्रधान रास गेय रूपक के तत्वों से मुक्त हो कर अपने कथानक को केवल काव्यमय प्रबन्ध के रूप में ले कर विकसित हुआ और रासो कहलाया। रास के साहित्यिक रूप प्राप्त कर लेने पर वह रासक और नाट्यरासक के रूप में स्वीकृत हुआ और नाट्य शास्त्र में इन दोनों को उपरूपक का स्थान मिला। रास के उपरूपक माने जाने से पूर्व वह नृत्य के रूप में रहा था, इसीलिये उसको पहले नृत्य की कोटि में माना गया और फिर उपरूपक भी मान लिया गया। अपनी शैली परम्परा में संस्कृत नाटकों से भिन्न होने के कारण रास शब्द को संस्कृत भी नहीं माना जाता। रास, रासक और नाट्य रासक के नाट्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त होने के साथ ही इस रास शब्द ने संस्कृत में प्रवेश किया होगा। इसी कारण इसको देशी माना जाता है।

कृष्ण रास की परम्परा आध्यात्मिक मानी जाती है। इस कारण यहाँ रास शब्द की व्युत्पत्ति कुछ रहस्यमयी हो गई है। रहस् या रहस्य से रास की व्युत्पत्ति मान कर इसमें गोपी-कृष्ण की रहस्यमयी लीलाओं की ओर संकेत किया गया है। इसी प्रकार रास से ब्रह्म का अर्थ ले कर इस रास को महारास भी कहा गया और रास वृत्त में एक एक गोपी के साथ एक एक कृष्ण की कल्पना की गई है। वैष्णवों के एक मत के अनुसार रासलीला का अर्थ राशिलीला भी हो गया। इसी प्रकार रास की एक अन्य परिभाषा 'रसानां समूहो रासः' (रसों का समूह रास है) तथा दूसरी 'रसोत्पद्यते यस्मात् स रासः' (रसों की उत्पत्ति करनेवाला रास) की गई।

रासो शब्द की व्युत्पत्ति रभस् शब्द से निकाली गई। रभस का अर्थ है 'उत्साह'। वीर रस प्रधान काव्य होने से रासो की प्रधान भावना उत्साह है, उत्साह वीर रस का स्थायीभाव है। इस काव्य में किसी वीर के उत्साह की भावना और उसके वीरतापूर्ण कार्य का काव्यमय वर्णन रहता है। इसी कारण इसको रासो कहा जाता है। अर्थ तो ठीक बैठता है, पर रभस से रासो की व्युत्पत्ति बिना खींचतान के किस नियम के आधार पर निकाली जा सकती है, यह कहना कठिन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बीसलदेव रासो में बार-बार आने वाले 'रसायण' शब्द से रासो की व्युत्पत्ति मानी है (हि० सा० इ० प्र० ३६)। रसायण शब्द रास की परम्परा में कई स्थानों में आता है, यहाँ तक कि ऐसी रचनाओं के नाम के साथ भी यह शब्द मिलता है, जैसे, उपदेशरसायन रास। पर यहाँ रसायण से अर्थ रास+आयन ही है। रास शब्द की व्युत्पत्ति में वह सहायक नहीं होता। इसी प्रकार बीसलदेव रास में भी मानना चाहिए।

रास शब्द की व्युत्पत्ति 'रहस्य', 'रभस्', 'रसायण' आदि से मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्यों कि इन रचनाओं के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों के परीक्षण से अब यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इन सब का सूत्र रास में ही है, और ये सब उसी से विकसित या आरोपित शब्द और अर्थ हैं। रास शब्द संस्कृत न हो कर देशज ही है। इसका सम्बन्ध सम्भवतः किसी समय गुर्जरों और अहीरों से रहा होगा। उनके विकास और प्रसार के साथ इसका भी विकास और प्रसार हुआ होगा, इसका विकास क्षेत्र प्रधानतः प्राचीन ब्रज मण्डल से ले कर राजस्थान और गुजरात रहा होगा। इसी क्षेत्र में रास, रसिया, फाग, फगुआ आदि आज तक प्रचलित हैं।

जैन रास की परम्परा भी कम प्राचीन नहीं है, यद्यपि भाषा में प्राचीनतम ग्रन्थ वि० सं० १२४२ का भरतेश्वर बाहुबली रास है, परन्तु रास और उसके भेदों का वर्णन प्राकृत में लिखित जैन ग्रन्थों में मिलता है। प्राकृत काल में जैनागमों, सूत्रों तथा अंगों में आने वाले पौराणिक पात्रों की कथा को ले कर धर्मोपदेश के लिये उनको रास के रूप में पद्य-बद्ध किया जाने लगा। इन रासों में विषय-वासनाओं के त्याग तथा शृंगार के विभिन्न आलंबनों के बीच शील और सात्विकता का विकास दिखाना ही इनके रचयिताओं का प्रधान उद्देश्य था। लोगों को उनकी वाणी में मनोरंजन के साथ धर्मोपदेश देना और पात्रों के चरित्र दृष्टान्त के आधार पर जैन धर्म का प्रचार करना ही इन रचनाओं का प्रधान लक्ष्य था[1]। इसी से आगे चल कर जैन जीवन चरित शैली का विकास हुआ। ऐसे रासों का नृत्य, गान और अभिनय जैन धर्म का धार्मिक अंग हो गया और जैन मन्दिरों में खेले जाने वाले रासों की रचना होने लगी। प्राकृत भाषा काल में तो नृत्य, नाट्य और संगीत कलाओं का पूर्ण विकास हो चुका था। इसी काल में संस्कृत नाटकों के साथ-साथ चर्चरि, रासक आदि काव्यों की रचना भी होने लगी जो गेय भी थे और अभिनेय भी। इनमें संस्कृत काव्यों की पाण्डित्यपूर्ण जटिलताएँ

---

१. 'दश वैतालिक टीका' तथा 'धर्म बिन्दु वृत्ति' मे यह उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणी
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः।

[गुजराती साहित्यना स्वरूपनो पृ० ६८]

भी नहीं होती थीं। ये प्राकृत प्रबन्ध इतने सरल होते थे कि उनकी टीका की आवश्यकता नहीं होती थी।[२]

यह रासक सभी प्रकार के रागों में गाया जाता था। 'अयं सार्वेषु गीयते गीतकोविदैः' (अ० का० चू०, पृ० २६)। चरित प्रधान कथानक भी सभी प्रकार के रागों में गाया जाने वाला गीति काव्य था। गीति काव्य के साथ-साथ वाग्भट ने इसको उपरूपक माना है[३]। चरित प्रबन्ध, गीति काव्य और उपरूपक रासक, साहित्य के ये तीन अंग आगे चल कर विकसित हुए। कहीं तीनों का समावेश एक ही में मिलता है और कहीं ये तीनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र रूप में मिलते हैं। हेमचन्द्र के समय में इन तीनों का अस्तित्व अलग-अलग हो गया था। इसीलिये उन्होंने रासक आदि उपरूपकों के साथ राग काव्य का भी समावेश किया[४], जिसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है :

लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विचित्रतम्
नानारसं सुनिर्वाह कथं काव्यमिति स्मृतम्।

काश्रवनु० पृ०४४६

इसके अनुसार राग काव्य में विभिन्न प्रकार की लयों का प्रयोग होता था, विविध रागों का उसमें समावेश होता था और उसके कथानक में नाना रसों का निर्वाह होता था। यह राग काव्य गीति काव्य का ही एक रूप था और गेय रूपक से इस बात में भिन्न था कि इसमें अभिनेय तत्त्वों की कमी थी। गेय रूपक का लक्षण इस प्रकार है :

अनेकनर्त्तकीयोज्यं चित्रतालललयान्वितम्
आचतुः षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धते।

वाग्भट काव्यानु०

यह गेयरूपक रासक है जिसमें अनेक नर्तकियां होती थीं। यह अनेक प्रकार के ताल और लयों से समन्वित होता था। पर इसमें ६४ युगल होते थे। यह कोमल और उद्धृत गेय रूपक कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रास अपने आरम्भिक रूप में केवल एक नृत्य था। नृत्य से वह संगीत और अभिनय के तत्त्वों से पूर्ण हो कर गेय रूपक हुआ और नाट्य शास्त्र में उपरूपक माना जाने लगा। गेय रूपक का चरित प्रधान कथानक गीतों के रूप में रह गया। वह अभिनय के तत्त्वों से मुक्त हो कर राग काव्य या गीति काव्य रह गया। इसी चरित प्रधान कथा-

---

२. उपदेशरसायन रास जिनदत्तसूरि की टीका मे जिनपाल ने लिखा है :

चर्चरि-रासक प्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल
वृत्ति-प्रवृत्ति नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः।

[देखो अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० २६]

३. "डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिङ्गक-रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक-गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि", इसकी वृत्ति मे लिखा है "पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरंतनैरुक्तानि"।

४. "गेयं डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिङ्गका-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड-हल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्रीगदित-रागकाव्यादि।"

नक वाले राग काव्य का विकास रासो के रूप में हुआ। श्रव्य गुण प्रधान तत्त्वों का समावेश करके इस रासो काव्य ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त किया। यह श्रव्य गुण प्रधान रासो में चरित वर्णन शैली की प्रबलता के कारण आया होगा। रास में चरित वर्णन शैली आरम्भ में पौराणिक आख्यानों से विकसित हुई। पर जब राजस्थानी में रासो का विकास हुआ तो राजस्थान की लोक वार्ता शैली का प्रभाव इस पर पड़ा और इसी कारण इसमें ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक और अनैतिहासिक घटनाओं का समावेश होने लगा, जिससे रासो काव्य सन्दिग्ध और अप्रामाणिक माने जाने लगे। उपर्युक्त गेय रूपक का राजस्थानी में ख्यालों के रूप में विकास हुआ, जिनमें उसकी गेयता और अभिनेयता दोनों ही सुरक्षित रहीं, पर कथानक इन्हीं लोक वार्त्ताओं के आधार पर विकसित हुए।

इस प्रकार हिन्दी में रास गेय रूपक और रासो चरित प्रधान प्रबन्ध काव्य के रूप में विकसित हुआ है। गेय रूपक रास का पूर्ण विकास जैन साहित्य की ओर प्रवाहित हो गया और रासो चारण काव्य के रूप में विकसित हुआ। चारण काव्य रासो साहित्य का वह प्रकार है जो किसी वीर के चरित्र का काव्यमय अंकन करता है और जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं से रंजित प्रबन्ध रहता है। जैन रास धर्मोपदेश सम्बन्धी गेय नृत्य से आरम्भ हो कर तीर्थंकरों, आचार्यों, श्रेष्ठियों आदि के धर्म पालन सम्बन्धी कथानक को ले कर विकसित हुआ और आगे चल कर उसने पूरे जीवन चरित का भी समावेश अपने में कर लिया, पर गेय रूपकता उसमें किसी न किसी प्रकार से बनी रही।

जैनेतर रचनाओं में 'सन्देश रासक' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह भी गेय रूपक है। नाट्य शास्त्र के अनुसार गेय रूपक में सूत्रधार नहीं होता। उसमें एक अंक और पाँच पात्र होते हैं। मुख और निर्वहण या प्रतिमुख सन्धियाँ तथा कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होते हैं। इसमें उदात्त भावों का उत्तरोत्तर विकास होता है। गेय रूपक होने के कारण इसमें गद्य का समावेश नहीं होता। पद्यों के द्वारा ही उसकी अभिनेयता बनी रहती है। अतः इसके सभी छन्द गेय और अभिनेय होने चाहिए। इस दृष्टि से सन्देश रासक के सभी छन्द गेय भी हैं और अभिनेय भी। इसकी टीका की प्रथम गाथा में 'ग्रन्थारम्भे अभीष्टदेवताप्रणिधानप्रधाना प्रेक्षावतां' आदि कह कर इसके प्रेक्षावत् उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया गया है। यह रासक भी रासो की कुछ परम्पराओं को अपने में समाए हुए है। प्रथम तो यह इस बात को प्रमाणित करने में समर्थ है कि रासो शब्द रासक का ही विकसित रूप है और सन्देश रासक के रचनाकाल में ही रासक के स्थान पर रासउ (7 रासौ) शब्द का प्रयोग होने लग गया था। इसके रचयिता ने स्वयं ग्रन्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है : 'कह बहुरूवि णिबद्दउं रासउ भासियइ' (२,४३)। इस रचना में एक रासक छन्द का भी प्रयोग हुआ है। रासक अपभ्रंश का एक प्रसिद्ध छन्द रहा है जो उक्त प्रकार की रचना की गेयता की ओर संकेत करता है। इसके अडिल्ला, चउपई, पद्धडिया, चंदायण, चन्दायणि, कुंडलिया कुंडलिनी दुवई, डोमलिय, रड्डा, छप्पय, उल्लाल, मालिनी आदि छन्द रासो की परम्परा में आ जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि रासो की परम्परा संस्कृत साहित्य की परम्परा से सर्वथा भिन्न रही है। इसका विकास रास की लोक परम्परा से ही मानना चाहिए। रास से ले कर रासो

तक के विकास में हम देखते हैं कि उसके विकास में किसी साहित्यिक नियम ने किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई। रास नृत्य ने स्वतन्त्रतापूर्वक गेय तत्त्व को अपनाया जिससे उसके गेय और अभिनेय तत्त्वों का परस्पर सहयोग और विकास हुआ। रास ने स्वयं अपना विकास भी किया जिससे लकुट (लकुड) रास और दाण्ड्या रास, तथा ताल रास और लता रास आदि कई भेद हुए। इसके गेय रूप ने गीति काव्यों और लोक गीतों की परम्परा में सहयोग दिया। इसी से चरित काव्यों और रासो जैसे श्रव्य प्रधान प्रबन्ध काव्यों की परम्परा आरम्भ हुई।

अन्त में हमें यह विचार करना है कि चारण काव्य की यह परम्परा कहां से आरम्भ होती है। वीरगाथा काल की सबसे प्राचीन रचना खुम्माण रासो मानी जाती है और उसके बाद बीसलदेव रास माना जाता है। दोनों रचनाओं को सन्दिग्ध भी कहा गया है, खुम्माण रासो अपने क्षेपकों के कारण इतना विकृत हो गया है कि उसका मूल पाठ नष्ट हो चुका है। बीसलदेव रास का पाठ और इतिहास दोनों ही सन्दिग्ध हैं। इन दोनों के रचयिता जैन हैं। खुम्माण रासो की रचना किसी एक खुम्माण के समय में होनी चाहिए। तीनों खुम्माणों का समय वि०सं० ११० से १००० माना जाता है (ओझा उ० रा० इ० भा० १, पृ० ४२२)। सन्देश रासक की रचना मुनि जिनविजयजी के अनुसार वि० सं० की १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध या १३ वीं का पूर्वार्द्ध (देखो सं० राठ भू० पृ० १३) है, और राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ई० सं० १०१० या वि० सं० की ११ वीं शती का मध्य है। ऐसी दशा में खुम्माण रासो का रचना काल सन्देश रासक के आसपास ठहरता है। इस समय रासउ का रासक के लिये प्रयोग होने लग गया था और यदि खुम्माण रासो की रचना इस काल में हुई होगी तो यह निश्चित मानना पड़ेगा कि रासो नामक प्रबन्ध काव्य का विकास सन्देश रासक की रचना के समय में आरम्भ हो चुका था। इसी समय इस रचना का अभिनय तत्त्व से स्वतन्त्र होना सिद्ध होता है। बीसलदेव रास गेय रूपक है और उसमें अभिनय तत्त्व वर्तमान है। इसका रचना काल वि० सं० १२१२ है। खुम्माण रासो की रचना इसके पूर्व और तीसरे खुम्माण के बाद (वि० सं० १०००) में हुई होगी। खुम्माण रासो मुस्लिम आक्रमणों के समय का वर्णन करता है और यह सम्भवतः खुम्माण तीसरे के पश्चात् ही हुआ होगा। इधर भाषा में जो जैन रास मिलता है वह भरतेश्वर बाहुबली रास है। इसका रचना काल वि० सं० १२४२ है। यह भी एक वीर चरित प्रबन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि रासो प्रबन्ध वि० स० १२०० और १००० के बीच में आरम्भ हो गए थे। इन तीनों रचनाओं के रचियता जैन हैं। खुम्माण रासो का चरित नायक अजैन है और रचना प्रबन्ध काव्य की कोटि की है। बीसलदेव रास का चरित नायक भी अजैन है और वह गेय रूपक की श्रेणी में आता है। भरतेश्वर बाहुबली रास का चरित नायक जैन है और वह भी प्रबन्ध काव्य की कोटि में आता है। इन तीनों रचनाओं के आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि भाषा में जैन रास में प्रबन्ध की परंपरा खुम्माण रासो से आरम्भ होती है। इसी प्रकार गेय रूपक रास की जैन परम्परा का भी बीसलदेव रास से आरंभ होना माना जा सकता है। दूसरे पक्ष से देखने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि रासो प्रबन्ध की परंपरा चारणों ने जैन लेखकों से प्राप्त की है, अथवा यहीं से जैन रचनाओं में अजैन पात्रों का समावेश हुआ है।

ग्रंथानुसंधान

अंबिका देवी पूर्व भव वर्णन तलहारा

श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

भारतवर्ष में शक्तिपूजा का प्रचार काफी पुराना है। वैदिक काल में उषा आदि देवियों की प्रार्थना प्रचलित थी, फिर यक्षों आदि की पूजा का प्रचार अधिक रहा। यक्षों के साथ यक्षिणियों का भी संबंध जोड़ा गया और फिर अवतार माने जाने वाले शिव, राम, कृष्ण इत्यादि महापुरुषों की पत्नियों की भी उनके साथ पूजा होने लगी। प्रथम ईसवी शताब्दि के आस-पास शक्ति पूजा का पर्याप्त प्रचार हो गया था और उसके बाद तो तांत्रिक प्रभाव इतना बढ़ा कि वैदिक और बौद्धों में अनेक प्रकार की देवियों के विविध पूजा विधान प्रचलित हो गए और तांत्रिक साहित्य का निर्माण बहुत विस्तृत रूप में होने लगा। इस साहित्य में 'देवी माहात्म्य' देवी पूजा का संभवतः सबसे प्रधान प्रचारक ग्रंथ है।

जैन धर्म में यद्यपि तांत्रिक विधानों का विकृत स्वरूप तो नहीं पनपने पाया, फिर भी सामयिक प्रभाव से कुछ देवी-देवताओं की मान्यताएँ अवश्य प्रचलित हो गईं। चौबीस तीर्थंकरों के साथ चौबीस शासन देव और शासन देवियां का संबंध जोड़ा गया। पीर या वीरों के साथ ही योगनियाँ भी मान्य हुईं तथा अंबिका एवं पद्मावती आदि देवियों की उपासना तो विशेष रूप से प्रचलित हुई। जहां तक मेरी जानकारी है, सबसे अधिक और सबसे पहले अंबिका देवी को ही स्थान मिला है। यद्यपि कालांतर में वह २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ की भक्त शासन देवी के रूप में रूढ़ हो गई, परंतु प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियों से स्पष्ट है कि प्रारंभ में ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के साथ भी उसका एक भक्त देवी के रूप में संबंध रहा है। उस समय शायद सभी तीर्थंकरों की यह सर्व सामान्य भक्त देवी मानी जाती थी। ६ वीं शताब्दि के जैन स्तोत्र साहित्य में अंबिका की स्तुति पाई जाती है। तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के साथ अंकित होने के अतिरिक्त अंबिका की स्वतंत्र मूर्त्तियां भी पाई जाती हैं। पाषाण और पीतल—दोनों प्रकार की छोटी बड़ी अनेक अम्बिका मूर्त्तियां जैन मंदिरों में प्राप्त हैं।

इस देवी के पूर्व जन्म (भव) की कथा दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों साहित्यों में मिलती है। इनमें से बादिचंद्र रचित अंबिका चरित्र का सार मैंने अनेकान्त में प्रकाशित किया था और श्वेताम्बर प्रभाचन्द्र सूरि के सं० १३३४ में रचित प्रभावक चरित्र में प्रसंग रूप में वर्णित अंबिका के पूर्व भव की कथा का सार मेरे भ्रातृ पुत्र भँवरलाल ने 'वीरवाणी' वर्ष ४ अंक २१ में 'कतिपय अधिष्ठापक देवों के पूर्व वृत्तान्त' शीर्षक लेख में दिया था। श्री कामता प्रसाद जैन का अंबिका देवी संबंधित एक विस्तृत लेख जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २ अंक १ में छपा है।

लोक भाषा में रचित अंबिका देवी संबंधी एक प्राचीन कृति बीकानेर के बड़े ज्ञान-भंडार की संग्रह प्रतियों में मिली है। यह प्रति खरतर गच्छ के जिनप्रभसूरि शाखा की है और १५ वीं शताब्दि के प्रारंभ की लिखी हुई है। इसमें १३ वीं, १४ वीं शताब्दि की अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी की कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनमें से सं० १२८५ में रचित आबू रास को हमने बहुत वर्ष पूर्व 'राजस्थानी' भाग ३ अंक १ में प्रकाशित किया था और जीवदया रास को मुनि जिनविजयजी ने 'भारतीय विद्या' में प्रकाशित किया था। 'हिन्दी अनुशीलन' के वर्ष ८ अंक ३ में जो पृथ्वीचंद्र रचित 'रस विलास' प्रकाशित किया गया है वह भी इसी प्रति में है। देवी देवताओं संबंधी कुछ रचनाएँ भी इसमें हैं, जिनमें से जिन-प्रभसूरि रचित 'पद्मावती चौपाई' साराभाई नाव के प्रकाशित 'भैरव पद्मावती कल्प' के परिशिष्ट में प्रकाशित हो चुकी है। अब अंबिका देवी के पूर्व भव का 'तलहारा' यहां प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी प्रारंभिक चार गाथाएँ प्रति का बीच का एक पत्र न मिलने से नहीं मिल सकीं। दूसरी कोई प्रतिलिपि किसी भंडार से प्राप्त नहीं हुई। 'तलहारा' संज्ञक अभी तक यह एक ही रचना मिली है। अतः इस संज्ञा की परंपरा इसके आगे और पीछे क्या रही है अन्वेषणीय है। तलहारा की प्रारंभिक चार गाथाएँ न मिलने से उसमें क्या वर्णन था हम निश्चित नहीं कर सकते। पर अनुमानतः इनमें उसके निवासस्थान, पिता आदि का नाम होगा। प्रभावक चरित्र में लिखा है कि काठियावाड़ के कोटिनार नगर में सोमभट्ट नाम का ब्राह्मण था। देव शर्मा ब्राह्मण की पुत्री अंबिका से उसका विवाह हुआ। वह बड़ी सुन्दर, सुशील और विनय गुण सम्पन्न थी। अंबिका जैन धर्मानुयायी थी और पति वैदिक धर्मानुयायी। अंबिका के दो पुत्र हुए, जिनके नाम सिद्ध और बुद्ध रखे गए। एक बार पितृ पक्ष में श्राद्ध का दिन था, उसके लिये मिष्ठान्नादि भोजन तैयार किए गए। ब्राह्मण लोग वेद पाठ कर रहे थे शांतिक होमादि हो रहा था। अंबिका की सास इधर उधर गई हुई या अन्यकार्य में व्यस्त थी। पीछे से जैन तपस्वी मुनि भिक्षार्थ सोमभट्ट के घर आए। अंबिका ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दान दिया। सास को यह विदित होते ही उसने बड़े तिरस्कार के साथ उपालंभ दिया कि निमंत्रित ब्राह्मणों को भोजन कराने के पूर्व ही तुमने उन मुनियों को क्यों बहराया। उसने अपने पुत्र सोम को भी बहू के अयुक्त कार्य करने की शिकायत की। तब सोम ने क्रोधित हो कर अंबिका से कहा कि तुमने स्वच्छंद हो कर यह क्या काम किया, मेरे घर से चली जाओ। अभी तक हमने कुल देवताओं की पूजा नहीं की, ब्राह्मणों को भी नहीं जिमाया, पिंडदान नहीं दिया, इसके पहले ही तुमने मुनियों को क्यों दिया? पति के इस प्रकार भर्त्सना करने से दुखी हो कर अपने दोनों पुत्रों को ले कर अंबिका घर से चल निकली। बड़े पुत्र को अँगुली पकड़ा दी और छोटे पुत्र को गोद में ले लिया। रास्ते में उन बच्चों को भूख और प्यास लगी तो उसके शील और पुण्य प्रभाव से सूखे हुए तालाब में पानी भर आया और शुष्क आम्र वृक्ष में फल लग गए। इससे दोनों की भूख प्यास मिटी। इधर पीछे से सोमभट्ट के घर में पत्तलें सोने की हो गईं और बिखरे अन्न-फल मणि-मोती हो गए। यह अंबिका के प्रभाव से हुआ जान कर वह उसे घर वापिस लाने के लिये पीछे दौड़ा। पर अंबिका, उसे आता देख शायद इस आशंका से कि मारने के लिये आ रहा है बच्चों के साथ कुए में गिर पड़ी। शुभ ध्यान और सुपात्र दान के प्रभाव से अंबिका मरने के बाद देवी हुई। उसका पति भी उसके पीछे कुएँ में गिर गया और वह सिंह हो

गया। आज भी अंबिका देवी की मूर्त्तियों में सिंह वाहन है और एक हाथ की अँगुली एक बच्चा पकड़े हुए है और दूसरा बच्चा गोद में है। देवी की मूर्त्ति के मस्तक के ऊपर आम्र का लुंब उत्कीर्ण किया हुआ मिलता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में अंबिका पूजा का खूब प्रचार है। श्वेताम्बर जैन जातियो में श्रीमाल जाति राजस्थान के श्रीमाल नगर से प्रादुर्भूत हुई। वहां 'श्री'—लक्ष्मी देवी की पूजा का खूब प्रचार था, इसलिये श्रीमाल जाति की कुल देवी लक्ष्मी है। श्रीमाल नगर के पूर्व दरवाजे की ओर बसने वाले जैन "प्राग्वाट" या परिवाड़ कहलाए। उनकी कुल देवी अंबिका है। आबू के सुप्रसिद्ध कलापूर्ण आदिनाथ मंदिर के निर्माता विमलशाह परिवाड़ थे। इसलिये उस मंदिर में आज भी अंबिका देवी की एक बड़ी मूर्त्ति स्वतंत्रदेव कुलिका में स्थापित और पूजित है। दक्षिण भारत के दिगंबर मंदिरों के बाहर प्राय. अंबिकादेवी की बड़ी सुन्दर मूर्त्तियां मिलती हैं।

ओसवाल जाति जोधपुर राज्य के ओसियागांव से प्रसिद्ध हुई। वहां की सच्चिकादेवी की उपासना ओसवालों में कुलदेवी के रूप में की जाती है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान है, इसलिये देवियों के क्रूर रूप की उपासना और बलि आदि की हिंसा से पूजा न की जा कर सात्त्विक रूप से ही पूजा की जाती है। अंबिका देवी के कई स्तोत्र और काव्य भी जैन समाज में प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत 'तलहारा' १४ वीं शताब्दि की एक सुंदर रचना है। इसमें रचयिता का नाम तो स्पष्ट नहीं मिलता, परंतु अंतिम शब्द 'उदयऋद्धि' में शायद कवि के नाम की ही सूचना हो। संभवतः वे जिनप्रभसूरि शाखा के ही विद्वान् हों, अतः इसकी रचना सं० १३८०-८५ के लगभग की होना संभव है। प्राप्त प्रति भी सं० १४२० के पीछे की नहीं है। अतः समकालीन लिखित होने से इसकी भाषा भी मूल रूप में सुरक्षित है।

हिन्दी भाषा की प्राचीन रचनाएँ तो बहुत ही कम प्राप्त हैं और जो थोड़ी सी प्राप्त हैं, उनकी भी समकालीन एवं प्राचीन प्रतियां न मिलने से उनकी भाषा मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी है। किंतु जिसे हिंदी साहित्य के इतिहास में वीर गाथा काल या आदि काल माना जाता है, उस काल की जैन रचनाएँ बहुत अच्छे परिमाण में मिलती हैं और उनकी समकालीन लिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं। उनकी रचना भी बहुत व्यापक प्रदेश में हुई है। श्वेतांबर संप्रदाय के साहित्य का निर्माण राजस्थान और गुजरात में अधिक हुआ, तथा दिगंबर संप्रदाय का साहित्य उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिण आदि में रचा गया। इस लोक भाषा में रचित प्राचीन जैन साहित्य का अध्ययन हिंदी के विद्वानों को भाषा के विकास और साहित्यिक रचनाओं के प्रकार और उनकी परंपरा तथा अन्य प्रान्तीय भाषा और साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अवश्य करना चाहिए।

अंबिकादेवी पूर्व भव वर्णन तलहारा

तिलोत्तम रंभ रइ ॥ ४ ॥

सीलिहिं जणुसीता दवदंति राणी, अंजणसुंदरी रायमइ।
सोहग सुंदरि जगह पहाणी, जाविहि निम्मल निम्मविय ॥ ५ ॥
तिहं सुह भुंजंत दुन्नि उपन्न, पुत्त रयण जणु हरि कुमर।
सिद्धु पसिद्धउ रूपि रवंन, वुद्दु (ड्डु) कणिट्ठउ पुट्ठ तणु ॥ ६ ॥

इणि परि समउ अइक्कमंताहं, सुहवसि आयउ अपर पाखु ।
सोमि निमंतिय बंभण ताहं, मंडण आसण साधदिणि ॥ ७ ॥
कत्थवि बंभण वेद पढंति, कत्थवि पिण्ड प्रदानु होइ ।
कत्थवि संति कुहोमु करंति, कत्थवि कीजइ वइस देउ ॥ ८ ॥
सालि दालि पकवान पयार, खीरि खाड घिउ विंजनइ ।
सरस संपाडिय जीमणवार, सासुव वइठिय न्हाण किन्हि ॥ ९ ॥
तक्खणि मुणिवरु गणिहिं संजुतु, तप जप संजम नियम धरु ।
मास खमण पारणइ पहूतु, तह घरि जंगम कलपतरु ॥ १० ॥
सुपात आविउ अंबिणि पेखि, ऊठिय हरिसवि संवुलिय ।
मुणिवरो भोयण पाणि विसेषि, भावि भगति विहरावियउ ॥ ११ ॥
विहरि तपोधनु चालिउ जाम, दिट्ठि पलोवंतु भूमि पहु ।
सासु विन्हावियं ऊठिय ताम, देखिवि निय मणि मच्छरिय ॥ १२ ॥
सौमहि आगओ कहियउ वच्छ, वहुडिय सयलु अजुत्तु कियउ ।
कोपि चडिउ सोमु पभणइ गच्छहे, अपछंदि ए कइं कियउ ॥ १३ ॥
अजउ न पूजिय अम्हि कुलदेव, अजउ न वंभण जेमियाइं ।
अज्जवि पिंड भराविय नेय, कइ तइं दिन्निय पढम सिहा ॥ १४ ॥
तंजि वयणु सुणि परिहसि भरिय, चालिय अंबिणि दुंमणिय ।
नंदणु सिद्धु करंगलि धरिय, कडिहिं चडाविउ बुद्धु तिणि ॥ १५ ॥
तिसिय सुयहं पहि पुंन प्रभावि, सुक्कउ सरवरु जलि भरिउ ।
सुक्कउ अंबउ फलियउ सावि, भुखिय पुत्तह देइ फला ॥ १६ ॥
अंबिणि दीठउ कूवउ मग्गि, तक्खणि मणि जिणु अणुसरिउ ।
तत्थउं पावइ पाणवि सग्गि, सुह झाणि जीविउ तजिउ तिणि ॥ १७ ॥
कूखह मांडिवि माणि उपन्न, सोहम तलि चहु जोयणिहिं ।
सोपात्र दानि प्रभावि उपंन, अंबिक देखिय नामि तउ ॥ १८ ॥
अंबिणि तजिय जिपातलिवि, सोवन ताल कचोल थिय ।
अउठिहि कण पुणुपडिय जिकेवि, मोतिय माणिक तेवि हुय ॥ १९ ॥
सासुव देखिवि विम्हिय ताम, चिन्तइ वहुय सलक्खणिय ।
मण पछतावियं जंपइ सोमु, अणहि व्यालउ तउ करउ ॥ २० ॥
सोमु महासइ पूठिहि जाइ, कूविउं पावती दीठ तिणि ।
सो पुणु अणुसइ तहिं धस देइ, मरिवि हुवउ सिंह रूपिसुरु ॥ २१ ॥
अंबहं लुंबिय पासु धरेइ, दाहिण करि जुगि बाम पुणु ।
पुत्त अंकुस धर सिंह वाहणिय, वंछिय पूरणि कनय वंन ॥ २२ ॥
सामिय नेमि जिणिंदह तित्थि, अंबिक सासणि देविहुय ।
संघहं दुत्थ दलणि सुपसत्थि, निवसइ गिरि गिरनार सिरि ॥ २३ ॥
सीसि मउडु मणि कुंडल कानु, सोहइ मोतिय हारु उरि ।
रयण घडिय करि कंकण दुन्नि, पाइहि नेउर रुणझुणहि ॥ २४ ॥

तुहु तारा तोतर भैरव चं, सोलस विज्जा देवि तुहुं ।
एकजि तिहुयणि तुहु जु पयंडि, भइ वइ वहु विहरूव धरा ॥ २५ ॥
साइणि जोइणि रक्खस भूया, विंतर दुद्धर दुट्ठ गह ।
नाम गहणि तुह विफली हूय, वंदिहि सकल झड़ पड़हि ॥ २६ ॥
तुम्ह पसाइहि तुम्ह थट्ट, रहवर पयदल रायसिरि ।
लाभहिं मयगन गयणिवि[1] सट्ट, उत्तम कामिणि पुत्तवरा ॥ २७ ॥
जणहिं तणय सुर कुमर समाण, तुह पय झायंति चंऊ[2] नारि ।
दूहव पावहिं पियहं सम्माण, जीवहि नंदण निंदुवह ॥ २८ ॥
बुहयण वयणह किंपि सुणेवि, किंपि मुणिय निय मइ बलिण ।
चरिउ तुम्हारउ वनिउ देवि, पूरि मणोरह अम्ह तणइ ॥ २९ ॥
नेमि जिणेसर चरण अंभोय, महुयरि अंबिक देवि तुहुं ।
संघह सानिधु करि सुह[3] भौय, देहि मणछिय उदयरिद्धि ॥ ३० ॥

इति श्री अंबिका देवी पूर्व भव चरित्र वर्णन तलहाराः समाप्ताः ॥

---

१. गयण
२. बंऊ
३. मुद्द करि भोय

प्रबन्ध-परिचय

रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव

[१९५६ में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० के लिये स्वीकृत प्रबन्ध]

डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, फैजाबाद

प्रस्तुत प्रबन्ध में रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है। मध्ययुगीन हिन्दी राम-भक्ति साहित्य के मूल प्रेरणा-स्रोत रामानन्द ही थे, इसमें सन्देह नहीं है। विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है और ऐसा कहने के लिये उनके पास सबल प्रमाण भी हैं कि राम-भक्ति के प्रथम आचार्य स्वामी रामानन्द ही थे। उनके व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा ने मध्ययुग में हिन्दी भाषा को दो महान् कवि कबीरदास और तुलसीदास दिए हैं। मध्ययुग के अनन्तर भी रामानन्द सम्प्रदाय की विचारधारा से प्रभावित हो कर अनेक कवियों ने रचनाएँ कीं। यहाँ तक कि आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त जैसे राम-भक्त कवियों को जन्म देने का श्रेय भी इसी संप्रदाय को प्राप्त है। स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य के इन उज्ज्वल रत्नों की परख के लिए रामानन्द तथा उनके संप्रदाय की विचारधारा से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति के लिए ही प्रस्तुत अध्ययन की आवश्यकता समझी गई है।

प्रबन्ध को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है और प्रारम्भ में संप्रदाय की धार्मिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए एक भूमिका भी जोड़ दी गई है। भूमिका में वैष्णव धर्म की मूल चिन्ताधारा, आल्वारों की भक्ति-भावना तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत का विशेष अध्ययन किया गया है। समकालीन धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी रामानन्द के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग रहा है, अतः इस भूमिका में उनका भी अध्ययन किया गया है।

प्रथम अध्याय में रामानन्द के जीवन-वृत्त, उनकी रचनाओं तथा उनके संप्रदाय के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली मूल सामग्री की खोज एवं संकलन करने के साथ ही उसकी प्रामाणिकता की भी विस्तृत जाँच की गई है। प्रसंगपारिजात, भक्तमाल तथा उसकी अनेक टीकाएँ, अगस्त्यसंहिता, भविष्यपुराण, वैश्वानरसंहिता, बाल्मीकिसंहिता, रसिकप्रकाश भक्तमाल तथा उनके आधार पर लिखे गए रामानन्दी विद्वानों के अनेक आधुनिक ग्रन्थों की सामग्री का मूल्यांकन इस अध्याय में किया गया है। अध्ययन को पूर्ण बनाने की दृष्टि से काशी, अयोध्या, आबू और जूनागढ़ में प्राप्त सामग्री तथा अनेक जनश्रुतियों का भी संकलन किया गया है।

भक्तमाल, अगस्त्यसंहिता तथा रसिक प्रकाश भक्तमाल के मत को प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में स्वीकार करके अध्ययन की भित्ति खड़ी की गई है।

द्वितीय अध्याय में उपर्युक्त सामग्री के आधार पर रामानन्द स्वामी के जीवन वृत्त का निर्माण किया गया है और इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों की सम्यक् आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में अगस्त्यसहिंता के मत को ही अधिक प्रामाणिक समझा गया है।

तृतीय अध्याय में स्वामीजी के नाम पर प्रचलित समस्त ग्रन्थों का संकलन एवं उनकी प्रामाणिकता की जाँच की गई है। लेखक ने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन पद्धति' को ही उनकी प्रामाणिक रचना के रूप में स्वीकार किया है। 'आनन्दभाष्य' को अनेक कारणों से स्वामी जी की रचना के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सका, किन्तु उसे सम्प्रदाय का प्रामाणिक भाष्य मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन में 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' के साथ ही 'आनन्दभाष्य' की विचारधारा का भी उपयोग किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में रामानन्द सम्प्रदाय की उत्पत्ति एवं विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। रामानुज संप्रदाय और रामानन्द, रामानन्द और कबीर, रैदास, पीपा, धना, सेन आदि के सम्बन्धों की पूरी जाँच इसी अध्याय में की गई है। आगे चल कर अनन्तानन्द और उनकी शिष्य-परम्परा तथा सम्प्रदाय की ६३ द्वारागादियों का पूरा विवरण भी दे दिया गया है। रामानन्द सम्प्रदाय पर नाथपंथी, योग और कृष्ण-भक्ति के शृंगार का भी आगे चल-कर प्रभाव पड़ा है, अतः इस प्रभाव का भी मूल्यांकन इसी अध्याय में किया गया है। उपद्रवी गोसाइयों तथा विदेशियों के अत्याचारों से वैष्णव धर्म क्या, हिन्दू मात्र को सुरक्षित रखने के लिए इस सम्प्रदाय में सात अखाड़ों की स्थापना की गई थी। अध्ययन को पूर्ण बनाने की दृष्टि से इनका संक्षिप्त परिचय भी इस अध्याय में मिल जाएगा। अन्त में इसी अध्याय में रामानन्द सम्प्रदाय से सम्बद्ध पंथों—कबीर पंथ, सेनपन्थ एवं रैदास पन्थ का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

पंचम अध्याय में रामानन्द तथा उनके संप्रदाय के दार्शनिक मतों एवं सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, श्रीरामार्चनपद्धति, आनन्द-भाष्य तथा 'त्रिरत्नी' के मतों का विस्तृत एवं पूर्ण विवेचन किया गया है। सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैत ही मान्य है और साकार एवं सगुण राम को ही परमाराध्य माना जाता है। जीव को उनका शेष माना गया है और प्रकृति को स्वतन्त्र व्यापार-हीन। स्वामीजी का विश्वास सायुज्य मुक्ति में ही है और वे 'साकेत' को ही श्रीराम के मुख्य लोक के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्चिरादि मार्ग की ओर भी उन्होंने संकेत किए हैं।

षष्ठ अध्याय में सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धित का विवेचन किया गया है। संप्रदाय में प्रपत्ति और न्यास पर पर्याप्त बल दिया गया है और नवधा भक्ति में पूर्ण आस्था व्यक्त की गई है। यद्यपि सम्प्रदाय की मुख्य भक्ति प्रणाली दास्य भाव की ही है, फिर भी माधुर्य, सख्य, वात्सल्य आदि भक्ति-प्रणालियों के उपासकों की कमी नहीं रही। क्रिया-कलापादि पर कम बल दिया गया है। नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र, श्रीमद्भागवत आदि के मतों का इस सम्प्रदाय में पूरा समादर किया गया है।

सप्तम अध्याय में रामानन्द संप्रदाय के पूजा-सिद्धान्त तथा उसमें कर्मकांड के महत्त्व और स्थान का विवेचन किया गया है। सम्प्रदाय के माधुर्य एवं सख्य भाव के उपासकों में प्रचलित अष्टयामीय उपासना-पद्धित पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अध्याय के अन्त में 'आनन्द-भाष्य' का भी मत दे दिया गया है।

अष्टम अध्याय में रामानन्दी दार्शनिक सिद्धान्तों के हिन्दी कवियों पर पड़े प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इस संबंध में तुलसीदास, कबीर और मैथिलीशरण गुप्त को विशेष रूप से लिया गया है। तुलसीदास रामानन्द सम्प्रदाय से विशेष रूप से संबद्ध नहीं जान पड़ते, फिर भी उनकी दार्शनिक विचार धारा पर रामानन्दजी का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। राम, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में उनकी धारणा रामानन्दी अधिक है। यह अवश्य है कि एक प्रतिभाशील कवि होने के कारण उन्होंने अपने युग की विभिन्न दार्शनिक चिन्ता धाराओं में समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की है। कबीरदास श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर से विशेष रूप से प्रभावित हैं। किन्तु अवतारी राम में उनकी कोई आस्था नहीं थी। न तो सायुज्य मुक्ति में ही उनकी कोई आस्था थी और न साकेत लोक में ही। गुप्त जी की आस्था दाशरथि राम में ही है। सीता को उन्होंने पुरुषकारभूता माना है। सायुज्य मुक्ति में भी उनका पूरा विश्वास है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन एवं लेखक के निष्कर्षों के लिए मूल ग्रन्थ का ही अध्ययन आवश्यक होगा। इस अध्याय में रामानन्दी कवियों के मतों की ओर संकेत मात्र किया गया है। अनेक कारणों से उनके विचारों की विस्तृत व्याख्या संभव न हो सकी।

नवम अध्याय में हिन्दी कवियों पर रामानन्दी भक्ति-पद्धति के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। यहाँ भी तुलसी, कबीर और मैथिलीशरण गुप्त का ही विशेष अध्ययन हो सका है, अन्य कवियों का नहीं। पंच संस्कारों में इन कवियों की कोई आस्था नहीं दिखलाई पड़ती। किन्तु जहाँ तक भक्ति के अन्य आवश्यक अंगों का प्रश्न है, ये कवि रामानन्द सम्प्रदाय से विशेष प्रभावित हैं। नवधा भक्ति, प्रपत्ति और न्यास में इन कवियों ने अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है। किन्तु महाव्रतों में इनका विश्वास नहीं प्रतीत होता। दास्य भाव की भक्ति में ही इन कवियों की आस्था थी। केवल कबीर ने माधुर्य भाव की ओर भी कुछ झुकाव व्यक्त किया है। संभवतः इन कवियों ने रामानन्दी भक्ति-पद्धति से प्रभाव ग्रहण करने के साथ युग की समस्याओं को भी अपने दृष्टि पथ में रखा है। इसी कारण ये शत प्रति शत रामानन्दी नहीं हो सके हैं। संप्रदाय के अन्य कवियों पर माधुर्य भाव की भक्ति-पद्धति का अधिक प्रभाव पड़ा है।

दशम अध्याय में मध्ययुग की प्रगतिशील चिन्ता धारा में रामानन्द के योग का मूल्यांकन किया गया है। रामानन्द के लिए तत्त्ववाद उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना भक्ति मार्ग। हिन्दी कवियों पर उनकी भक्ति-पद्धति का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

परिशिष्ट भाग में सम्प्रदायिक ग्रन्थों, रामानन्दी कवियों की रचनाओं तथा सहायक ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी गई है। अंत में सम्प्रदाय के केन्द्रों का निर्देश करने वाला एक मानचित्र भी दिया गया है।

शोध प्रकाशन

ब्रजभाषा

प्राचीन आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा वर्त्तमान हिन्दी प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में स्थित ब्रज-क्षेत्र भाषा और संस्कृति की दृष्टि से हमारे देश का अत्यंत महत्त्वपूर्ण भू-भाग रहा है। इसका प्रभाव संपूर्ण मध्यदेश में ही नहीं उसके बाहर भी पहुँचा और उसने भारतीय संस्कृति के निर्माण में अन्यतम योग दिया है। प्राचीनतम वैदिक संस्कृति ने अपना यज्ञ-परक प्रारंभिक रूप पश्चिमी मध्यदेश में ही विकसित किया था तथा पूर्वी मध्यदेश से प्रसार पाने वाली बौद्ध संस्कृति के प्रमुख केन्द्रों में मथुरा भी एक गण्य-मान्य नगर था। ब्रज क्षेत्र जो प्राचीन काल में शूरसेन जनपद के नाम से विख्यात था मनुस्मृति के 'ब्रह्मर्षि देश' का वह भाग था जिसने इस 'देश' के शेष अन्य जनपदों—कुरु, पंचाल और मत्स्य की भाषा और संस्कृति को बहुत-कुछ आत्मसात् कर लिया था। इन सभी जनपदों की बोलियाँ शौरसेनी से ही विकसित कही गई हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में शौरसेनी ही स्टैंडर्ड साहित्यिक भाषा थी। मगध केन्द्रस्थ बौद्ध धर्म की भाषा पाली का भी संबध इसी पश्चिमी प्रदेश से था। आधुनिक भारतीय आर्य भाषा काल में तो ब्रज क्षेत्र की महत्ता सर्व विदित है ही। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से जिस कृष्ण भक्ति आंदोलन ने बंगाल से गुजरात तक समस्त उत्तर भारत के जन-जीवन को नवीन चेतना से अनुप्राणित किया उसका प्रधान केन्द्र ब्रज ही था। कृष्ण भक्ति की प्रेरणा से उन्मुक्त हो कर उस युग की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अभूतपूर्व रूप में व्यक्त हुई थीं। वह ब्रजभाषा का ही काव्य था जिसने समस्त उत्तर भारत के लिए काव्य के मान और मूल्य स्थापित किए थे तथा जीवन को एक नवीन दिशा दिखलाई थी। ब्रज क्षेत्र की भाषा संपूर्ण हिन्दी प्रदेश की तो स्टैंडर्ड साहित्यिक भाषा हो ही गई, हिन्दी प्रदेश के बाहर गुजरात और बंगाल को भी उसने प्रभावित किया। अतः ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन एक विशेष महत्त्व रखता है।

प्रो० धीरेन्द्र वर्मा ने इस महत्त्व की पृष्ठ भूमि के साथ ही ब्रजभाषा[१] का अध्ययन किया है। उनके ग्रन्थ के प्रथम दो अध्यायों में मध्यदेश में ब्रज प्रदेश की स्थिति तथा ब्रजवासी जनता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की विवेचना की गई है। जाने-माने तथ्यों के आधार पर विद्वान् लेखक ने जो निष्कर्ष निकाले हैं तथा उन तथ्यों के

१—प्रो० धीरेन्द्र वर्मा के पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० के लिए स्वीकृत 'ला लांग ब्रज' शीर्षक मूलफ्रेंच में प्रकाशित शोध प्रबंध का हिन्दी अनुवाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित १९५४ ई०।

बीच-बीच जो स्वयं अपने अनुसंधान से उपलब्ध विवरण दिए हैं, वे एक साथ ही उनकी विचार-पद्धति की मौलिकता, स्पष्टता और तार्किकता तथा अन्वेषण-दृष्टि की सूक्ष्मता एवं सार-ग्राहिणी शक्ति का परिचय देते हैं। ब्रज क्षेत्र के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का विवेचन करते हुए प्रो० वर्मा कहते हैं : 'अधिक से अधिक यात्रा का स्थान दस दिनों की दूरी वाला हो सकता था। यह यात्रा पैदल, बैलगाड़ी या नाव से होती थी, फलस्वरूप अधिकांश मेले लगभग १०० मील की परिधि के लोगों को खींच लेते रहे हैं।' वे आगे कहते हैं : 'मध्यदेश के जनपदों में लगभग १०० मील के अर्द्धव्यास को लेकर अथवा २०० मील की दूरी पर एक बड़ा नगर रहा है जिसे पुर कहते थे।' (पृ० ८) इसी प्रकार के अन्य तथ्यों को देते हुए वे मध्यदेश में पाए जाने वाले इतने अधिक बोली-भेदों का कारण स्पष्ट करते हैं। इस बोली-भेद के संबंध में उन्होंने अपने इस विचार को भी दुहराया है कि प्रत्येक बोली किसी न किसी जनपद से संबंधित है और प्राचीन काल से उसका इसी प्रकार का कोई पृथक् रूप रहता चला आया है।

कन्नौजी को प्रो० वर्मा ब्रज से भिन्न बोली नहीं मानते। ब्रजक्षेत्र की बोली ने किन राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से पंचाल जनपद की बोली को आत्मसात् कर लिया इसका विवरण देते हुए वे कहते हैं : 'निकटवर्ती संपूर्ण पूर्वी क्षेत्र मथुरा-वृंदावन के कृष्ण संप्रदायों के प्रभाव के अंतर्गत आ गया था। वर्ष में एक बार लोग बड़ी संख्या में कृष्ण-भक्ति से संबद्ध इन स्थानों को जाते थे तथा इनसे पद साहित्य लेकर घर लौटते थे जिसका प्रभाव वर्ष भर रहता था।.....बारहवीं शताब्दी के अंत में मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा कन्नौज नगर के नष्ट हो जाने के उपरांत विदेशी शासनों के पूर्वी क्षेत्र में किसी नगर का न रह जाना ही कदाचित् ब्रज क्षेत्र के प्रभाव का पूर्व की ओर फैलने का मुख्य राजनीतिक कारण था। यातायात की सुविधा के कारण यह क्षेत्र सीधे दिल्ली अथवा आगरा से नियंत्रित हो सकता था, इसलिए विदेशी शासकों ने इस स्थान पर दूसरा राजनीतिक केन्द्र बनाना प्रारंभ में आवश्यक नहीं समझा। कन्नौज का मुसलिम संस्करण फ़र्रुख़ाबाद प्रसिद्धि नहीं पा सका। अवध के नियंत्रण के लिए उनके केन्द्र कुछ पूर्व की ओर हटे हुए फ़ैज़ाबाद अथवा लखनऊ थे तथा अवध के दक्षिणी भाग के लिए इस प्रकार के नगर फ़तेहपुर, कड़ा तथा हलाहाबाद थे। किंतु इन कारणों के रहते हुए भी केवल दूरी के कारण ब्रज का पूर्वी क्षेत्र कुछ निजी विशेषताएँ बनाए रहा। इनमें से कुछ भाषागत विशेषताएँ साहित्यिक ब्रजभाषा की अंग स्वरूप हो गई थीं।.....दिल्ली से शाही राजधानी को उठाकर आगरा ले जाने से चारों ओर के लोगों का ध्यान ब्रज प्रदेश की ओर आकृष्ट होने में सहायता मिली थी।' (पृ० १०-११)

ब्रजभाषा का प्रभाव क्षेत्र उत्तर में पहाड़ी तराई, पश्चिम में राजस्थान तथा दक्षिण में बुंदेलखंड तक पाया जाता है। इस भाषागत एकता या समानता के साथ इन क्षेत्रों में रहन-सहन, रीति-रिवाज और पहनने-ओढ़ने की समानता भी पाई जाती है। प्रो० वर्मा लिखते हैं कि 'ब्रज प्रदेश का कमर के नीचे का पहनावा लहँगा अथवा घाघरा है' जो 'उत्तरी पहाड़ी प्रदेश तथा राजस्थान और बुंदेलखंड में भी प्रचलित है। अवध से धोती अथवा साड़ी का चलन प्रारंभ होता है जो पहनने के ढंग में कुछ रूपांतरों के साथ पूर्व में बंगाल तक प्रचलित है। भोजन में पंजाब की भाँति ब्रज क्षेत्र में गेहूँ और राजस्थान के समान

बाजरे की प्रधानता है। अवध में तथा पूर्व में चावल की बहुलता है। अवध का स्थानीय वृक्ष महुआ ब्रज में पाया ही नहीं जाता।' (पृ० १२)

ब्रजभाषा के प्रभाव विस्तार के कारणों का संकेत करते हुए प्रो० वर्मा ने कहा है : 'मथुरा तीर्थ यात्रा का अखिल भारतवर्षीय स्थान है। वृंदावन मुख्य रूप से राधावल्लभीय संप्रदाय का केन्द्र है तथा राधा-कृष्ण प्रेमी बंगालियों का भी प्रिय स्थान है। गोकुल गुजराती यात्रियों का विशेष तीर्थ स्थान है ... ...विट्ठलनाथ के समय से ही गोकुल के मंदिर का कार्य भार गुजराती ब्राह्मणों के हाथ में रहा है। गुजरातियों का गोकुल के प्रति आकर्षण इस कारण भी कदाचित् बना हुआ है। पुष्टि-मार्ग से संबद्ध बाल कृष्ण की पूजा तथा अनेक आकर्षक उत्सव और भोग आदि ऐसी बातें हैं जो इस संप्रदाय के प्रति स्त्रियों तथा धनी वर्ग को विशेष आकर्षित करती हैं। पर्दा प्रथा से स्वतन्त्र गुजराती स्त्रियों तथा गुजरात के धनी व्यापारियों के इस ओर आकर्षण का कारण संप्रदाय का यह विशेष मनोरम पक्ष भी है। (पृ० १५-१६) इसी प्रकार सोरों अथवा सूकर क्षेत्र 'राजस्थान की हिंदू जनता का प्रिय स्थान है। समस्त पश्चिमी तथा दक्षिणी ब्रज प्रदेश को पार कर के बहुत बड़ी संख्या में राजस्थानी जनता यहाँ आती है और इस प्रकार अपने मूल देश के संबंध को बनाए हुए है।' (पृ० १६)

प्रथम अध्याय में भी जहाँ मध्यदेश तथा उसके अंतर्गत ब्रज क्षेत्र के सांस्कृतिक प्रभाव-विस्तार के भौगोलिक कारणों का सूक्ष्म अवलोकन किया गया है प्रो० वर्मा ने लिखा है : 'राजस्थान में अरावली के उस पार दक्षिण पश्चिम में मारवाड़ के रेगिस्तान में तथा कुछ अंशों में गुजरात तक गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रवेश दिखलाई पड़ता है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि भौगोलिक दृष्टि से विंध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसीलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश सा रहा है।' (पृ० ३) ब्रज क्षेत्र का लगाव काशी-कोसल से कहीं अधिक राजस्थान तथा बुंदेलखंड से है क्योंकि इस क्षेत्र का दक्षिणी-पश्चिमी भाग विंध्य-भूमि का एक अंश है जो मध्यभारत तथा राजस्थान तक फैला हुआ है। मथुरा और वृंदावन इसके अधिक निकट हैं।

मध्यदेश या वर्तमान हिंदी प्रदेश की बोली-विविधता के होते हुए भी उसकी सांस्कृतिक एकता का प्रो० वर्मा निरंतर जोरदार प्रतिपादन करते रहे हैं। इस ग्रंथ में भी उन्होंने अपना यह विचार उपस्थित किया है। वे कहते हैं : 'सरहिंद में स्थित अंबाला से लेकर बिहार में भागलपुर तक की दूरी लगभग ७५० मील है। एक ओर इस दूरी के कारण इस विस्तृत क्षेत्र में हमें विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयां मिलती हैं। किंतु साथ ही इस क्षेत्र की विशिष्ट प्राकृतिक रचना के कारण यातायात में सुविधा होने के फलस्वरूप ये इकाइयां कहीं भी एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं होने पाई हैं। बनारस के बाद एक हल्की विभाजक रेखा मानी जा सकती है, जहाँ से मैदान का सँकरापन प्रारंभ होता है, यद्यपि यह स्थान उतना अधिक सँकरा नहीं है जितना कि भागलपुर के पूर्व का स्थान है।... ...वास्तव में भागलपुर तक गंगा के मैदान में किसी भी प्रकार का विभाजन एक प्रकार से स्वेच्छित ही कहा जाएगा।... ...

हिंदी प्रदेश के पृथक् अस्तित्व का यही प्रधान कारण रहा है।.....गंगा के मैदान की संस्कृति का यह प्रवाह पूर्व की ओर बढ़ता है इसका मुख्य कारण गंगा और उसकी सहायक अन्य कई स्थायी नाव चलाने योग्य नदियों का होना है जो उसी दिशा की ओर बहती हैं।'

(पृ० ३-४)

उपर्युक्त उद्धरणों से ब्रजभाषा के अध्ययन में प्रो० वर्मा का दृष्टिकोण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। भाषागत सूक्ष्म भेद-प्रभेद की उन्होंने कहीं उपेक्षा नहीं की, बल्कि चौथे अध्याय में 'आधुनिक ब्रजभाषा' के विस्तार और सीमाओं का निर्देश करते हुए वे ब्रजभाषा के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भौगोलिक उपरूपों की परीक्षा के साथ धर्मगत, जातिगत तथा वर्गगत भेदों का भी सोदाहरण उल्लेख करते हैं तथा गाँव, कस्बा और नगर के बोली भेदों की ओर भी ध्यान दिलाते हैं। फिर भी वे गौण भिन्नताओं और विविधताओं से अधिक ध्वनि और व्याकरण संबंधी प्रमुख समानताओं और एकताओं की ओर अधिक ध्यान देते हैं। कन्नौजी को वे 'निश्चित रूप से ब्रजभाषा के अंतर्गत' रखते हैं क्योंकि उसकी कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो स्वयं ग्रियर्सन के अनुसार, जिन्होंने उसे ब्रजभाषा का ही एक रूप मानते हुए भी जनमत के कारण उस पर अलग विचार किया है, ब्रज क्षेत्र में न पाई जाती हो। प्रो० वर्मा ने ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित कनौजी की विशेषताओं की परीक्षा करके उदाहरण पूर्वक दिखा दिया है कि वे सब की सब ग्रियर्सन के अनुसार भी ब्रज क्षेत्र में पाई जाती हैं। (पृ० ३४)

इसी प्रकार प्रो० वर्मा 'वास्तव में बुंदेली को हिन्दी की एक अलग स्वतन्त्र बोली न मान कर ब्रज की दक्षिणी उपबोली' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं और अपने इस विचार की पुष्टि उन्होंने उपसंहार में यह दिखा कर की है कि ब्रज और बुंदेली में शब्द रचना की अपेक्षा उच्चारण में ही अधिक अन्तर है। 'ब्रज में पाए जाने वाले व्याकरण संबन्धी लगभग समस्त मुख्य रूप स्थान स्थान पर ध्वनि संबन्धी थोड़े रूपांतरों सहित बुंदेली में भी पाए जाते हैं।' (पृष्ठ १२६) किन्तु 'ब्रजभाषा' में बुंदेलखण्ड और बुंदेली को ब्रजभाषा और ब्रजक्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया गया है।

ब्रजभाषा के अध्ययन का काल विस्तार भी चार सौ वर्ष का है। इस अध्ययन में मध्यकालीन साहित्यिक ब्रजभाषा के साथ आधुनिक ब्रजभाषा को भी सम्मिलित किया गया है। साहित्यिक ब्रजभाषा के अध्ययन का आधार १६ प्रतिनिधि कवि और लेखक हैं, जिनमें ७ सोलहवीं शताब्दी के, ६ सत्रहवीं शताब्दी के और ६ अठारहवीं शताब्दी के हैं। इनकी सूची सूरदास से प्रारम्भ होकर लल्लूलाल तक पहुँचती है तथा उसे बनाने में कवियों और लेखको के साहित्यिक महत्त्व के साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि वे प्रत्येक शताब्दी के काल-विस्तार में तथा ब्रज-क्षेत्र के भौगोलिक विस्तार में फैले हुए हों। विभिन्न सम्प्रदायों और साहित्यिक धाराओं के प्रतिनिधित्व तथा साहित्यिक शुद्धता को भी उचित महत्त्व दिया गया है। 'ब्रजभाषा' के तीसरे अध्याय में इसी साहित्यिक ब्रजभाषा की विवेचना की गई है। चौथे अध्याय में 'आधुनिक ब्रजभाषा' के विस्तार का उसकी सूक्ष्म विविधताओं के साथ परिचय दिया गया है और इसमें विद्वान् लेखक ने उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूं, बरेली, पीलीभीत, शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर

के जिले, पंजाब के गुड़गाँव ज़िले की पूर्वी पट्टी, राजस्थान के भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर के पूर्वी भाग तथा मध्यभारत के ग्वालियर ज़िले के पूर्वी भाग में प्रयुक्त बोली को सम्मिलित किया है। आगामी अध्यायों का विवेचन इन्हीं दो अध्यायों की सामग्री पर आधारित है।

ब्रजभाषा का विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक अध्ययन ध्वनि समूह, संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, क्रिया, अव्यय और वाक्य शीर्षक सात अध्यायों में विभक्त है। ध्वनियों के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे यथावश्यक ध्वनि प्रयोगशाला में की गई परीक्षा पर आधारित हैं। भाषा के व्याकरणगत अध्ययन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि जिन उदाहरणों को प्रयुक्त किया गया है उनके आगे कोष्ठक में अनिवार्य रूप से निर्देश कर दिया गया है कि वे अमुक स्थान या स्थानों पर प्रयुक्त होते हैं या अमुक कवि या लेखक की कृति में पाए गए हैं। यह अध्ययन मुख्यतया विश्लेषण-व्याख्या मूलक है, किन्तु स्थान-स्थान पर ब्रज-भाषा की ध्वनियों और उसके प्रयोगों की तुलना हिन्दी प्रदेश की अन्य बोलियों तथा हिन्दीतर आधुनिक आर्यभाषाओं के साथ भी की गई है। साहित्यिक और आधुनिक ब्रज, तथा विभिन्न क्षेत्रों की ब्रज का तुलनात्मक अध्ययन तो इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है। उपसंहार में विद्वान् लेखक ने इस तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें से मुख्य ये हैं : (१) गत चार शताब्दियों से ब्रजभाषा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं आया है। आधुनिक ब्रज में कुछ थोड़ी सी ही व्याकरणगत परिवर्त्तन की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। उच्चारण सम्बन्धी परिवर्त्तन के लक्षण अपेक्षाकृत अधिक हैं। (२) साहित्यिक ब्रजभाषा में धीरे धीरे पूर्वी बोली—अवधी के शब्द और प्रयोग ग्रहण किए जाने लगे और एक विशुद्ध साहित्यिक ब्रज की शैली विकसित हो गई। (३) अन्य पड़ोस की बोलियों से ब्रजभाषा की पृथक् सत्ता का आधार कई ऐसी विशेषताओं का सम्मिश्रण है जो ब्रज के अतिरिक्त उन अन्य बोलियों में भी अलग अलग पाई जाती हैं। (४) समानता की दृष्टि से ब्रजभाषा की निकटतम भाषा राजस्थानी है। गुजराती और पहाड़ी बोलियों से भी इसमें कुछ समानता मिलती है। कदाचित् पहाड़ी, राजस्थानी और गुजराती भाषाओं की उत्पत्ति ही ब्रज क्षेत्र की बोली के उत्तर तथा दक्षिण पश्चिम की ओर फैलने से हुई है। (५) यद्यपि खड़ी बोली हिन्दी का प्रभाव आधुनिक ब्रज पर अधिकाधिक पड़ता जा रहा है, परन्तु ऐसा संभव नहीं है कि कभी भी ब्रजभाषा का अस्तित्व खड़ी बोली हिन्दी में विलीन हो जाए। (६) बुन्देली वास्तव में ब्रज की ही एक दक्षिणी उपबोली है। (७) खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी हिन्दी भाषा परिवार की मुख्य अंग हैं। खड़ीबोली और अवधी से घिरे रहने के कारण ब्रजभाषा उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी प्रभावों से सुरक्षित रही है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि ब्रजभाषा इन बोलियों की प्रबलता के कारण पूर्व और उत्तर-पश्चिम की ओर अधिक नहीं बढ़ सकी। (८) ब्रजभाषा मध्यदेश की केन्द्रीय भाषा है जो उत्तर-पश्चिम और पूर्व की ओर से दबाए जाने के कारण उत्तर तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर फैल गई है।

'ब्रजभाषा' केवल १६२ पृष्ठों का एक ऐसा शोध ग्रन्थ है जिसमें शोध प्रबन्ध की वैज्ञानिक पद्धति और संक्षेप शैली आदर्श रूप में पाई जाती है। हिन्दी में अनेक ऐसे शोध प्रबन्ध हैं, और इनमें बोलियों के अध्ययन भी हैं, जिनमें पूर्व लेखकों और अनुसंधाताओं द्वारा विवृत सामग्री को सम्मिलित करके अनावश्यक रूप से आकार की वृद्धि की गई है। इसके विपरीत

प्रो० वर्मा ने अपने प्रबन्ध में केवल उस सामग्री को प्रस्तुत किया है जो उन्होंने स्वयं अपने अनुसंधान द्वारा मौलिक रूप में अर्जित की है। इसी विचार से उन्होंने ब्रजभाषा के रूपों से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री जान बूझ कर नहीं दी है, क्योंकि उनके विचार से इसमें अब मौलिकता के लिए अधिक स्थान नहीं रह गया है।

ग्रन्थ के अन्तिम दो अंश—(१) विस्तृत ब्रज प्रदेश के १८ विभिन्न स्थानों से संकलित २८ अवतरण तथा (२) पुस्तक में आए हुए समस्त ब्रजभाषा शब्दों की अनुक्रमणी—'ब्रजभाषा' के महत्त्व और मूल्य को बहुत बढ़ा देते हैं। ये अंश मूल फ्रेंच प्रबन्ध में नहीं दिए गए थे।

हिन्दी के विद्वान्, विद्यार्थी और पाठक 'ब्रजभाषा' के हिन्दी में प्रकाशित हो जाने से निश्चय ही लाभान्वित होंगे और हमें विश्वास है कि इस ग्रंथ से हिन्दी की अन्य बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए विद्यार्थियों को प्रेरणा मिलेगी। यही नहीं, स्वयं 'ब्रजभाषा' के द्वारा ऐसे विषयों का संकेत मिलता है जो अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रज के अनेक 'उपरूपों' विशेष रूप से कन्नौजी और बुंदेली का पृथक्-पृथक् अध्ययन आवश्यक है। ब्रज तथा अन्य बोलियों पर खड़ीबोली हिन्दी के प्रभावों का अध्ययन भी रोचक और लाभदायक हो सकता है। विभिन्न बोलियों के मिश्रण और आदान-प्रदान भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से सहायक हो सकते हैं। साहित्यिक ब्रजभाषा के जिन लेखकों और कवियों तथा आधुनिक ब्रजभाषा के जिन क्षेत्रों की भाषा को 'ब्रजभाषा' के अध्ययन में प्रयुक्त किया गया है उनमें से अनेक ऐसे हैं जिनका पृथक्-पृथक् एकात्मक अध्ययन संभव है।

'ब्रजभाषा' को हिन्दी में प्रकाशित करा कर प्रोफ़ेसर धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी जगत् को उपकृत किया है वे इस स्थायी मूल्य की कृति के लिए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

ब्रजेश्वर वर्मा

संपादकीय

१

स्वराज्य प्राप्ति के प्रारंभिक दिनों में जब सरकार तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त थी, प्रायः यह आलोचना सुनने में आती थी कि वह साहित्य और संस्कृति की ओर से उदासीन है, उसे जीवन के इस अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर भी उचित ध्यान देना चाहिए। इधर कुछ दिनों से सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान देना आरंभ किया है और सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास की ओर उसकी प्रगति अधिकाधिक व्यापक होती जाती है। उपाधि, पद, पुरस्कार, नौकरी, अनुदान, संरक्षण और सहायता आदि का उदारतापूर्वक वितरण करके वह साहित्य, कला, बुद्धि और मनीषा को देश के पुनर्निमाण में नियोजित करने में विशेष तत्पर दिखाई देती है। शताब्दियों से जर्जरित देश को उसकी मर्यादा के अनुकूल समुन्नत देशों की पंक्ति में बिठाने के लिए जिस सम्मिलित उद्योग की आवश्यकता है उसे देखते हुए सरकार की यह तत्परता सर्वथा स्तुत्य है। देश के जन-मानस को उद्बुद्ध और संवेदित किए बिना देश के आर्थिक विकास में भी अपेक्षित सक्रियता नहीं लाई जा सकती, हमें तो समाज के सांस्कृतिक विकास की भी चिंता है।

परन्तु सरकार के इन प्रयत्नों की स्तुति के साथ-साथ शंका, संदेह और आलोचना के स्वर भी सुनाई दे रहे हैं। प्रश्न होता है कि उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण के साथ क्या सरकार साहित्य, कला और विद्वत्ता का भी राजकीयकरण करना चाहती है और क्या इससे साहित्य और कला की वास्तविक उन्नति और उसके परिणाम स्वरूप संस्कृति का विकास संभव है? कम से कम यह बात तो स्पष्ट है कि देश की बढ़ती हुई अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की आकांक्षाओं एवं उद्योगों के प्रति सर्वसाधारण के मन में जो उमंग और उत्साह होना चाहिए उसका बहुत बड़ा अभाव है। कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि सरकार द्वारा साहित्य और कला को प्रश्रय और संरक्षण मिलने से उस अभाव की पूर्ति हो सकेगी। किंतु यदि यह संभव भी हो, तब भी, देश के भविष्य के लिए क्या यह श्रेयस्कर है? वास्तव में लोकतंत्र की स्वस्थ परम्परा की स्थापना में इसे एक बाधा कहा जा सकता है। हमारे राजनीतिक नेताओं को इस संबंध में अधिक गंभीर विचार करके भविष्य के लिए राज्य नियंत्रण की सीमाओं को निर्धारित करने की आवश्यकता है। सौभाग्य से इस समय हमारे शासक विचारों और आदर्शों के नेता भी हैं। किंतु हमारा यही सौभाग्य सबसे बड़ा दुर्भाग्य हो सकता है और भविष्य में राजन्य वर्ग अपनी सर्वग्राहिणी नीति से देश की आत्मा को कंठित कर सकता है।

इस संबंध में साहित्यकारों और विचारकों का दायित्व भी कम नहीं है। हम मानते हैं कि जीवित रहने का प्राथमिक अधिकार उन्हें भी है। परन्तु शरीर से जीवित रहना मात्र 'उनका' जीना नहीं है। उनका वास्तविक जीना तो उस अधिकार की रक्षा करने में है जो समस्त नागरिक अधिकारों का मूल स्रोत है। देश के पुनर्निर्माण का दिशा-निर्देश उन्हीं को करना है तथा उस निर्माण के प्रति देश की प्रसुप्त आत्मा को जगाने का दायित्व भी उन्हीं पर है। जब तक वे ऊँचे उठ कर इस महान् कर्तव्य और दायित्व को नहीं संभालते तब तक उनका राजनीति के पीछे पीछे चलते रहना आवश्यंभावी है, चाहे वे तत्कालीन सरकार की रीति-नीति का समर्थन और प्रचार करने में लगें अथवा उसका विरोध करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करें।

२

किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास में भाषा अनिवार्य एवं सबसे अधिक प्रबल साधन है। परन्तु हमारे देश ने अंग्रेजी शासन से राजनीतिक मुक्ति तो प्राप्त कर ली, उसकी भाषाएँ आज भी अंग्रेज़ी से आक्रांत हैं। कभी उसे देश की ही एक पन्द्रहवीं भाषा कह कर अपनाने की अपील की जाती है, कभी उसके अंतरराष्ट्रीय महत्त्व की याद दिला कर यह संकेत किया जाता है कि वही विश्व के भावी एकीकरण का माध्यम बन सकती है और कभी यह भय दिखाया जाता है कि यदि हमने उसे विदेशी मान कर अपनी भाषाओं के सर से उतार दिया तो हम अनाथ हो जाएंगे तथा मध्ययुग के अज्ञानांधकार में विलीन हो जाएंगे। अभी हाल में ही देश के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन ने यह निश्चय कर लिया कि अंग्रेजी को माध्यमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा तक अनिवार्य विषय के रूप में तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा के माध्यम रूप में बनाए रखना आवश्यक है, क्यों कि यदि ऐसा न किया गया तो पंचवर्षीय आयोजन के लिए टेक्नि‌कल विषयों के जानकारों की कमी हो जाएगी। कदाचित् पंचवर्षीय आयोजन की सफलता की दृष्टि से ही यह असाधारण निर्णय किया गया है और इस बात की चिंता नहीं की गई है कि राज भाषा आयोग ने वर्ष भर परिश्रम करके जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है उसमें इस संबंध में क्या कहा गया है। संसद के हिन्दी परिषद् ने उक्त निर्णय को प्रतिगामी और संविधान के विरुद्ध कहा है। हमारा विचार है कि इस विषय में जो भी निर्णय किया जाए वह राज भाषा आयोग के प्रतिवेदन पर गंभीरता पूर्वक विचार करने के उपरांत शिक्षा विशारदों के परामर्श से करना चाहिए।

हम अंग्रेज़ी के विरोधी नहीं है और हमारा विचार है कि हमें अभी अनेक वर्षों तक उसके पठन-पाठन को जारी रखना होगा। परन्तु दो बातों को समझ लेना आवश्यक है। एक तो यह कि अंग्रेजी की शिक्षा जिस रूप में अब तक दी जाती रही है उसमें परिवर्त्तन होना चाहिए। उसका अध्ययन-अध्यापन एक विदेशी भाषा की भाँति होना चाहिए। दूसरे, हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के विकास तथा उनमें हर प्रकार के साहित्य की अभिवृद्धि का योजना-बद्ध प्रयत्न होना चाहिए। ये दोनों ही कार्य सरकार के द्वारा तथा उसी के तत्त्वावधान में हो सकते हैं। हम कई बार सुझाव दे चुके हैं कि केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारें इस कार्य को परस्पर सहयोग तथा विश्वविद्यालयों की सहायता से कार्य-विभाजन के आधार पर कर सकती हैं। परन्तु इस दिशा में अब तक कोई ठोस क़दम नहीं उठाया गया है।

प्रयाग विश्वविद्यालय, हिंदी परिषद् के प्रकाशन

तुलसीदास—लेखक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट्० थीसिस का परिवर्द्धित हिन्दी रूपांतर है। तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाली नवीनतम प्रामाणिक सामग्री के लिए यह ग्रंथ उच्च कक्षा के हिन्दी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

सूरदास—लेखक, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रंथ महाकवि सूरदास की जीवनी तथा काव्य का प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन है। लेखक ने सूरदास से संबंध रखने वाली समस्त उपलब्ध सामग्री का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अपने निष्कर्षों को उपस्थित किया है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ८)

यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट्० थीसिस के आधार पर लिखा गया है और उसमें लेखक ने आधुनिक हिंदी साहित्य पर नवीन प्रकाश डाला है। इस विषय का यह एक मात्र अध्ययन है।

आधुनिक हिंदी साहित्य—(१८५०—१९०० ई०)—लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ६) परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की लगभग एक शताब्दी का यह प्रथम विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००—१९२५ ई०)—लेखक, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, द्वितीय संस्करण, मूल्य ६)

हिन्दी साहित्य के विकास का क्रमबद्ध, सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन इस ग्रंथ में हिन्दी पाठकों को प्रथम बार प्राप्त होगा।

राम-कथा—लेखक, रेवरेंड फ़ादर डॉ० कामिल बुल्के, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सेंट ज़ेवियर कॉलेज, राँची, प्रथम संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रन्थ राम-कथा संबंधी सामग्री का विश्वकोष है। हिन्दी क्या किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय साहित्य में इस प्रकार का दूसरा राम-कथा विषयक अध्ययन उपलब्ध नहीं है। राम-साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह ग्रंथ अनिवार्य है।

कवित्त रत्नाकर—मूल लेखक, सेनापति, संपादक, पं० उमाशंकर शुक्ल, मूल्य ३॥)

अर्द्धकथा—मूल लेखक, बनारसीदास जैन, संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, मूल्य १)

सं० १६९८ में लिखी गई यह रचना हिन्दी की पहली आत्मकथा है।

बीसलदेव रास—संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, मूल्य ३॥) यह ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी विक्रमी के राजस्थानी काव्य का वैज्ञानिक रीति से संपादित संस्करण है।

हिंदी साहित्य (१९२६-१९४७ ई०)—लेखक डॉ० भोलानाथ, मूल्य ८)

डॉ० वार्ष्णेय और डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा प्रस्तुत आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के क्रम में डी० फिल, के लिए स्वीकृत यह शोध प्रबंध एक महत्व पूर्ण योग है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रकाशन

नंददास भाग १, २—संपादक, पं० उमाशंकर शुक्ल, मूल्य ६)

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज—(१८००-१८५४) लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ६)।

भारतीय हिन्दी परिषद् के कोष

अँग्रेज़ी-हिन्दी वैज्ञानिक कोष—प्रधान सम्पादक—डॉ० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०। यह खंडशः प्रकाशित हो रहा है। १२५ पृष्ठों के प्रथम दो खंडों का मूल्य ६।), और सम्पूर्ण कोष का ग्राहक बनने के लिए मूल्य १२)। **भौतिक विज्ञान कोष**—मूल्य २=)